श्रीपरमात्मने नमः　　　　　　　　श्रीभगवदात्मने नमः

श्रीपरमपारणामिकभावाय नमः

श्री

भेद ज्ञान

(द्वितीय संवर्द्धित संस्करण)

लेखक व प्रकाशक

ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई

जागनाथ प्लॉट, प्रभास कुटीर

राजकोट (सौराष्ट्र)

चाकसू का चौक, जयपुर (राजस्थान)

द्वितीयावृत्ति २०००　　　　　　　　मूल्य दो रुपया

श्रुत पंचमी वीर संवत् २४८१ विक्रम संवत् २०१२

गुरुवार, तारीख २६ मई, सन् १९५५ ई०

दो शब्द

भेद ज्ञान की रचना वीर निर्वाण सम्वत् २४७८ में हुई थी। समाज ने इसे बहुत ही प्रेम से अपनाया। प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो जाने पर यह द्वितीयावृत्ति खास सुधारों के साथ समाज के समक्ष रखी जाती है। आशा है कि समाज इससे लाभ उठाकर अपना कल्याण अवश्य करेगा। स्वाध्यायप्रेमियों की संतुष्टि के लिए इस संस्करण में अनेक विषयों का खुलासा किया गया है। श्री धवल ग्रन्थ में उठाए गये कुछ प्रश्नों का विस्तार से विवेचन भी किया है। साधारण जनता जो धवल ग्रन्थ का स्वाध्याय नहीं कर सकती है, इस पुस्तक से सहज ही में ग्रन्थराज के अनेक ज्ञातव्य विषयों का ज्ञानोपार्जन कर सकती है।

आ. शु. चि.

—ब्र० मूलशंकर देशाई

विषय	पृष्ठ संख्या

सूचना – जहां (ध. ५. १८१) ऐसा लिखा है उसका यह अर्थ करना कि ध=धवलग्रन्थ. ५=पुस्तक नम्बर पांच. १८१=पृष्ठ नंबर १८१.
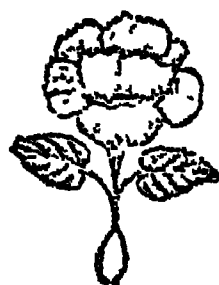
श्री परमात्मने नमः

श्री परम पारिणामिकभावाय नमः

श्री

★ भेद ज्ञान ★

मङ्गलाचरणम् ।

अभिवंद्य शिरसा अपुनर्भवकारणं महावीरं ।
तेषां पदार्थभङ्गं मार्गं मोक्षस्य वक्ष्यामि ॥

अन्वयार्थ—(अपुनर्भवकारणं) मोक्ष के कारण भूत (महावीरं) वर्द्धमान तीर्थंकर भगवान को (शिरसा) मस्तक द्वारा (अभिवंद्य) नमस्कार करके (मोक्षस्य मार्गं) मोक्ष के मार्ग अर्थात् कारण स्वरूप (तेषां) उन षड्द्रव्यों के (पदार्थ भङ्गं) नव पदार्थरूप भेद को (वक्ष्यामि) कहूँगा।

वर्तमान पंचम काल में भगवान् परम भट्टारक देवाधिदेव श्री वर्द्धमान स्वामी का शासन चलता है। क्योंकि वह धर्म तीर्थ के कर्त्ता हैं उनको भक्तिपूर्वक वंदन करके मैं मोक्ष मार्ग के साधन भूत 'भेद ज्ञान' का स्वरूप कहूँगा।

प्रश्न—भगवान् महावीर स्वामी का शासन कब से उत्पन्न हुआ है ?

उत्तर—इस अवसर्पिणी कल्प काल के दुःषमा सुषमा नाम के चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चौतीस वर्ष बाकी रहने पर, वर्ष के प्रथम मास अर्थात् श्रावण मास में, प्रथम पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष में, प्रतिपदा के दिन प्रातः काल के समय आकाश में अभिजित नक्षत्र के उदित रहने पर तीर्थ अर्थात् धर्म तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

वह इस प्रकार से है—पन्द्रह दिन और आठ मास अधिक पिचेतर वर्ष चतुर्थकाल शेष रहने पर (७५ व. ८ मा. १५ दि.) पुष्पोत्तर विमान से अषाढ शुक्ल षष्ठी के दिन बहत्तर वर्ष प्रमाण आयु से युक्त और तीन ज्ञान के धारक महावीर भगवान् गर्भ में अवतीर्ण हुए। इसमें तीस वर्ष कुमार काल, बारह वर्ष उनका छद्मस्थकाल, केवलीकाल भी ३० वर्ष, इस प्रकार इन तीन काल का योग ७२ वर्ष होते हैं। इनको ७५ पिचेत्तर वर्षों में से कम करने से वर्धमान जिनेन्द्र के मुक्त होने पर जो शेष चतुर्थकाल रहता है उसका प्रमाण होता है। इसमें ६६ दिन कम केवली काल के जोडने से, नौ दिन और छह मास अधिक तेतीस वर्ष चतुर्थ काल में शेष रहते हैं।

शंका—केवली काल में छयासठ दिन कम किस लिये किये जाते हैं ?

समाधान—क्योंकि केवल ज्ञान के उत्पन्न होने पर भी उनमें तीर्थकी उत्पत्ति नहीं हुई।

शंका—इन दिनों में दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति किस लिये नहीं हुई?

समाधान—गणधर का अभाव होने से उक्त दिनों में दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति नहीं हुई।

शंका—सौधर्म इन्द्र ने उसी क्षण में गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया?

समाधान—नहीं किया, क्योंकि काललब्धि के बिना असहाय सौधर्म इन्द्र के उनको उपस्थित करने की शक्ति का उस समय अभाव था।

शंका—अपने पादमूल में महाव्रत को स्वीकार करने वालें को छोड़कर अन्य को उद्देश कर दिव्यध्वनि क्यों न प्रवृत्त हुई?

समाधान—नहीं होती है, क्योंकि ऐसा स्वभाव है। और स्वभाव दूसरे के प्रश्न के योग्य नहीं होता, क्योंकि ऐसा होने पर अव्यवस्था की उत्पत्ति आती है।

इस कारण चतुर्थकाल में कुछकम चौतीस वर्ष शेष रहनेपर 'तीर्थ की 'उत्पत्ति' हुई यह सिद्ध है।

अन्य कितने ही आचार्य पांच दिन और आठ मास कम बहत्तर वर्ष प्रमाण वर्धमान जिनेंद्र की आयु बतलाते हैं। (७१ व. ३ मा. २५ दि.)।

उनके अभिप्राय के अनुसार गर्भस्थ, कुमार, छद्मस्थ, और केवलज्ञान के कालों की परूपणा करते हैं। वह इस प्रकार है—

गर्भस्थकाल—आषाढ शुक्ला षष्ठी के दिन कुण्डलपुर नगर के अधिपति नाथवंशी सिद्धार्थ नरेन्द्र की त्रिशलादेवी के गर्भ में आकर और वहां आठ दिन अधिक नौ मास रह कर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन रात्रि में उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र में गर्भ से बाहर आए।

कुमारकाल—वर्द्धमान स्वामी २८ व. ७ मा. १२ दिन (अठाईस वर्ष सातमास और बारह दिन) देवकृत श्रेष्ठ मानुषिक सुख का सेवन करके आभिनिबोधिक ज्ञान से प्रबुद्ध होते हुए षष्टोपवास के साथ मंगसिरकृष्णा दशमी के दिन गृहत्याग करके सुरकृतमहिमा का अनुभव कर तपकल्याण द्वारा पूज्य हुए।

छद्मस्थकाल—रत्नत्रय से विशुद्ध महावीर भगवान् १२ व. ५ मा. १५ दिन (बारह वर्ष पांच मास और पन्द्रह दिन) छद्मस्थावस्था में बिताकर ऋजुकूला नदी के तीर पर जृम्भिका ग्राम के बाहर शिलापट्टपर षष्ठोपवास के साथ आतापन योग युक्त होते हुए अपराह्न काल में पादपरिमित छाया के होने पर वैशाख शुक्ला दशमी के दिन क्षपक श्रेणीपर आरूढ होकर एवं घातिया कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान को प्राप्त हुए।

केवलज्ञानकाल—भगवान महावीर २९ व. ५ मा. २० दिन (उनतीस वर्ष पांच मास बीस दिन) चार प्रकार के अनगारों व बारहगणों के साथ विहार करते हुए पश्चात् पावांनगर में कार्तिक मासमें कृष्णपक्ष की चतुर्दशी स्वाति नक्षत्रमें रात्रि को शेषरज अर्थात् अघातियाकर्मों को नाश करके मुक्त हुए।

महावीर जिनेन्द्र मुक्त होने पर चतुर्थकाल के जो शेष वर्ष रहे वह तीन वर्ष आठ मास पन्द्रह दिन (३ व. ८ मा. १५ दि.) प्रमाण है।

उक्त दो उपदेशों में कौनसा उपदेश यथार्थ है इस विषय में (वीरसेन स्वामी) अपनी जीभ नहीं चलाते क्योंकि न तो इस विषय का कोई उपदेश प्राप्त है, और न दोनों में से एक में कोई बाधा उत्पन्न होती है, किन्तु दोनों में से एक ही सत्य होना चाहिये उसे जानकर कहना चाहिये। (ध.–९–११९)

महावीर भगवान मुक्त हुए बाद ६०५ व. ५ मा. (छहसो पांच वर्ष पांच मास) में शक नरेन्द्र की उत्पत्ति हुई है। कहा भी है कि—

पंचयमासा पंचयवासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी ॥

अर्थ—पांच मास पांच दिन और छहसौ वर्ष होते

हैं। इसलिये शककाल से सहित राशि स्थापित करना चाहिये। (ध-६-१३२)

६०५ व. ५ मा. (छहसो पांच वर्ष पांच मास) में शक नरेन्द्र के काल को मिला देने पर वर्द्धमान जिनके मुक्त होने का काल आता है।

अन्य कितने ही आचार्य वीर जिनेन्द्र मुक्त होने के दिन से चौदह हजार सातसो तिरानवें (१४७९३) वर्षों के बीत जाने पर शकनरेन्द्र की उत्पति को कहते हैं। कहा भी है कि—

गुत्ति पयत्थ भयाइं चोद्दसरयणाइ समइक्कंताइ।
परिणिव्वुदे जिणिंदे तो रज्जं सगणरिंदस्स ॥

अर्थ—वीर जिनेन्द्र के मुक्त होने के पश्चात् गुप्ति[३] पदार्थ[९] भय[७] और चौदह[१४] रत्न अर्थात् चौदह हजार सातसो तिरानवें वर्षों के बीतने पर शकनरेन्द्र का राज्य हुआ।

अन्य कितने ही आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि— वर्द्धमान जिनके मुक्त होने के दिन से पांच मास अधिक सात हजार नौसो पिचानवें वर्षों के बीतने पर शकनरेन्द्र के राज्य की उत्पत्ति हुई। कहा भी है कि—

सत्तसहस्सा णवसद पंचाणउदी स पंच मासा य।
अइक्कंता वासाणं जइया तइया सगुप्पत्ती ॥

अर्थ—जब सात हजार नौ सौ पिचानवें वर्ष और पांच मास बीत गये तब शक नरेन्द्र की उत्पत्ति हुई। (७९९५ व. ५ मा.) (ध.-६.-१३३)

इन तीन उपदेशों में एक होना चाहिये। तीनों उपदेशों की सत्यता संभव नहीं है, क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है। इसलिये जानकर कहना चाहिये।

भगवान् तीर्थङ्करों की वाणी अचरी सहज खिरती है तो भी वह वाणी स्याद्वाद मुद्रा सहित खिरती है। वह वाणी सत्यरूप और अनुभय वचनरूप खिरती है।

शंका—तीर्थंकर तो वीतराग हैं, अर्थात् वहां बोलने की इच्छा का तो अभाव है तो भी मात्र सत्यवाणी क्यों नहीं खिरी? अनुभयवाणी की क्या जरूरत थी?

समाधान—तीर्थंकरों की वाणी कर्मजनित खिरती है। पूर्व भव में तीर्थकरों के जीवों ने ऐसी भावना भाई थी कि संसार के सभी जीवों का कल्याण कैसे हो? उसी भावना में सहज तीर्थंकर गौत्र का बंध पड गया था, इसीके उदय में ही वाणी खिरती है। अनादिकाल से जीव अज्ञान के कारण पौद्गलिक कर्मों से बन्धा हुआ है। ऐसे जीवों को मोक्षमार्ग दिखाने के लिये जीवका तादात्म्य सम्बन्ध अपना गुण पर्याय के साथ किस प्रकार का है, उसीका ज्ञान कराने के लिये सत्य वाणी खिरी है। और जीवका पौद्गलिक कर्मों के संयोग से कैसी अवस्था हो रही है। इसीका ज्ञान कराने के लिये अनुभय वाणी खिरी है। यह दोनों प्रकार की वाणी एक

साथ सहज खिर रही है यह वाणी सुनकर गणधर देवों ने सूत्र की रचना की।

शंका—गणधर देवों ने चार ही अनुयोग क्यों बनाये?

समाधान—यथार्थ में अनुयोग अनादि अनंत तीन ही हैं। १ करणानुयोग २ द्रव्यानुयोग ३ चरणानुयोग। परन्तु प्रथमानुयोग अनादि अनंत नहीं है। वह तो औपचारिक अनुयोग है।

शंका—तीन अनुयोग क्यों बनाये?

समाधान—जीव का स्वभाव भाव तो ज्ञायक है। परन्तु ज्ञायक स्वभाव को भूलकर पर पदार्थों में अपनत्व बुद्धिकर दुखी हो रहा है। ऐसा जीवों का संबंध तीन प्रकार का हो सकता है; इसलिये इसीका ज्ञान कराने के लिये तीन अनुयोग की रचना हुई है। पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों के साथ में आत्मा का किस प्रकार का सम्बन्ध है, इसीका ज्ञान कराने के लिये करणानुयोग की रचना हुई। भावकर्म अर्थात् रागादिक की साथ में आत्मा का क्या सम्बन्ध है, उसीका ज्ञान करने के लिए द्रव्यानुयोग की रचना हुई है। और नोकर्म अर्थात् संसार के सभी पदार्थों के साथ आत्मा का किस प्रकार का सम्बन्ध है, उसीका ज्ञान कराने के लिये चरणानुयोग की रचना हुई है। इसके अलावा और कोई पदार्थ रहता नहीं है, इसलिये अनुयोग तीन ही हैं। इसके अलावा और कोई पदार्थ

रहता नहीं है इसलिये चौथे अनुयोग की कोई जरूरत नहीं है। इसलिये अनुयोग तीन ही हैं। पुण्य पाप के फलका ज्ञान कराने के लिए–अर्थात् पापसे बचाने के लिए मात्र प्रथमानुयोग की रचना हुई है। तो भी वह अनुयोग अनादि अनन्त नहीं है परन्तु सादि सान्त है। इस अनुयोग में अनादि की कथा आ नहीं सकती है।

सरल भाषामें यदि पदार्थों के स्वरूप का निरूपण किया जावे तो उत्तम, ऐसे धर्मानुराग रूपी विकल्प के साथ योगानुसार 'भेदज्ञान' शास्त्र की रचना हुई है। इस शास्त्रमें कोई शब्द आगमसे विपरीत विशेष ज्ञानीजनों को देखने में आवे तो सुधारलेने की प्रार्थनाके साथ 'भेदज्ञान' शास्त्रका उदय होता है।

प्रश्न—लोक किसको कहते हैं ?

उत्तर—एक अखण्ड आकाश नाम का द्रव्य है, इसके मध्य भाग में जितने क्षेत्र में अनंत जीवद्रव्य, अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्म द्रव्य तथा असंख्यात कालद्रव्य रहते हैं उतने आकाशके क्षेत्रका नाम लोक है। बाकीके मर्यादा रहित आकाश को अलोक कहते हैं।

प्रश्न—द्रव्य कितने हैं ?

उत्तर—द्रव्य छह हैं। १. अनन्तजीवद्रव्य, २. अन-

न्तानन्त पुद्गलद्रव्य. ३. एक धर्मास्तिकायद्रव्य. ४. एक अधर्मास्तिकायद्रव्य. ५. एक आकाशास्तिकायद्रव्य. ६. असंख्यात कालाणुद्रव्य।

प्रश्न—द्रव्यका लक्षण क्या है ?

उत्तर—द्रव्यका लक्षण तीन प्रकार है। १. सत् २. उत्पादव्ययध्रुव. ३. गुणपर्यायका समूह, इस प्रकार द्रव्यका लक्षण है।

प्रश्न—सत् किसको कहते हैं ?

उत्तर—द्रव्यों में अस्तित्व नामका गुण है जो द्रव्य की तीनों काल हयाती अर्थात् मौजूदगी दिखाता है। अर्थात् जिसका कभी नाश न हो उसका नाम सत् है।

प्रश्न—उत्पादव्ययध्रुव किसको कहते हैं ?

उत्तर—द्रव्य अपनी सत्ता कायम रखकर अपनी एक अवस्थाका नाश कर दूसरी अवस्था धारण करे उसी का नाम उत्पादव्ययध्रुव है। अर्थात् नई अवस्था की उत्पत्ति करना वह उत्पाद, पुरानी अवस्था का नाश होना सो व्यय और द्रव्य अर्थात् वस्तु का कायम रहना सो ध्रुव है।

प्रश्न—गुण पर्यायका समूह किसको कहते हैं ?

उत्तर—प्रत्येक द्रव्यमें अनंतगुण हैं जिसका कभी नाश नहीं होता, तथा उन गुणोंकी समय समयमें होनेवाली शुद्धाशुद्ध अवस्था पर्याय है, अर्थात् गुण सहवर्ती है

अर्थात् तीनोंकाल रहता है और पर्याय क्रमवर्ती हैं अर्थात् समय समय में बदलती रहती हैं। ऐसा गुण पर्यायको जो धारण करता है वह द्रव्य है।

प्रश्न—लोकमें छह ही द्रव्य क्यों मानना चाहिये? द्रव्य दिखने में तो दो ही आते हैं? १ जीव. २ पुद्गल।

उत्तर—जीव और पुद्गल तो दिखने में आते हैं। इन दो द्रव्यों के चलने में जो निमित्त होता है वह तीसरा धर्मद्रव्य है। जीव और पुद्गलको जो स्थिर रहने में निमित्त है वह चौथा अधर्मद्रव्य है। जीव और पुद्गल को रहने के लिए स्थान देने में जो निमित्त कारण है वह पांचवां आकाश द्रव्य है, और जीव एवं पुद्गलकी समय समयमें अवस्था बदलनेमें जो निमित्त है वह छठा काल द्रव्य है। इसलिए छह द्रव्य हैं। छह से कम द्रव्य नहीं हैं एवं छह से विशेष द्रव्य भी नहीं हैं। छह द्रव्यमें एक पुद्गलद्रव्यही रूपी है, बाकी के द्रव्य अरूपी हैं। इन छह द्रव्यों में से एक जीवद्रव्य ही चेतन है अर्थात् जिसमें जानने देखने की शक्ति है, बाकी के पांच द्रव्य अचेतन हैं।

प्रश्न—रूपी द्रव्यका क्या अर्थ होता है?

उत्तर—जिस द्रव्य में रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श हो उसको रूपी अर्थात् मूर्त्त द्रव्य कहा जाता है, और जिसमें

रूप रस गन्ध स्पर्श नहीं है उसी को अरूपी अर्थात् अमूर्त्त कहा जाता है।

प्रश्न—छहों द्रव्य लोकमें रहने से एक द्रव्य दूसरा द्रव्य में मिल नहीं जाता है?

उत्तर—छहों द्रव्य परस्पर मिलते हैं. तथा परस्पर एक दूसरे को स्थान देते हैं, तो भी कोई भी द्रव्य किसी द्रव्य को बाधा नहीं देते हैं, और सदा काल मिलते रहते हैं अर्थात् एक क्षेत्रमें रहते हैं तो भी सर्व द्रव्य अपनी अपनी हयाती स्थिति तीनों काल कायम रखते हैं। ऐसा नहीं है कि एक द्रव्य का नाश होकर दूसरे द्रव्य में मिल जावे। तादात्म्य सम्बन्ध से प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं, तो भी संयोग संबन्ध से जल और दूध की तरह एक क्षेत्रमें रहते हैं। यही द्रव्य की स्वतन्त्रता है।

प्रश्न—क्या द्रव्यसे द्रव्य के गुण और पर्यायें अलग कभी रहती हैं?

उत्तर—द्रव्य से द्रव्यका गुण और द्रव्य की पर्याय कभी अलग नहीं रहती है। द्रव्यका द्रव्यके गुण तथा पर्याय के साथ तादात्म्य अर्थात् अभिन्न सम्बन्ध है। जैसे सोना द्रव्य है, पीला गुण है, और कंकण पर्याय है। वह सोना द्रव्य, पीलागुण तथा कंकण पर्याय से अलग

नहीं है।

प्रश्न—जीव द्रव्य का गुण अर्थात् लक्षण क्या है, और उसकी पर्याय क्या है ?

उत्तर—जीव द्रव्य का निज लक्षण एक तो शुद्धाशुद्ध अनुभूतिरूप चेतना और दूसरा शुद्धाशुद्ध चैतन्य परिणाम रूप उपयोग है। तथा नाना प्रकार के देवता, मनुष्य नारकी और तिर्यञ्च यह जीवकी अशुद्ध संयोगी पर्याय है।

प्रश्न—चेतना कितने प्रकार की है।

उत्तर—चेतना तीन प्रकार की है। १. कर्म चेतना। २. कर्मफल चेतना, ३. ज्ञान चेतना।

प्रश्न—कर्म चेतना किसको कहते हैं।

उत्तर—मैं कुछ करूं, मैं कुछ करूं ऐसा जो जीव में भाव होता है वह कर्म चेतना है। कर्म चेतना दो प्रकार की है। १. पुण्यभावरूप. २. पाप भावरूप।

प्रश्न—पुण्य भावरूप कर्म चेतना किसको कहते हैं ?

उत्तर—मैं देव गुरू शास्त्रकी भक्ति करूं, मैं दुखिया जीवको अन्नजल और औषधि देऊं और मैं व्रत, संयम, तप, शीलादि अंगीकार करूं यह सब भाव पुण्य भाव रूप कर्म चेतना है।

प्रश्न—पाप भाव रूप कर्म चेतना किसको कहते हैं ?

उत्तर—पांच इन्द्रियों के विषयों इकट्ठा करने का

जो भाव होता है वह सभी भाव पाप कर्म चेतना है।

प्रश्न—कर्म फल चेतना किसको कहते हैं ?

उत्तर—जीवमें भोगने का जो जो भाव होता है, जैसे मैं रेडियो सुनूं, मैं सिनेमा देखूं, मैं सुगन्धित पदार्थों को सूंघूं, मैं मिष्ट भोजन खाऊं, मैं बढिया कपडा गहनादि पहनूं यह सब भोगने के भावका नाम कर्मफल चेतना है। कर्मफल चेतना रूप सभी भाव पापभाव ही हैं।

प्रश्न—ज्ञान चेतना किसको कहते हैं।

उत्तर—न भोगने का भाव हो, न कर्म करने का भाव हो, परन्तु वीतराग भाव लेकर संसार के सभी पदार्थों का तथा अपना स्वरूप का ज्ञान भावसे वेदना अर्थात् देखना जानना रहे सो ज्ञानचेतना है। यही धर्म भाव है। यही भाव मोक्ष का कारण हैं।

प्रश्न—उपयोग किसको कहते हैं ?

उत्तर—उपयोग दो प्रकार का है। १ एक सविकल्प तथा निर्विकल्प उपयोग २ शुद्धोपयोग तथा अशुद्धोपयोग।

प्रश्न—सविकल्प तथा निर्विकल्प उपयोग किसको कहते हैं ?

उत्तर—सविकल्प उपयोग तो ज्ञान चेतना का लक्षण है, और निर्विकल्प उपयोग दर्शन चेतना का लक्षण है।

प्रश्न—शुद्धोपयोग और अशुद्धोपयोग किसको कहते हैं।

उत्तर—वीतराग भाव को शुद्धोपयोग कहते हैं, तथा पुण्य तथा पाप रूप भाव को अशुद्धोपयोग कहते हैं।

प्रश्न—जीव द्रव्य का क्या स्वरूप है।

उत्तर—जो सदाकाल (त्रिकालमें) तादात्म्य सम्बन्ध से चैतन्य प्राणकर और संयोग सम्बन्ध से जो चारप्राणों कर अर्थात् बलप्राण, इन्द्रियप्राण तथा श्वासोछ्वास प्राण कर जीता है वह जीवद्रव्य है। जो निश्चयनयकी अपेक्षा से अपने चेतना गुणसे अभेद एक वस्तु है, तथा व्यवहार नयकर गुणभेद से चेतनागुण कर संयुक्त है इस कारण जानने वाला है। जो उपयोगरूप परिणामों से विशेषनः कहिये लिखा जाता है। जो आश्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा, और मोक्ष इन पदार्थों में तादात्म्य सम्बन्धसे भाव कर्मों की समर्थता संयुक्त है, तथा संयोग सम्बन्ध से पौद्गलिक द्रव्य कर्मों की ईश्वरता संयुक्त है इस कारण प्रभू है। जो तादात्म्य सम्बन्ध से पौद्गलिक द्रव्य कर्मों का निमित्तपाकर जो जो अपना विकारी परिणाम होता है उसी परिणामों का कर्त्ता है तथा संयोग सम्बन्ध से अपना अशुद्ध परिणामों का निमित्त पाय जो ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्म उपजते हैं उसीका कर्त्ता है। जो तादात्म्य सम्बन्ध से पौद्गलिक शुभ

अशुभ कर्मों के निमित्त से जो अपना सुख दुःख रूप परिणामों का भोक्ता है, और संयोग सम्बन्ध से शुभ अशुभ पौद्गलिक कर्मों का उदय से उत्पन्न जो इष्ट अनिष्ट पौद्गलिक विषयों का भोक्ता है। जो तादाम्य सम्बन्ध से यद्यपि लोक मात्र असंख्यात प्रदेशी है तो भी संयोग सम्बन्ध की अपेक्षा से अपनी संकोच विस्तार शक्ति से पौद्गलिक नाम कर्म के द्वारा जो निर्मापित जो लघु दीर्घ शरीर उसके परिमाण ही तिष्ठे हैं इस कारण स्वदेह परिमाण है। जो संयोग सम्बन्ध से पौद्गलिक कर्मों से एक स्वभाव होने से मूर्तिक विभाव परिणामरूप परिणमता है, तथापि तादात्म्य सम्बन्ध से पौद्गलिक कर्मों का निमित्त पाय उत्पन्न हुआ अपना जो चैतन्य विभाव परिणाम उनकर संयुक्त है और संयोग सम्बन्ध से अशुद्ध चैतन्य का परिणामों का निमित्त पाय जो ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों से हुए हैं, तिनकर संयुक्त है। पंचास्तिकाय गाथा २७ में कहा भी है—कि

जीवोत्ति हवदि चेदा उपयोग विसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता, य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुतो ॥२७॥

प्रश्न—मुक्त जीव का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म, तथा रागादिक भाव कर्म कर सर्व प्रकारसे मुक्त हुआ है। अष्ट कर्मों का

अभाव होने से जिसने अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख, अनन्तवीर्य, अव्याबाध, अवगाहना, अगुरुलघु तथा सूक्ष्मत्व गुणों की प्राप्ति की है। मोक्ष अवस्था में भी इसके आत्मीक अविनाशी भावप्राण हैं। उनसे सदा जीवे है। जिसने समस्त आत्मीक शक्तियोंकी समर्थता प्रगट की है जिस कारण से प्रभू भी कहा जाता है। अपने स्वरूप में सदा परिणमता है। तातैं यही जीव कर्ता है। स्वाधीन सुख की प्राप्ति से यही जीव भोक्ता भी कहा जाता है। चर्म शरीर अवगाहन में किञ्चित् ऊन पुरुषाकार आत्म प्रदेशों की अवगाहना लिये हैं। इस कारण देह मात्र भी कहा जाता है। जो लोक के अग्रभाग पर अपने आत्मीक प्रदेशों में विराजमान है। जो सविकार पराधीन इन्द्रिय सुख से रहित अमर्यादित्त आत्मीक स्वाभाविक अतीन्द्रिय सुखको भोगता है। पंचास्तिकाय ग्रन्थ की गाथा २८ में कहा भी है कि—

कम्म मल विप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिदियमणंतं॥

प्रश्न—ज्ञानोपयोग के कितने भेद हैं?

उत्तर—ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, यह पांच प्रकार के सम्यग्ज्ञान हैं और कुमति कुश्रुत और विभङ्गावधि ये तीन ज्ञान कुज्ञान भी हैं। यथार्थ में ज्ञानके

भेद पांच ही हैं, परन्तु मिथ्यादर्शन के कारण तीन ज्ञान को कुज्ञान कहा जाता है और वही ज्ञान सम्यग्दर्शन होनेसे सम्यग्ज्ञान कहा जायगा। स्वाभाविक भाव से यह आत्मा अपने समस्त प्रदेश व्यापी अनन्त निरावरण शुद्धज्ञान संयुक्त है। परन्तु अनादिकालसे लेकर कर्म संयोगसे दूषित हुआ प्रवर्तें है। इसलिए सर्वाङ्ग असंख्यात प्रदेशोंमें ज्ञानावरण कर्म के द्वारा आच्छादित है। उस ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशमसे मतिज्ञान प्रगट होता है तब मतिज्ञान द्वारा पांच इन्द्रियोंके अवलम्बनसे किंचित् मूर्तिक द्रव्य को विशेषकर जिस ज्ञानके द्वारा परोक्षरूप जानता है उसका नाम मतिज्ञान है। मतिज्ञान का भेद दो प्रकारका है। १. व्यंजनावग्रह, अर्थावग्रह।

प्रश्न—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह का क्या स्वरूप है?

उत्तर—अप्राप्त पदार्थके ग्रहणको अर्थावग्रह कहते हैं और प्राप्त पदार्थ के ग्रहणको व्यंजनाग्रह कहते हैं।

स्पष्ट ग्रहणको अर्थावग्रह और अस्पष्ट ग्रहणको व्यंजनावग्रह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्पष्ट ग्रहण और अस्पष्ट ग्रहण तो चक्षु व मनके भी रहता है। अतः ऐसा मानने पर उन दोनोंके भी व्यंजनावग्रहके अस्तित्व का प्रसंग आवेगा। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि, चक्षु और मनसे व्यंजन पदार्थ का अवग्रह नहीं होता है, इस प्रकार

सूत्र द्वारा उन दोनोंके व्यंजनावग्रह का प्रतिषेध किया गया है। यदि कहो कि धीरे धीरे जो ग्रहण होता है वह व्यंजनावग्रह है, सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि इस प्रकारके ग्रहणका अस्तित्व चक्षु और मनके भी है, अतः उनके भी व्यञ्जनावग्रह रहने का प्रसंग आवेगा और उन दोनोंमें शनैःग्रहण असिद्ध नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से क्षिप्र भंगका अभाव होने पर चक्षु निमित्तक अडतालीस मति ज्ञानके भेदोंके अभावका प्रसंग आवेगा।

शङ्का—श्रोत्रादि चार इन्द्रियोंमें अर्थावग्रह नहीं है, क्योंकि उनमें प्राप्त ही पदार्थका ग्रहण पाया जाता है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि वनस्पतियोंमें अप्राप्त अर्थका ग्रहण पाया जाता है।

शंका—वह भी कहां से जाना जाता है?

समाधान—क्योंकि दूरस्थित निधि—(खाद्यपदार्थ) को लखकर शाखा का छोडना अन्यथा बन नहीं सकता है। (ध. ९–१५६)

शंका—निम्न लिखित सूत्रसे इन्द्रियोंके प्राप्त पदार्थ का ग्रहण करना जाना जाता है।

पुट्ठं सुणेइ सद्दं अप्पुट्ठं चेय पस्सदे रूवं।
गन्धं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं चं जाणादि ॥ ५४

अर्थ—श्रोत्र से स्पष्ट, शब्द को सुनता है। परन्तु

चक्षु से रूपको अस्पष्ट ही देखता है। शेष इन्द्रियों से गन्ध रस और स्पर्श को बद्ध व स्पष्ट जानता है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि वैसा होने पर अर्थावग्रहके लक्षणका अभाव होनेमें गधेके सींगके समान उसके अभावका प्रसंग आवेगा।

शंका—फिर इस गाथाके अर्थका व्याख्यान कैसे किया जाता है।

समाधान—इस शंकाके उत्तर में कहते हैं:—चक्षु रूपको अस्पष्ट ही ग्रहण करती है, च शब्दसे मन भी अस्पष्ट वस्तुको ग्रहण करता है। शेष इन्द्रियां गन्ध रस और स्पर्श को बद्ध अर्थात् अपनी अपनी इन्द्रियों में नियमित व स्पष्ट ग्रहण करती है, च शब्दसे अस्पष्ट भी ग्रहण करती है। स्पष्ट शब्दको सुनता है यहां भी बद्ध और च शब्दों को जोडना चाहिये, क्योंकि, ऐसा न करने से दूषित व्याख्यान की आपत्ति आती है। (ध.६.१६०)

व्यंजन अवग्रह स्पर्श, रस, गन्ध, श्रोत्रका होता है। उसीका विषयकी दृष्टिसे बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त और ध्रुव तथा इनसे विपरीत, एक, एकविध, अक्षिप्र, निसृत, उक्त और अध्रुव के भेद से बारह प्रकार प्रत्यय होता है। इसी प्रकार व्यंजनावग्रह का ४८ अडतालीस भेद होता है।

अर्थावग्रह, स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु, और मन द्वारा होता है ओर उसी का भी बहुविधि आदि बारह प्रत्ययका भेद द्वारा गुणाकार करनेसे ७२ बहत्तर भेद हुये। इनको अवग्रह, ईहा अवाय, धारणा चार मतिज्ञान का भेदसे गुणाकार करने से २८८ भेद होते हैं। इसी प्रकार व्यंजनावग्रहके ४८ भेद तथा अर्थावग्रहके २८८ भेद जोडनेसे कुल ३३६ भेद मतिज्ञानके होते हैं।

स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा मतिज्ञानका अर्थावग्रहका ४८ तथा व्यंजनावग्रहका १२ भेद मिलकर ६० भेद होता है। रसना इन्द्रिय द्वारा मतिज्ञानका अर्थावग्रहका ४८ भेद तथा व्यंजनावग्रहका १२ भेद मिलकर ६० भेद होता है। घ्राण इन्द्रिय द्वारा मतिज्ञानका आर्थावग्रहका ४८ भेद तथा व्यंजनावग्रहका १२ भेद मिलकर ६० भेद होता है। चक्षु इन्द्रिय द्वारा मतिज्ञानका अर्थावग्रहका ४८ भेद होता है। चक्षु इन्द्रियका व्यंजनावग्रहका भेद नहीं होता है। श्रौत्र इन्द्रिय द्वारा मतिज्ञानका अर्थावग्रहका ४८ भेद तथा व्यंजनावग्रहका १२ भेद मिलकर ६० भेद होता है। मन इन्द्रिय द्वारा मतिज्ञानका अर्थावग्रहका ४८ भेद होता है। मनइन्द्रियका व्यंजनावग्रह नहीं होता है। इसी प्रकार ६०+६०+६०+४८+६०+४८ जोडकर ३३६ भेद होता है।

प्रश्न—मतिज्ञानके बहु, बहुविध आदिकका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—इनका स्वरूप निम्न प्रकार है।

बहु—मध्यमा और प्रदेशनी इन दो अंगुलियोंका एक साथमें ज्ञान होना बहु प्रत्ययका भेद है।

एक—एक शब्द के व्यवहार का कारणभूत प्रत्यय एक प्रत्यय है।

बहुविध—बहुविधका ग्रहण भेद प्रगटकरनेके लिये है, अतः बहुविधका अर्थ बहुत प्रकार है। जातिमें रहने वाली बहुसंख्याको अर्थात् अनेक जातियोंको विषयकरने वाला प्रत्यय बहुविध कहलाता है। गाय, मनुष्य, घोडा, हाथी आदि जातियों में रहने वाला अक्रम प्रत्यय चक्षु-र्जन्य बहुविध प्रत्यय है। तत, वितत, धन और सुसिर आदि शब्द जातियों को विषय करने वाला अक्रम प्रत्यय श्रौत्रजन्य बहुविध प्रत्यय है। कपूर, अगुरु, चन्दन आदि सुगंधी द्रव्यों में रहने वाला यौगपद्य प्रत्यय घ्राणज बहु-विध प्रत्यय है। तिक्त, कषाय, आम्ल, मधुर और लवण रसोंमें एक साथ रहने वाला प्रत्यय रसजन्य बहुविध प्रत्यय है। स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, कठिन उष्ण, शीत, गुरू लघु आदि स्पर्शों में एक साथ रहने वाला स्पर्शन बहुविध प्रत्यय है।

एकविध—एक जातिको विषय करनेका कारण इसके प्रतिपक्ष भूत प्रत्यय को एकविध कहते हैं। इसका अन्तर भाव एक प्रत्यय में नहीं हो सकता है, क्योंकि वह एक प्रत्यय व्यक्तिगत एकतामें सम्बन्ध रखने वाला है, और यह अनेक व्यक्तियोंमें सम्बन्ध एक जाति में रहने वाला है।

क्षिप्र—क्षिप्रवृत्ति अर्थात् शीघ्रतासे वस्तुको ग्रहण करने वाला प्रत्यय क्षिप्र कहा जाता है।

अक्षिप्र—नवीन सकोरे में रहने वाले जलके समान धीरे वस्तुको ग्रहण करने वाला अक्षिप्र प्रत्यय है।

अनिःसृत—वस्तुके एक देशका अवलम्बन करके पूर्ण रूपसे वस्तुको ग्रहण करने वाला तथा वस्तुके एक देश अथवा समस्त वस्तुका अवलम्बन करके यहां अविद्य मान वस्तुको विषय करने वाला भी अनिःसृत प्रत्यय है। यह प्रत्यय असिद्ध नहीं है, क्योंकि, घटके सर्वांग भागका अवलम्बन करके कहीं घट प्रत्यय की उत्पत्ति पायी जाती है. कहीं पर सर्वांग भागका एक देशका अवलम्बन करके उक्त प्रत्ययकी उत्पत्ति पायी जाती है।

निःसृत—अनिःसृतका प्रतिपक्षीभूत निःसृत प्रत्यय है, क्योंकि कहीं पर किसी कालमें आलम्बनीभूत वस्तु के एक देशमें उतनेही ज्ञानका अस्तित्व पाया है।

अनुक्त—इन्द्रियके प्रतिनियत गुणसे विशिष्ट वस्तुके

ग्रहण कालमें ही उस इन्द्रियके अप्रतिनियत गुणसे विशिष्ट उस वस्तुका ग्रहण जिससे होता है वह अनुक्त प्रत्यय है। यह असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि चक्षु से लवण, शक्कर आदिके ग्रहण कालमें ही कभी उनके रसका ज्ञान होजाता है। दही के गन्ध के ग्रहण काल में उसके रसका ज्ञान होजाता है। दीपकके रूपके ग्रहण कालमें ही कभी उसके स्पर्शका ग्रहण होजाता है। शब्दके ग्रहण कालमें ही संस्कार युक्त किसी पुरुषके उसके रसादि विषयक प्रत्ययकी उत्पत्ति भी पाई जाती है।

उक्त—अनुक्तके प्रतिपक्ष रूप उक्त प्रत्यय है।

शंका—निःसृत और उक्त में क्या भेद है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उक्त प्रत्यय निःसृत और अनिःसृत दोनों रूप है अतः उसका निःसृत के साथ एकत्व होने का विरोध है।

ध्रुव—यह वही है, वह मैं ही हूँ इस प्रकारका प्रत्यय ध्रुव कहलाता है।

अध्रुव—ध्रुवका प्रतिपक्षभूत प्रत्यय अध्रुव है।

शंका—मनसे अनुक्त का क्या विषय है?

समाधान - अदृष्ट और अश्रुत पदार्थ इसका विषय है। और उसका वहां रहना असिद्ध नहीं है, क्योंकि उपदेशके विना अन्यथा द्वादशांग श्रुतका ज्ञान नहीं वन

सकता है, अतएव उसका अदृष्ट व अश्रुत पदार्थ में रहना सिद्ध है। (ध. ६–१५०–५५)

श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे मनके अवलम्बनसे किंचित् मूर्तिक अमूर्तिक द्रव्य जिसके द्वारा जाना जाय उस ज्ञानका नाम श्रुतज्ञान है। एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है। जैसे ठंडी हवाका ज्ञान होने के बाद विचारना कि यह हवा मेरी प्रकृतिसे विरुद्ध है, मुझको बाधा, नुकसान कारक है यह सोचना श्रुतज्ञान है। इस ज्ञानमें इन्द्रियोंके द्वारा पहले मतिज्ञान होता है अर्थात् मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है। श्रुतज्ञान के दो, अनेक और बारह भेद हैं।

दो भेद १ अङ्गबाह्य २ अङ्गप्रविष्ट

अनेकभेद—अङ्गबाह्य के अनेक भेद हैं यह गणधर और उनके शिष्यादि द्वारा प्रणीत होता है।

द्वादसभेद—१ आचारांग, २ सूत्रकृतांग, ३ स्थानांग ४ समवायांग, ५ व्याख्या प्रज्ञप्तिअंग, ६ ज्ञातृधर्मकथांग, ७ उपासकाध्ययनांग, ८ अन्तकृतदशांग, ९ अनुत्तरोत्पादिकदशांग, १० प्रश्नव्याकरणांग, ११ विपाकसूत्रांग १२ दृष्टिवादांग।

अवधिज्ञान—अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जिस ज्ञान के द्वारा एकदेश प्रत्यक्ष रूप मूर्तिक द्रव्य मन

द्वारा जाने उसका नाम अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान का जघन्यसे द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से एक जीवके औदारिक शरीरके संचय के लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण खन्ड करने पर उनमेंसे एक खन्ड तकको जानता है और उत्कृष्ट से अवधिज्ञान एक परमाणुतक को जानता है। (ध. १ ६३)

अवधिज्ञान देव और नारकियों को होता ही है इस को भवप्रत्यय अवधि कहते हैं। तीर्थंकर भी अवधिज्ञान साथ लेकर ही जन्म लेते हैं। सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देव मनुष्यमें उत्पन्न होते हैं तब नियमसे सब अवधिज्ञान साथ लेकर ही जन्म लेते हैं। (ध.–६–५००)

मनःपर्ययज्ञान—मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमसे अन्य जीव के मनोगत मूर्तिक द्रव्य को एक देश प्रत्यक्ष जिस ज्ञानसे मन के द्वारा जाने उसका नाम मनःपर्ययज्ञान कहा जाता है। मनःपर्ययज्ञान के दो भेद हैं। १ ऋजुमति २ विपुलमति मनःपर्ययज्ञान।

प्रश्न—अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में क्या भेद है ?

उत्तर—मनःपर्ययज्ञान विशिष्ट संयम के निमित्त से उत्पन्न होता है। किन्तु अवधिज्ञान भव के निमित्तसे और गुण अर्थात् क्षयोपशम के निमित्तसे उत्पन्न होता है।

मनःपर्ययज्ञान तो मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, किन्तु अवधिज्ञान अवधिदर्शन पूर्वक ही होता है। यह उन दोनों में भेद है। (ध.-६-२६)

केवलज्ञान— सर्वथा प्रकार ज्ञानावरण कर्म के क्षय होनेसे जिस ज्ञान के द्वारा समस्त मूर्तिक अमूर्तिक द्रव्य गुण, पर्याय सहित प्रत्यक्ष जाने जायें, अर्थात् अन्तःकरण, इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि, संस्कार, प्रकाशादि की अपेक्षा रखे विना ही एक आत्म स्वभाव को ही ग्रहण कर सर्व द्रव्य पर्याय को एकही समय में व्याप्यकर प्रवर्तता है वही ज्ञान जो केवल आत्मद्वारा उत्पन्न होता है केवल ज्ञान है।

प्रश्न—दर्शनोपयोग के कितने भेद है?

उत्तर—दर्शनोपयोग के चार भेद हैं। १ चक्षुदर्शन २ अचक्षुदर्शन ३ अवधिदर्शन ४ केवलदर्शन। इन चार भेदों द्वारा दर्शनोपयोग जानना। दर्शन और ज्ञान में सामान्य और विशेषका भेद है। जो विशेषरूप जानै उस को ज्ञान कहते हैं इस कारण दर्शन का सामान्य जानना लक्षण है। आत्मा स्वाभाविक भावों से सर्वांग निर्मल अनंत दर्शनमयी है, परन्तु वही आत्मा अनादि दर्शनावरण कर्म के उदयसे आच्छादित है इस कारण दर्शन शक्ति से रहित है। वस्तुओं का आकार न करके, व

पदार्थों में विशेषता न करके जो वस्तु सामान्यका ग्रहण किया जाता है उसे ही शास्त्र में दर्शन कहा है।

शंका—इस प्रकार सामान्य से दर्शनकी सिद्धि और केवल दर्शनकी सिद्धि भी भले हो जावो, किन्तु उससे शेष दर्शनकी सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि,

चक्खूण जं पयसादि दिस्सदि तं चक्खु दसणं वेंति।
दिट्ठस्स यं जे सरणं णायव्वं तं अचक्खुत्ती॥

अर्थ—जो चक्षु इन्द्रियको प्रकाशित होता है या दिखता है उसे चक्षु दर्शन समझा जाता है और जो अन्य इन्द्रियों से देखे हुए पदार्थ का ज्ञान होता है उसे अचक्षु दर्शन जानना। (ध-७-१००)

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि तुमने इस गाथा का परमार्थ नहीं समझा।

शंका—वह परमार्थ कोनसा है?

समाधान—कहते हैं, जो चक्षुओंको प्रकाशित होता अर्थात् दिखता है, अथवा आंख द्वारा देखा जाता है, वह चक्षु दर्शन है, इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिये कि चक्षु इन्द्रिय ज्ञान से जो पूर्व ही सामान्य स्व शक्तिका अनुभव होता है, जो कि चक्षु ज्ञानकी उत्पत्ति में निमित्त रूप है वह चक्षु दर्शन है।

शंका—उस चक्षु दर्शनके विषयसे प्रतिबद्ध अन्तरंग

शक्ति में चक्षु इन्द्रियकी प्रवृति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, यथार्थ में तो चक्षु इन्द्रियकी अन्तरंगमें ही प्रवृति होती हैं, किन्तु बालकजनोंको ज्ञान कराने के लिये अंतरंगमे बहिरंग पदार्थ को उपचार से चक्षुओं को जो दिखता है वही चक्षुदर्शन है ऐसा प्ररूपण किया है।

शंका—गाथा का गला न घोटकर सीधा अर्थ क्यों नहीं करते ?

समाधान—नहीं करते, क्योंकि, वैसा करने में तो समस्त दोषों का प्रसंग आता है।

गाथा के उत्तरार्थ का अर्थ इस प्रकार है, जो देखा गया है, अर्थात् जो पदार्थ शेष इन्द्रियों के द्वारा जाना गया है, उससे जो शरण अर्थात् ज्ञान होता है उसे अचक्षु दर्शन जानना चाहिये। चक्षुइन्द्रिय को छोड शेप इन्द्रिय ज्ञानकी उत्पत्ति से पूर्व ही अपने विषयमें प्रतिबद्ध स्वशक्ति का अचक्षुज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्त भूत जो सामान्यसे संवेद या अनुभव होता है वह अचक्षु दर्शन है ऐसा कहा गया है। (ध-७-१०१)

चक्षुदर्शन—चक्षु दर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमसे बहिरंग नेत्रके अवलम्बनकर चक्षु ज्ञानके पूर्वमें अर्थात् चक्षुअवग्रहके पूर्वमें जो सामान्य निर्विकल्प अवलोकन

होता है उसीका नाम चक्षु दर्शन है। एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेयपर ज्ञानके घूमनेके बीचमें जो कालका अन्तर पडता है, उसीका नाम चक्षुदर्शन है।

अचक्षुदर्शन—अचक्षुदर्शनावरणीय कर्मका क्षयोपशमसे बहिरंग नेत्र इन्द्रिय के बिना चार इन्द्रियों और द्रव्य मनके अवलम्बनसे चक्षु इन्द्रियको छोडकर शेष इन्द्रिय ज्ञानकी उत्पत्ति के पूर्व में जो सामान्य निर्विकल्प अवलोकन होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

अवधिदर्शन—अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञानके पूर्वमें जो निर्विकल्प सामान्य अवलोकन होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं।

शंका—विभंग दर्शनका प्रथकरूप से उपदेश क्यों नहीं दिया?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसका अवधिदर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है।

शंका—तो मनःपर्यय दर्शनको भिन्नरूपसे कहना चाहिये।

समाधान—नहीं क्योंकि, मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है इसलिये मनःपर्यय दर्शन नहीं होता है।

केवलदर्शन—सर्वथा दर्शनावरणीय कर्मके क्षयसे समस्त मूर्तिक अमूर्तिक पदार्थोंको प्रत्यक्ष सामान्यरूपसे

अखन्ड भेद किये बिना देखा जाय उसको केवल दर्शन कहते हैं।

प्रश्न—दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगमें क्या भेद है, एवं एक साथ छद्मस्थों को क्यों नहीं होता है ?

उत्तर—नही, क्योंकि उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति के निमित्तभूत प्रयत्न विशिष्ट स्वसंवेदन को दर्शन माना है। परन्तु केवली में यह क्रम नहीं पाया जाता है, क्योंकि वहां पर अक्रमसे ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति होती है। छद्मस्थों में दर्शन और ज्ञान इन दोनों की अक्रम से प्रवृत्ति होती है, यदि ऐसा कहा जावे सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, छद्मस्थोंके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं, ऐसा आगम वचनसे छद्मस्थों के दोनों उपयोगों के अक्रमसे होनेका प्रतिषेध हो जाता है। ज्ञानपूर्वक दर्शन होता है यदि ऐसा कहा जावे सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, किन्तु ज्ञानपूर्वक दर्शन नहीं होता ऐसा आगम वचन है। (ध. ३. ४५७)

शंका—द्रव्यइन्द्रियोंको इन्द्रिय संज्ञा क्यों दी ?

समाधान—क्षयोपशम भावेन्द्रियोंके होनेपर ही द्रव्येन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। इसलिये भावेन्द्रियां कारण हैं और द्रव्येन्द्रियां कार्य हैं इसलिये द्रव्येन्द्रियोंको भी इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है। अथवा उपयोगरूप भावेन्द्रियोंकी

उत्पत्ति द्रव्येन्द्रियोंके निमित्त से होती है इसलिये भावेन्द्रियां कार्य हैं और द्रव्येन्द्रियां कारण हैं इसलिये भी द्रव्येन्द्रियों को इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त है। (ध. १. १३५)

प्रश्न—एक जीवमें एक साथ कितने ज्ञान की लब्धि प्राप्त हो सकती है ?

उत्तर—जीवमें यदि १ ज्ञान होगा तो वह केवल-ज्ञान होगा। यदि दो ज्ञान की लब्धि होगी तो मति और श्रुतज्ञान होगा। यदि तीन ज्ञान की लब्धि होगी तो मति श्रुत, अवधिज्ञान अथवा मति, श्रुत, मनःपर्यय ज्ञान होगा, यदि जीवमें चार ज्ञान की लब्धि होगी तो मति श्रुत अवधि, और मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हो सकता है। परन्तु इनमें से एक समयमें एक ही ज्ञान का उपयोग हो सकता है, उस समय बाकी के ज्ञान की लब्धि सत्ता रूप रहती है। क्योंकि एक साथमें दो पर्याय कभी भी नहीं होंगी। जब तक जीवमें मिथ्यादर्शन होगा तब तक मति श्रुत, और अवधि ज्ञान, को मिथ्याज्ञान कहा जाता है। और जीवमें जब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी तब उसी ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

शंका—मनःपर्यय ज्ञान को मिथ्या ज्ञान क्यों नहीं कहा जाता ?

समाधान—मनःपर्ययज्ञान सम्यग्दर्शन हुए बाद

ही संयमी भावलिंगी मुनि को ही होता है इस कारण से वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही होता है।

मिथ्यादृष्टि की ज्ञान चेतना जैसे मिथ्या ज्ञान कहलाती है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि की दर्शन चेतना मिथ्या नहीं कहलाती है।

शंका—मिथ्यादृष्टि की दर्शन चेतना मिथ्या न होनेका क्या कारण है ?

समाधान—दर्शन चेतना सामान्य अवलोकन करती है, भेद पाड़कर अवलोकन नहीं करती है। इसी कारण सामान्य अवलोकनमें मिथ्या अवलोकन हो नहीं सकता। जहां भेद पाड़कर अवलोकन होता है उसीमें मिथ्या हो जाना संभव है। इसी कारण दर्शन चेतना में मिथ्या का भेद नहीं पड़ता है। दर्शन चेतना निर्विकल्प है और निर्विकल्प में मिथ्या हो नहीं सकता।

प्रश्न—ज्ञानचेतना तथा दर्शनचेतना के भेदमें परोक्ष और प्रत्यक्ष भेद कोनसा है ?

उत्तर—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनः-पर्ययज्ञान एवम् चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन तथा अवधि दर्शन इसको क्षयोपशम चेतना कहते हैं। क्षयोपशम चेतना पराधीन अर्थात् परोक्ष चेतना है केवलज्ञान, केवलदर्शन यह दो चेतना क्षायिक चेतना है अर्थात् कर्मका अभावमें

निरतिसयमत्यय च्युतज व्यवधानं जिनज्ञानम ॥

अर्थ—जिसका ज्ञान क्षायिक अर्थात् असहाय अनन्त तीनों कालके सर्व पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करने वाला निरतिशय विनाशसे रहित और व्यवधानसे मुक्त है, यह प्रत्यक्ष ज्ञानका स्वरूप है। (ध. १–१४२)

प्रश्न—लब्धि और उपयोग किसको कहते हैं ?

उत्तर—मतिज्ञानावरणकर्म, श्रुतज्ञानावरणकर्म, अवधिज्ञानावरणकर्म तथा मनःपर्ययज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे जितना २ ज्ञानका विकास होता है उस विकासका नाम लब्धि है। और उस ज्ञानके व्यापारका नाम उपयोग है। जिस समयमें आत्मा मतिज्ञानसे देखता हैं उसी समयमें मति ज्ञान उपयोग रूप है और श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यय ज्ञान लब्धि रूप हैं, क्योंकि, एक समयमें ज्ञानकी एकही पर्याय होती है एक साथमें दो, तीन, चार पर्यायें नहीं होती हैं। इसी प्रकार जब आत्मा अवधि ज्ञान से देखता है उसी समय मति, श्रुत और मनःपर्यय ज्ञान लब्धि रूपमें है; और अवधिज्ञान उपयोग रूप है। जिस समयमें जीव मति ज्ञानका अवान्तर भेद चक्षु द्वारा देखता है, उसी समयमें चक्षु इन्द्रियमें मतिज्ञान उपयोग रूप है और उसी समयमें स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और मनमें मति ज्ञान लब्धि रूप है।

प्रश्न—जिस समयमें डाक्टर क्लोरोफार्म सुंघाकर आपरेशन करता है उस समयमें आत्मा तदन बेभान अर्थात जड सरीखा हो जाता है। उस समयमें क्या आत्मा ज्ञान रहित हो गया ?

उत्तर—क्लोरोफार्म जड वस्तु है इसके जड इन्द्रियों पर असर करनेसे जड इन्द्रियाँ जो आत्माको देखनेमें निमित्त कारण थी, खराव होजानेसे निमित्तके अभावसे आत्माका ज्ञान उपयोग रूप नहीं होता है परन्तु, उसी समय आत्माका ज्ञान पराधीन होनेसे लब्धि रूप है। इसी प्रकार चारों ही क्षयोपशम ज्ञानकी पराधीनता है।

प्रश्न—जिस प्रकार स्पर्शन इन्द्रियका क्षयोपशम संपूर्ण आत्म प्रदेशोमें उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियोंका क्षयोपशम क्या संपूर्ण आत्म प्रदेशों में उत्पन्न होता है, या प्रति नियत आत्म प्रदेशों में ? आत्मा के संपूर्ण प्रदेशों में क्षयोपशम होता है, यह तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ऐसा माननेपर आत्मा के संपूर्ण अवयवों से रूपादिक की उपलब्धि का प्रसंग आजावेगा। यदि कहाजावे कि संपूर्ण अवयवोंसे रूपादिक की उपलब्धि होती है, ऐसा भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वांगसे रूपादिकका ज्ञान होता हुआ पाया नहीं जाता। इसलिये सर्वांगसे तो क्षयोपशम माना नहीं जाता है

और यदि आत्माके प्रति नियत अवयवों में चक्षु आदि इन्द्रियों का क्षयोपशम माना जाय, सो भी कहना नहीं बनता है, क्योंकि, ऐसा मानलेनेपर आत्मप्रदेश चल भी हैं, अचल भी हैं, और चलाचल भी हैं, इस प्रकार वेदना प्राभृत के सूत्र से आत्मप्रदेशों का भ्रमण अवगत होजाने पर जीव प्रदेशों की भ्रमण रूप अवस्था में संपूर्ण जीवोंका अन्धपने का प्रसंग आ जावेगा।

उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके संपूर्ण प्रदेशों में क्षयोपशमकी उत्पत्ति स्वीकारकी है, क्योंकि आत्मा अखंड द्रव्य है उसके असंख्यात टुकडे नहीं है। परन्तु ऐसा मानलेने पर भी जीवके संपूर्ण प्रदेशोंके द्वारा रूपादिक की उपलब्धिका प्रसंग भी नहीं आता है क्योंकि रूपादिकके ग्रहण करने में सहकारी कारणरूप बाह्य निवृत्ति जीवके संपूर्ण प्रदेशों में नहीं पाई जाती है (ध.१-२३२)

शंका—आत्माका प्रदेश कैसे घूमता है।

समाधान—जैसे पुतली गोल घूमती है इसी प्रकार आत्मा का प्रदेश घूमता है जैसे ज्योतिषचक्र मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देता है वैसे ही आत्म प्रदेशों की प्रदक्षिणा देता है। ज्योतिषचक्र की और कर्मचक्रकी समान चाल है, इस से ही तो ज्योतिष विद्या द्वारा भूत भविष्यत् कर्मका किस प्रकार उदय होगा यह कह सकते हैं।

अवधिज्ञानका विषय रूपी पदार्थ है। परमावधिज्ञानी जीव शुद्ध पुद्गल परमाणु को भी जान सकता है। अरूपी आत्म प्रदेशों के जानने की ताकत अवधिज्ञान में नही है।

मनःपर्ययज्ञानका विषय स्थूल विकारी आत्मिक भावों के जानने का है। आत्माके प्रदेश एवं आत्मिक शुद्ध भाव देखने की मनःपर्ययज्ञानमें भी शक्ति नहीं है।

प्रश्न—१ भव्यमआत्मा २ अभव्यमआत्मा दोनों अनादि मिथ्यादृष्टि हैं इस को मनःपर्ययज्ञानी जान सकता है कि नहीं, कि इसमें भव्य तथा अभव्य कौन है?

उत्तर—यह मनःपर्ययज्ञानी जान नहीं सकता है, क्योंकि मनःपर्ययज्ञानका विषय विकारी भाव जाननेका है। भव्य और अभव्य भाव जीवका विकारी परिणाम नहीं है परन्तु वह तो पारिणामिक भाव है. पारिणामिक भाव जानने की मनःपर्ययज्ञान में शक्ति नहीं है।

शंका—अवधिज्ञानी जान सकता है या नहीं? क्योंकि अवधिज्ञानी तो एक शुद्ध पुद्गल परिमाणुको जान सकता है तो कर्म प्रकृतिकी सत्ता द्वारा वह जान सकता है, कि किसके पासमें मिथ्यात्व कर्म की सत्ता है या नहीं है।

समाधान—उक्त दोनों जीव अनादि के मिथ्यादृष्टि हैं, इस कारण दोनों के पास में मिथ्यात्व कर्म की सत्ता

मोजूद है, और पारिणामिक भाव जाननेकी शक्ति अवधि-ज्ञानमें है नहीं, इसलिये अनादि मिथ्यादृष्टि में कौन भव्य और कौन अभव्य जीव है, इसको अवधिज्ञानी भी नहीं जान सकता है। अभव्य द्रव्य लिंगी के सूक्ष्म मिथ्यात्व रह जाता है वह मात्र केवल ज्ञानगम्य है क्षयोपशम ज्ञानी जान नहीं सकता है।

प्रश्न—दर्शन चेतना और ज्ञान चेतनामें भेद मालुम पड़ता नहीं है क्योंकि जिसके द्वारा देखा जाना जाय उसे दर्शन कहते है। दर्शनका इस प्रकार लक्षण करनेपर ज्ञान और दर्शन में कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अर्थात् दोनों एक हो जाते हैं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि अन्तर्मुख चित्तप्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्तप्रकाशको ज्ञान माना है, इसलिये इन दोनोंके होने में विरोध आता है।

शंका—वह चैतन्य क्या वस्तु है ?

समाधान—त्रिकालविषयक अनन्त पर्यायरूप जीवके स्वरूपका अपने २ क्षयोपशमके अनुसार जो संवेदन होता है उसे चैतन्य कहते है।

शंका—अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थों के ज्ञानको प्रकाश कहते हैं, इसलिये अन्तर्मुख चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाश के होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूप को और

कोई विरोध नहीं आता।

समाधान—ऐसा नहीं है। क्योंकि छद्मस्थोंके दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोग साथ नहीं होते, इसके साथ विरोध आता है।

शंका—छद्मस्थोंके एक साथ दोनों उपयोग क्यों नहीं होते ?

समाधान—छद्मस्थ जीवों के दर्शनोपयोग या ज्ञानोपयोग होनेमें इन्द्रियां नियमसे निमित्त पड़ती हैं, इसलिये जब दर्शनचेतना उपयोग रूप रहती है, उसी समय में निमित्त के अभाव के कारण ज्ञान चेतना लब्धिरूप रहती है, और जब ज्ञान चेतना उपयोग रूप रहती है, उसी समय में दर्शनचेतना लब्धि रूप रहती है। इसलिये छद्मस्थ जीवों की चेतना पराधीन होने से एक साथ कार्य नहीं करती परन्तु क्रम से कार्य करती है।

दूसरी बात यह है, कि सामान्यको छोड़कर केवल विशेष अर्थ क्रिया करने में असमर्थ हैं और जो अर्थक्रिया करने मे असमर्थ होता है वह अवस्तुरूप पड़ता है, अतएव उसका ग्रहण करनेवाला होनेके कारण ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है। तथा केवल विशेषका ग्रहण भी तो नहीं हो सकता है। इस तरह केवल विशेष को ग्रहण करने वाले ज्ञान में प्रमाणता सिद्ध नहीं होने से केवल सामान्य

मोजूद है, और पारिणामिक भाव जाननेकी शक्ति अवधि-ज्ञानमें है नहीं, इसलिये अनादि मिथ्यादृष्टि में कौन भव्य और कौन अभव्य जीव है, इसको अवधिज्ञानी भी नहीं जान सकता है। अभव्य द्रव्य लिंगी के सूक्ष्म मिथ्यात्व रह जाता है वह मात्र केवल ज्ञानगम्य है क्षयोपशम ज्ञानी जान नहीं सकता है।

प्रश्न—दर्शन चेतना और ज्ञान चेतनामें भेद मालुम पड़ता नहीं है क्योंकि जिसके द्वारा देखा जाना जाय उसे दर्शन कहते है। दर्शनका इस प्रकार लक्षण करनेपर ज्ञान और दर्शन में कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अर्थात् दोनों एक हो जाते हैं?

उत्तर—नहीं, क्योंकि अन्तर्मुख चित्तप्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्तप्रकाशको ज्ञान माना है, इसलिये इन दोनोंके होने में विरोध आता है।

शंका—वह चैतन्य क्या वस्तु है?

समाधान—त्रिकालविषयक अनन्त पर्यायरूप जीवके स्वरूपका अपने २ क्षयोपशमके अनुसार जो संवेदन होता है उसे चैतन्य कहते हैं।

शंका—अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थों के ज्ञानको प्रकाश कहते हैं, इसलिये अन्तर्मुख चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाश के होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूप को और

पदार्थ को जानता है उसे ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार की व्याख्या के सिद्ध हो जानेसे ज्ञान और दर्शन में एकता आजाती है, इसलिये उनमें भेद सिद्ध नहीं हो सकता है।

समाधान—ऐसा नहीं है। क्योंकि जिस तरह ज्ञान के द्वारा यह घट है, यह पट है, इत्यादि विशेष रूप से प्रतिनियत कर्म की व्यवस्था होती है उस तरह दर्शन के द्वारा नहीं होती है, इस लिये इन दोनोंमें भेद है।

शंका—यदि ऐसा है तो अन्तरंग सामान्य और बहिरंग सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन है तथा अन्तर्बाह्य विशेषको ग्रहण करने वाला ज्ञान है ऐसा मान लेना चाहिये।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सामान्य अर्थात् आत्मा को अखंड जानना कि जिस जानने में गुणगुणी भेद और गुण पर्यायभेद नहीं है ऐसा मात्र ज्ञायक स्वभाव अर्थात् चैतन्यपिन्ड, मात्र ज्ञानघन, को जानना दर्शन है, जो कि सम्यग्दर्शन का अर्थात् श्रद्धा का विषय है, तथा विशेषात्मक अर्थात् गुणगुणी भेद तथा गुणपर्याय भेद पाड़कर आत्मा को जानना वह ज्ञान है जो क्रमके बिनाही अर्थात् एक समय में ही ग्रहण होता है।

शंका—यदि सामान्य विशेषात्मक वस्तुका क्रमके बिना ही ग्रहण होता है तो वह भी रहा ऐसा मान लेने में

कोई विरोध नहीं आता।

समाधान—ऐसा नहीं है। क्योंकि छद्मस्थोंके दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोग साथ नहीं होते, इसके साथ विरोध आता है।

शंका—छद्मस्थोंके एक साथ दोनों उपयोग क्यों नहीं होते ?

समाधान—छद्मस्थ जीवों के दर्शनोपयोग या ज्ञानोपयोग होनेमें इन्द्रियां नियमसे निमित्त पड़ती हैं, इसलिये जब दर्शनचेतना उपयोग रूप रहती है, उसी समय में निमित्त के अभाव के कारण ज्ञान चेतना लब्धिरूप रहती है, और जब ज्ञान चेतना उपयोग रूप रहती है, उसी समय में दर्शनचेतना लब्धि रूप रहती है। इसलिये छद्मस्थ जीवों की चेतना पराधीन होने से एक साथ कार्य नहीं करती परन्तु क्रम से कार्य करती है।

दूसरी बात यह है, कि सामान्यको छोड़कर केवल विशेष अर्थ क्रिया करने में असमर्थ है और जो अर्थक्रिया करने में असमर्थ होता है वह अवस्तुरूप पड़ता है, अतएव उसका ग्रहण करनेवाला होनेके कारण ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है। तथा केवल विशेषका ग्रहण भी तो नहीं हो सकता है। इस तरह केवल विशेष को ग्रहण करने वाले ज्ञान मे प्रमाणता सिद्ध नहीं होने से केवल सामान्य

को ग्रहण करने वाले दर्शन को भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं। अर्थात जब कि सामान्य रहित विशेष और विशेष रहित सामान्य वस्तुरूप से सिद्ध ही नहीं होते हैं, तो केवल विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान और केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन प्रमाण कैसे माने जा सकते हैं ?

शंका—यदि ऐसा है तो, प्रमाणका अभाव ही क्यो नहीं मान लिया जाय ?

समाधान—यह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रमाणका अभाव मान लेने पर प्रमेय, प्रमाता आदि सभी का अभाव मानना पड़ेगा।

शंका—यदि प्रमेयादि सभी का ही अभाव होता है तो होवो।

समाधान—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रमेयादि का अभाव देखने में नहीं आता है, किन्तु उनका सद्भाव ही दृष्टिगोचर होता है। अतः सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान और सामान्यविशेषात्मक आत्मरूपको ग्रहण करनेवाला दर्शन है, ऐसा सिद्ध हो जाता है।

शंका—उक्त प्रकार से दर्शन और ज्ञानका स्वरूप मानलेने पर 'वस्तुका जो सामान्य ग्रहण होता है उसको

दर्शन कहते हैं' परमागमके इस वचन के साथ विरोध आता है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा संपूर्ण बाह्य पदार्थों में साधारण रूपसे पाया जाता है, इसलिये उक्त वचन में सामान्य संज्ञा को प्राप्त आत्मा का ही सामान्य पदसे ग्रहण किया है। (घ. १–१४६)

आत्मा में अनन्त गुण हैं सर्वगुण स्वतंत्र परिणमन करते हैं कोई गुण किसी गुण के आधीन नहीं है। आत्मामें जितना गुण है उतनाही अगुरुलघु गुण है, इसी कारण कोई गुण किसी गुण में मिल नहीं जाता है। यह अगुरुलघु गुण समय समयमें षट्गुणी हानि वृद्धि लिये आत्माके स्वरूपमें स्थिरताके कारण अगुरुलघु स्वभाव तिसके अविभाग अंश अति सूक्ष्म हैं। जो आगम कथितही प्रमाण कहनेमें आते हैं। उन अगुरुलघु गुण अनन्त गुणोंके द्वारा जितने समस्त जीव हैं, तितने सब ही परिणमन करते हैं, अर्थात् ऐसा कोई जीव नहीं जो अनन्त अगुरुलघु गुण रहित हो, किन्तु सब जीवों में पाये जाते हैं। यह सब जीव प्रदेशों के द्वारा लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी हैं। अर्थात् एक एक जीवमें असंख्यात प्रदेश हैं। उन जीवोंमें से कितने ही जीव किसी एक प्रकार से दंडकपाटादि अवस्थाओं में तीनसो तेतालीस रज्जु प्रमाण घनाकाररूप समस्त लोकके

प्रमाण को प्राप्त हुए हैं। दण्डकपाटादिमें कर्मोंके उदयसे प्रदेशों का विस्तार लोक प्रमाण होता है। इस कारण समुद्घातकी अपेक्षासे केई जीव लोकके प्रमाण अनुसार कहा जाता है और केई जीव समुद्घातके विना सर्वलोक प्रमाण नहीं है, निज २ शरीरके प्रमाण ही है।

शंका—असंख्यात प्रदेश वाले लोकमें अनन्त संख्या वाले जीव कैसे रह सकते हैं ? यदि आकाश के एक एक प्रदेश में एक एक ही जीव रहे तो भी असंख्यात जीव रह सकते हैं ? दूसरी बात यह भी है कि आकाश के एक प्रदेश में एक जीव रहता भी नहीं है, क्योंकि एक जीवकी जघन्य अवगाहना भी अंगुलके असंख्यात भाग मात्र होती है ऐसा वेदना खण्ड के वेदना क्षेत्र विधान नामक अनुयोगद्वारमें प्रतिपादन किया है इसलिए यदि लोकके मध्य में जीव रहते हैं तो वे लोकके असंख्यातवें भाग मात्र ही होने चाहिये ?

समाधान—शङ्काकार का उक्त कथन घटित नहीं होता है क्योंकि, उक्त कथन के मानलेने पर पुद्गलों के भी असंख्यात् पनेका प्रसंग आजाता है।

शंका—पुद्गलों के असंख्यात होनेका प्रसंग कैसे आजावेगा ?

समाधान—लोकाकाश के एक एक प्रदेश में यदि

एक एक ही परमाणु रहे, तो लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण ही परमाणु होंगे, और शेष पुद्गलों का अभाव हो जावेगा। क्योंकि जिन पुद्गलोंको अवकाश नहीं मिला उनका अस्तित्व मानने में विरोध आता है। तथा उन लोक मात्र परमाणुओं के द्वारा कर्म-शरीर घट-पट और स्तम्भादिकों में एक भी वस्तु निष्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि अनन्तानन्त परमाणुओंके समुदायका समागम हुए विना एक अवसन्नासन संज्ञक भी स्कन्धका होना संभव नहीं है।

शंका—एक भी वस्तु निष्पन्न न होवे तो भी क्या हानि है?

समाधान—नहीं! क्योंकि ऐसा मानने पर समस्त पुद्गलद्रव्य की अनुपलब्धि का प्रसंग आवेगा। तथा सर्व जीवोंके एक साथ ही केवलज्ञानकी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है। इस प्रकार का अति प्रसंग दोष न होवे इसलिए अवगाह्यमान जीव और अजीव द्रव्यों की सत्ता अन्यथा न बनसकने से क्षीरकुम्भका मधु कुम्भके समान अवगाहन धर्मवाला लोकाकाश है ऐसा मानलेना चाहिये। (ध-४-२२)

प्रश्न—समुद्घात किसे कहते हैं?

उत्तर—मूल शरीर का अभाव किये विना ही आत्म प्रदेशों का मूल शरीर से बहार निकल जाने को

समुद्‌घात कहते हैं ?

शंका—समुद्‌घात कितने प्रकारका होता है ?

समाधान—समुद्‌घात निम्न प्रकारके होते हैं। केवली समुद्‌घात, वैक्रियक समुद्‌घात, आहारक समुद्‌घात वेदना समुद्‌घात, कषायसमुद्‌घात, मारणान्तिकसमुद्‌घात, तैजस समुद्‌घात।

शंका—वेदना समुद्घात तथा कषायसमुद्‌घात यह दोनों मारणान्तिक समुद्‌घात में अन्तर्भूत क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान—वेदना समुद्‌घात और कषायसमुद्‌घात का मारणान्तिक समुद्‌घातमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्यों कि जिन्होंने परभव की आयु बान्धली है ऐसे जीवोंके ही मारणान्तिक समुद्‌घात होती है, किन्तु वेदना समुद्‌घात और कषाय समुद्‌घात बद्ध आयुष्क जीवोंके भी होती है, और अबद्धायुस्क जीवोंके भी होती है। मारणान्तिक समुद्‌घात निश्चय से आगे जहां उत्पन्न होना है ऐसे क्षेत्रकी दिशा के अभिमुख होता है। किन्तु अन्य समुद्‌घातोंके इस प्रकार एक दिशामें गमन का नियम नहीं है। क्यों कि उनका दशों दिशाओंमें भी गमन होता है। मारणान्तिक समुद्‌घातकी लम्बाई उत्कृष्ट अपने उतपद्यमान क्षेत्रके अन्त तक है, किन्तु इतर समुद्‌घात का यह नियम नहीं है। (ध.-४-२७)

इति भेदज्ञान शास्त्र विषै सामान्य जीव अधिकार समाप्त हुआ।

प्रमाण, नय, निक्षेप, का स्वरूप

लोकके सभी पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है अर्थात् अनंत धर्मात्मक हैं। जब तक सामान्य और विशेषका ज्ञान न हो तब तक जीव पदार्थका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिये सामान्य तथा विशेपका ज्ञान करना इसीका नाम प्रमाण ज्ञान है अर्थात् सम्यगज्ञान है। प्रमाण ज्ञान ही मोक्षमार्ग में साधक है। और मात्र सामान्य का अर्थात् द्रव्य का ज्ञान करना इसीका नाम निश्चय नय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय है तथा विशेषका अर्थात् पर्यायका ज्ञान करना इसी का नाम व्यवहार नय है अर्थात् पर्यायार्थिकनय है। नय ज्ञान एकान्त ज्ञान है और प्रमाणज्ञान ही अनेकान्त है।

प्रश्न—पर्याय भी द्रव्य का भेद है, अवस्तुतो नहीं है उसे व्यवहार किस तरह कह सकते है ?

उत्तर—यह तो सत्य है, परन्तु यहां द्रव्य दृष्टिकर अभेद को प्रधान कर कथन किया जाता है इसलिये अभेद

दृष्टिमें भेद गौण करने से अभेद का ज्ञान अच्छी तरह हो सकता है इस कारण भेद को गौण कर व्यवहार कहा है।

इसलिये मोक्ष मार्गमें प्रथम प्रमाण, नय और निक्षेप का ज्ञान करना वडा ही आवश्यक है। प्रमाणादि श्रुतज्ञान की ही पर्याय हैं।

प्रश्न—प्रमाणादिक का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—कहा भी है कि-

ज्ञानं प्रमाण मित्या हुरुपायो न्यास उच्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्ति तोऽर्थ परिग्रहम्॥

अर्थ—विद्वान लोग सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते है नामादिक के द्वारा वस्तु में भेद करने को न्यास या निक्षेप कहते हैं। और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। इस प्रकार युक्तिसे अर्थात् प्रमाण, नय और निक्षेप के द्वारा पदार्थ का ग्रहण अथवा निर्णय करना चाहिये।

(ध. १-१७)

प्रश्न—प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर—निर्बाध ज्ञानसे विशिष्ट आत्मा को प्रमाण कहते हैं।

प्रश्न—प्रमाण दृष्टिकर आत्मा कैसा है ?

उत्तर—यह आत्मा प्रमाण दृष्टिकर देखा जाय तब एक कालमें अनेक अन्यवस्थारूप भी है, क्योंकि इसके

दर्शन, ज्ञान और चारित्र कर तो तीनपना है और आप कर अपने एकपना है।

प्रश्न—प्रमाण और भावमें क्या भेद है?

उत्तर—स्वगत अर्थात अपने वाच्यगत परिणामके जानने का कारण प्रमाण और इससे विपरीत भाव होता है। इस प्रकार इन दोनोंमें भेद पाया जाता है।

प्रश्न—सकला देश किसे कहते हैं?

उत्तर—"स्यादस्ति" अर्थात "कथंचित है" इत्यादि सात भंगोंका नाम सकला देश है, क्योंकि, प्रमाण निमित्तक होने से इनके द्वारा "स्यात्" शब्दसे समस्त अप्रधान भूत धर्मोंकी सूचना की जाती है। द्रव्य सप्त भंगीका नाम सकला देश है।

प्रश्न—विकला देश किसे कहते हैं।

उत्तर—'अस्ति' अर्थात् 'है' इत्यादि सात वाक्यों का नाम विकला देश है, क्योंकि वह नयोंसे उत्पन्न है। पर्याय सप्त भंगीका नाम विकला देश है। (ध.९–१६५)

प्रश्न—निक्षेप किसको कहते हैं?

उत्तर—संशय विपर्यय और अनध्यवसाय में अवस्थित वस्तुको उनसे निकालकर जो निश्चयमें क्षेपण करता है उसे निक्षेप कहते हैं। अथवा बाहरी पदार्थ के विकल्प को निक्षेप कहते हैं, अथवा अप्रकृत का निराकरण करके

प्रकृत का प्ररूपण करनेवाला निक्षेप है। कहा भी है कि—

अपगयणिवारणट्ठ पयदस्स परूवणा निमित्तं च।
संसय विणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ॥ १ ॥

अर्थ—अप्रकृतके निवारण करने के लिये प्रकृतके प्ररूपण करने के लिए और तत्वार्थ के अवधारण करने के लिये निक्षेप किया जाता है। (घ. ४—२)

बाह्य अर्थके विकल्पों की प्ररूपणा अथवा अनधिगत पदार्थ के निराकरण द्वारा अधिगत अर्थ की प्ररूपणा का नाम निक्षेप है।

शंका—निक्षेप बिना प्ररूपणा क्यों नहीं की जाती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उसके बिना प्ररूपणा बन नहीं सकती।

निक्षेप चार प्रकार का है। नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप द्रव्य निक्षेप और भावनिक्षेप। इनमें आदि के तीन निक्षेप 'द्रव्यार्थिकनय' के आश्रित हैं, क्योंकि, उन तीनके अन्वय देखे जाते हैं और भावनिक्षेप 'पर्यायार्थिकनय' के निमित्त से होनेवाला है, क्योंकि, वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्य को भाव स्वीकार किया गया है। कहा भी है कि—

णामं ठवणा दवियंति एस, दव्वट्ठियस्स णिक्खेवो।
भावो दुपज्जवट्ठिय परूवणा हस परमट्ठो ॥६५॥

अर्थ—नाम, स्थापना और द्रव्य यह तीन द्रव्यार्थिक

नयके निक्षेप हैं, किन्तु भाव पर्यायार्थिकनयका निक्षेप है, यह परमार्थ सत्य है।

अब निक्षेप का अर्थ करते हैं—नाम ज्ञान अपने आपमें रहने वाला ज्ञान शब्द है। 'वह यह है' इस प्रकार अभेदसे सकल्पित सद्भाव व असद्भावरूप अर्थ स्थापना ज्ञान है। द्रव्यज्ञान आगम और नोआगम के भेदसे दो प्रकार का है। ज्ञान प्राभृत का जानकार उपयोग से रहित जीव आगम द्रव्यज्ञान हैं, क्योंकि यहां नैगमनयका अवलम्बन है। ज्ञायक शरीर, भव्य और तदव्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यज्ञान के भेदसे नोआगम द्रव्यज्ञान तीन प्रकारहै। ज्ञानकी हेतुभूत पुस्तक आदि द्रव्य, तदव्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यज्ञान है। ज्ञान प्राभृतका जानकार उपयोग युक्त जीव भावागम ज्ञान हैं। (ध. ६–१८४)

शंका—नाम द्रव्यार्थिक नयका निक्षेप कैसे है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि पर्यायार्थिक नयमें क्षणक्षणी होनेसे शब्द और अर्थकी विशेषतासे संकेत करना न बन सकने के कारण वाच्य-वाचक भेदका अभाव है।

शंका—तो फिर तीनों ही शब्दका व्यवहार कैसे होता है ?

समाधान—अर्थगत भेदकी अप्रधानता रखनेवाले उक्त नयों के शब्द व्यवहार में कोई विरोध नहीं है ?

शंका—स्थापना द्रव्यार्थिक नयका विषय कैसे है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अर्थका उसके द्वारा ग्रहण होने पर स्थापना बन सकती है। स्थापना दो प्रकार की होती है। १ तदाकार २ अतदाकार। भगवान महावीर की पाषाणादिक की प्रतिमा में भगवान महावीर के गुणों की स्थापना करना तथा चावल, पुष्प लवंगादि में भगवान महावीर के गुणोंकी स्थापना करना यह दोनों ही अतदाकार स्थापना है और तदरूपज्ञान की अवस्था होना तदाकार स्थापना है। यह स्थापना में भाव की प्रधानता है। स्थापना निक्षेप में जिस वस्तु में स्थापना की है उसको देखा नहीं जाता है परन्तु भाव देखा जाता है। जैसे चांवल में केसर लगाकर उसमें पुष्प की स्थापना की जाती है और उसको भाव में पुष्प ही माना जाता है, यद्यपि पदार्थ पुष्प नहीं है तो भी भाव अन्य प्रकार का होता है उसी का नाम स्थापना निक्षेप है।

द्रव्यश्रुत ज्ञान भी द्रव्यार्थिक नयका विषय है, क्योंकि, आधार और आधेयके एकत्वकी कल्पना से द्रव्यश्रुत का ग्रहण किया गया है। भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नयका विषय है, क्योंकि, वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य का यहां भावसे ग्रहण किया गया है। (ध. ९-१८६)

वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य भाव कहा जाता है, सो यह भाव द्रव्यार्थिक नय का विषय नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा होने पर पर्यायार्थिक नय के निर्विषय होने का प्रसंग आता है।

शंका—निक्षेप किस अपेक्षा से सत्यासत्य है?

समाधान—निक्षेप भी नाम, स्थापना द्रव्य और भावके भेद से चार तरह का है। जिसमें गुणतो न हो और व्यवहार के लिये उसकी संज्ञा करना यह नाम निक्षेप है। अन्य वस्तु में अन्य की प्रतिमा रूप स्थापना करना कि "यह वोही है" यह स्थापना निक्षेप है। वर्तमान पर्यायसे अन्य अतीत, अनागत पर्याय रूप वस्तुको वर्तमान पर्याय से कहना यह द्रव्य निक्षेप है, और वर्तमान पर्यायरूप वस्तुको वर्तमानमें कहना यह भाव निक्षेप है। ये चारोंही निक्षेप अपने अपने लक्षण भेदसे जुदे जुदे विलक्षण रूप अनुभव किये गये 'भूतार्थ' हैं सत्यार्थ हैं, और भिन्न लक्षण से रहित एक अपने 'चैतन्य' लक्षणरूप जीवके स्वभावका अनुभव करने पर चारोंही 'अभूतार्थ' हैं 'असत्यार्थ' हैं।

निक्षेपादिक का ज्ञान विना वर्ण्यमान विषय कदाचित वक्ताको उत्पथ में ले जावे इसलिये सभी का ज्ञान करना उचित है। कहा भी है कि—

प्रमाण नयनिक्षेपेर्यो ऽर्थो नाभि समीक्ष्यते ।
युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत् ॥

अर्थ—प्रमाण, नय, निक्षेप के द्वारा जिसका सूक्ष्म विचार नहीं किया जाता है, वह युक्त होते हुए भी कभी अयुक्तसा प्रतीत होता है, और अयुक्त होते हुए भी कभी युक्तसा प्रतीत होता है। (ध. ३-१२६)

निर्देश ओघ और आदेश के भेदसे दो प्रकार है।

शङ्का—वह निर्देश तीन प्रकार क्यों नहीं होता ?

समाधान—नहीं होता, क्योंकि वचनका प्रयोग पर के लिये होता है, और पेर भी दो नयोंको छोड़कर के हैं नहीं, जिससे तीन प्रकार या एक प्रकार प्ररूपणा हो सके। ओघ निर्देश द्रव्यार्थिक नय वाले का और इतर अर्थात् आदेश निर्देश पर्यायार्थिक नय वालों का अनुग्रह कर्ता है। (ध. ८-३)

प्रश्न—नय किसे कहते हैं ?

उत्तर—ज्ञाता के अभिप्रायको नय कहते हैं।

शङ्का—अभिप्राय इसका क्या अर्थ है ?

समाधान—प्रमाण से गृहीत वस्तु के एक देशमें वस्तुका निश्चय ही अभिप्राय है।

युक्ति अर्थात् प्रमाणसे अर्थ के ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्यायों में से किसी एक के अर्थ रूप से ग्रहण

करने का नाम नय है। प्रमाण से जानी हुई वस्तुके द्रव्य अथवा पर्याय में वस्तु के निश्चय करने को नय कहते हैं, यह इसका अभिप्राय है।

प्रमाण ही नय है ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। परन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने पर नयोंके अभाव का प्रसंग आता है। यदि कहा जाय कि नयों का अभाव हो जाय सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा होने पर देखे जाने वाले 'एकान्त व्यवहार' के लोप होनेका प्रसंग आवेगा।

दूसरे 'प्रमाण' नय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय 'अनेक धर्मात्मक' वस्तु है। न नय प्रमाण हो सकता है, क्योंकि, उसका 'एकान्त' विषय है। और 'ज्ञान एकान्तको' विषय करने वाला है नहीं, क्योंकि 'एकान्त निरूप' होने से 'अवस्तु' स्वरूप है, अतः वह कर्म नहीं हो सकता। तथा नय 'अनेकान्तको' विषय करने वाला नहीं है, क्योंकि, 'अवस्तुमें वस्तुका' आरोप नहीं हो सकता।

अनुमान भी एकान्तको विषय नहीं करता जिससे कि उसे नय कहा जा सके, क्योंकि, वह भी उपर्युक्त न्यायसे 'अनेकान्तको' विषय करने वाला है। इसलिये 'प्रमाण' नय नहीं है, किन्तु प्रमाणसे जानी हुई वस्तु के एक देशमें

वस्तुत्वकी विवक्षाका नाम नय है यह सिद्ध हुआ। (ध. ६. १६२)

'नय का स्वरूप':—

'पुज्यपाद भट्टारक' ने भी सामान्य नय का लक्षण यही कहा है। वह इस प्रकार है:—

प्रमाणसे प्रकाशित जिवादिक पदार्थों की पर्यायोंका प्ररूपण करने वाला नय है। इसीको स्पष्ट करते हैं— प्रकर्ष से अथवा संशयादिसे रहित वस्तुका ज्ञान प्रमाण है, अभिप्राय यह है कि जो समस्त धर्मों को विषय करने वाला हो वह प्रमाण है। उससे प्रकाशित अर्थात् प्रमाण से गृहीत उन अस्तित्व, नास्तित्व व नित्यत्व, अनित्यत्वादि अनन्त धर्मादिक जीवादि पदार्थों के जो विशेष अथवा पर्याय हैं उनका प्रकर्ष से अर्थात् दोषों के सम्बन्ध से रहित होकर निरूपण करने वाला नय है तथा

'प्रभाकर भट्ट' ने भी कहा है कि प्रमाण के आश्रित परिणाम भेदोंसे वसीकृत पदार्थ विशेषोंके प्ररूपणमें समर्थ जो प्रयोग होते हैं वह नय हैं। उसको स्पष्ट करते हैं— जो प्रमाण के आश्रित है, तथा उसके आश्रय से होने वाले ज्ञाता के भिन्न भिन्न अभिप्रायोंके आधीन हुए पदार्थ विशेषों के प्ररूपण में समर्थ ऐसे प्रणिधान अर्थात् प्रयोग अथवा व्यवहारस्वरूप प्रयोक्ताका नाम नय है। वह नय

पदार्थों के यथार्थ परिज्ञान का निमित्त होने से मोक्षका कारण है। यहां श्रेयस शब्दका अर्थ मोक्ष और अपदेश शब्द का अर्थ कारण है। नयों को जो मोक्षका कारण बतलाया है उसका हेतु पदार्थोंकी यथार्थोपलब्धि निमित्तता है।

सारसंग्रहमें श्री पूज्यपादस्वामीने कहा है कि अनन्त पर्याय स्वरूप वस्तुकी किसी एक पर्यायका ज्ञान करते समय श्रेष्ठ हेतुकी 'अपेक्षा' रखने वाला निर्दोष प्रयोग नय कहा जाता है।

श्री समन्त भद्र स्वामी ने आप्त मीमांसा में गाथा १०६ में कहा है कि 'स्याद्वाद' से प्रकाशित पदार्थों की पर्यायों को प्रगट करने वाला नय है। इस कारिकाके उत्तरार्ध में प्रयुक्त 'स्याद्वाद' शब्दका अर्थ कारण में कार्य का उपचार करने से प्रमाण होता है। उस प्रमाण से प्रवि-भक्त अर्थात् प्रकाशित जो पदार्थ है उनके विशेष अर्थात् पर्यायों का जो श्रेष्ठ हेतुके बल से व्यंजक अर्थात् प्ररूपण करता हो वह नय है। (ध. ६-१६५)

प्रश्न—नय कितने प्रकार का है ?

उत्तर—नय दो प्रकार का है। १ द्रव्यार्थिकनय अर्थात निश्चयनय २ पर्यायार्थिक नय अर्थात् व्यवहार नय। उनमें से जो द्रव्य पर्याय स्वरूप वस्तुको द्रव्यपनेकी

मुख्यतासे अनुभव करावे वह द्रव्यार्थिक नय है। और पर्यायकी मुख्यतासे अनुभव करावे वह पर्यायार्थिक नय है।

शंका—द्रव्यार्थिक नय में विद्यमान पर्यायोंका अभाव कैसे होता है ?

समाधान—यह कौन कहता है कि उनका वहां अभाव होता है, किन्तु वे वहां अप्रधान=अविवक्षित अथवा अनर्पित है, इसलिये उनके द्रव्यपना ही है, पर्यायपना नहीं है।

शंका—द्रव्यार्थिक नय के वश से द्रव्य से भिन्न पर्यायोंके द्रव्यत्व कैसे संभव है ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, पर्यायें द्रव्यसे सर्वथा भिन्न नहीं पाई जाती, किन्तु द्रव्य स्वरूप ही से उपलब्ध होती हैं।

शंका—द्रव्यार्थिककी अपेक्षा पर्यायों में अभावका व्यवहार कैसे होता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो है, वह दोनों का अतिक्रमण कर नहीं रहता (ध. ८—३६)

प्रश्न—दोनों नय किस अपेक्षासे सत्यासत्य हैं ?

उत्तर—दोनो ही नय द्रव्य पर्याय को भेदरूप पर्यायकर अनुभव कराते हुए तो 'भूतार्थ' हैं, 'सत्यार्थ'

हैं, और द्रव्य पर्याय इन दोनों को ही नहीं छूता हुआ ऐसे शुद्ध वस्तु मात्र जीवके स्वभाव 'चैतन्य' मात्र का अनुभव करने पर भेदरूप अभूतार्थ है 'असत्यार्थ' है।

प्रश्न—निश्चय नय किसको कहते हैं।

उत्तर—निश्चय नय का स्वरूप निम्न प्रकार कहा है कि—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्ण यं णियदं।
अविसेसम संजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो नय (आत्मानं) आत्मा को (अबद्धस्पष्टं) बन्ध रहित परके स्पर्श रहित (अनन्यं) अन्यपने रहित (नियत्तं) चलाचलता रहित (अविशेषं) विशेष रहित (असंयुक्तं) अन्यके संयोग रहित ऐसे पांच भाव रूप (पस्यति) अवलोकन करता है (देखता) है (तं) उसे हे शिष्य ! तू (शुद्धनयं) शुद्धनय (विजानीहि) जान।

जो निश्चय से अबद्ध, अस्पष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त, ऐसा आत्मा का अनुभव करना वही शुद्ध नय है। यह अनुभूति निश्चयसे आत्मा ही हैं। ऐसा आत्मा ही एक प्रकाश मान हो वह निश्चयनय है।

प्रश्न—निश्चयनय कर आत्मा कैसा ?

उत्तर—निश्चयनय कर आत्मा का स्वरूप निम्न

प्रकार है। कहा है कि—

परमार्थेन तु व्यक्त ज्ञातृत्व ज्योतिषैककः।

सर्वभावान्तरध्वंसि स्वभावत्वाद मेचकः॥ १८ ॥

अर्थ—शुद्ध निश्चयनय कर दिखा जाय तब प्रगट ज्ञायक ज्योति मात्र कर आत्मा एक स्वरूप है क्योंकि इसका शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कर सभी अन्य द्रव्यों के स्वभाव तथा अन्यके निमित्त से हुये विभावों का दूर करने रूप स्वभाव है। इसलिये अमेचक है शुद्ध एकाकार है

प्रश्न—व्यवहार दृष्टिकर आत्मा कैसा है ?

उत्तर—व्यवहार दृष्टिकर देखा जाय तब आत्मा एक है तो भी तीन स्वभाव पनेसे अनेकाकाररूप है क्योंकि दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीन भावोंसे परिणमता है। कहा भी है कि,

दर्शन ज्ञानचारित्रै स्त्रिभिः परिणतत्वतः।

एकोपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः॥१७॥

प्रश्न—दोनों नयों में कौनसा नय सत्य है ?

उत्तर—दोनों नय परस्पर विरोधी है। अर्थात् निश्चय नयकी अपेक्षा निश्चयनय सत्य है परन्तु व्यवहार नयकी अपेक्षा निश्चयनय असत्य है। इसी प्रकार व्यवहारनयकी अपेक्षासे व्यवहारनय सत्य है परन्तु निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय असत्य है। कहा भी है कि—

उभयनय विरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके,
जिन वचसि रमंते ये स्वयंवांतमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योति रुच्चैरनवम्
नयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥४॥ (स-क)

अर्थ--निश्चय व्यवहार रूप जो दो नयके विषयके भेदसे आपसमें विरोध है, उस विरोधको दूर करनेवाला "स्यातपदकर चिन्हित जो जिन भगवान का वचन उसमें जो पुरुष रमते हैं-प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करते हैं, वह पुरुष विना कारण अपने आप मिथ्यात्व कर्मका उदय का वमन कर इस अतिशय रूप परम ज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को शीघ्र ही अवलोकन करते हैं। कैसा है समयसार रूप शुद्ध आत्मा ? नवीन नहीं उत्पन्न हुआ है, पहले कर्म से आच्छादित था वह प्रगट ज्योतिरूप व्यक्त हो गया है। फिर कैसा है ? सर्वथा एकान्तरूप कुनयकी पक्षकर खण्डित नहीं होता निर्बाध है।

प्रश्न--निश्चयनको ही सत्यार्थ और व्यवहारनयको ही असत्यार्थ मानने में क्या दोष है ?

उत्तर--शुद्ध नयको जो सत्यार्थ कहा है, इस कारण वह अशुद्धनय अर्थात् व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ ही है। ऐसा नहीं समझलेना। ऐसा मानने से वेदान्त मतवाले संसार को सर्वथा अवस्तु मानते हैं उनका सर्वथा एकान्त

पक्ष आ जायगा, तब मिथ्यात्व आजायगा। उस समय इस शुद्ध नयका भी अवलम्बन उन वेदान्तियों की तरह मिथ्यादृष्टि होजायगा। इसलिए सभी नयों को कथञ्चित रीति से सत्यार्थपने का श्रद्धान करने पर ही सम्यग्दृष्टि होता है। इस तरह स्याद्वाद को समझ जिनमतका सेवन करना मुख्य गौण कथन सुनकर सर्वथा एकान्त पक्ष न पकड़ लेना।

प्रश्न—व्यवहारनय क्या अभूतार्थ ही है ?

उत्तर—अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय शुद्ध द्रव्य की दृष्टि में अशुद्ध नय भी पर्यायार्थिक ही है, इसलिये व्यवहारनय है ऐसा आशय जानना। यहां ऐसा भी जानना की जिनमत का कथन स्याद्वाद रूप हैं। इसलिये शुद्धता और अशुद्धता दोनों वस्तु के धर्म है, वह वस्तुका सत्व है, परद्रव्य के संयोगसे ही हुवा भेद है। अशुद्ध नय को असत्यार्थ कहने से ऐसा तो नहीं समझना कि यह वस्तु धर्म सर्वथा ही नहीं, आकाश के फूल की तरह है। ऐसा सर्वथा एकान्त समझनेसे मिथ्यात्व आता है। इसलिए स्याद्वाद का शरण ले शुद्धनयका अवलम्बन करना चाहिये। स्वरूप की प्राप्ति होनेके बाद शुद्धनयका भी अवलम्बन नहीं रहता। जो वस्तु स्वरूप है वह यह प्रमाण दृष्टि है। प्रमाण दृष्टि का फल वीतरागता है ऐसा निश्चय करना योग्य है।

प्रश्न—व्यवहार नयको एकान्त असत्यार्थ मानने में क्या दोष है ?

उत्तर—निश्चयनय तो जीव को शरीर और रागद्वेष मोहसे भिन्न कहती है। यदि इसका एकान्त किया जावे तब शरीर तथा रागद्वेष मोह पुद्गलमय ठहरे तब पुद्गल के घात से हिंसा नहीं हो सकती है ऐसे राग द्वेष मोहसे बन्ध नहीं हो सकता है। इस तरह परमार्थ से संसार मोक्ष दोनों का अभाव हो जायगा। ऐसा एकान्त स्वरूप वस्तुका स्वरूप नहीं है। अवस्तु का श्रद्धान ज्ञान आचरण मिथ्या अवस्तु रूप है इसलिए व्यवहार का उपदेश न्याय प्राप्त है।

प्रश्न—दोनों नयोंमें कौनसा नय कार्यकारी है ?

उत्तर—अपने अपने पद में अर्थात् अपनी अपेक्षा में दोनों ही नय कार्यकारी हैं क्योंकि तीर्थ और तीर्थके फल की ऐसी ही व्यवस्थिति है। जिससे तिरा जावे वह तीर्थ है ऐसातो व्यवहार धर्म हैं, और जो पार होना वह व्यवहार धर्मका फल है, अथवा अपना स्वरूपका पाना वह तीर्थ फल है। ऐसा ही दूसरी जगह कहा है कि—

जइ जिणमयं पवज्जह तामा ववहारणिच्छए मुयए।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अन्णेण ऊण तच्च ॥

अर्थ—जो तुम जिनमत में प्रवर्तना चाहते हो तो

व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंको मत छोड़ो क्यों-कि एक व्यवहार नय के बिना तो तीर्थ, व्यवहार मार्ग का नाश होजायगा। और दूसरी निश्चयनयके बिना तो (तीर्थफल) तत्त्व (वस्तुका) नाश हो जायगा।

प्रश्न—व्यवहारनय कब तक प्रयोजनवान है?

उत्तर—व्यवहारनय वीतराग दशा की जब तक प्राप्ति न हुई हो तब तक प्रयोजनवान है। कहा भी है कि:—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह
निहितपदानां हंत हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित्॥५॥(स-क)

अर्थ—जो व्यवहार नय है वह यद्यपि इस पहली पदवी में (जब तक शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति न हुई तब तक) जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषों को हस्तावलंब तुल्य कहा है, सो बड़ा खेद है। तो भी जो पुरुष चैतन्य चमत्कारमात्र, परद्रव्य भावोंसे रहित परम 'अर्थ' (शुद्धनयका विषयभूत) को अन्तरंगमें अवलोकन करते हैं, उसका श्रद्धान करते हैं, तथा उस रूप लीन हुए चारित्र भावको प्राप्त होते हैं, उनको यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है।

प्रश्न—कौनसा नय मिथ्या और सत्य है।

उत्तर--मिथ्या तथा सत्यनयका स्वरूप निम्न प्रकार है। कहा भी है कि:--

मिथ्यासमूहो मिथ्याचेन्न मिथ्यैकान्ततास्तिनः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत् ॥

अर्थ--मिथ्या नयों का विषय समूह मिथ्या है ऐसा कहने पर उत्तर देते हैं कि मिथ्या ही हो, ऐसा हमारे यहां एकान्त नहीं है। किन्तु परस्पर की अपेक्षा रखनेवाले वे वास्तव में अभीष्ट सिद्धि के कारण हैं। (ध. ६-१८२)

नामादिक व्यवहार दो नयोंके आश्रित होने से व्यवहारों की सत्यता प्रगट करता है। यदि यहां कहा जावे कि दोनों प्रकार के नयों के निमित्तसे होनेवाला संव्यवहार मिथ्या है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा पाया नहीं जाता। और दुर्नयों के सत्यता हो नहीं सकती, क्योंकि वह प्रतिपक्ष भूत विषयोंका सर्वथा निषेध करते हैं इसलिये स्वविषयोंका अभाव होनेसे उनके सत्यता रह नहीं सकती। इसी कारण दुर्नय संव्यवहार के कारण नही हैं।

शंका--सुनयोंके अपने विषयों की व्यवस्था कैसे सम्भव है?

समाधान--चूंकि, सुनय सर्वथा प्रतिपक्षभूत विषयों का निषेध नहीं करते, अतः उनके गौणता और प्रधानता की अपेक्षा प्रमाण बाधा के दूर करनेसे उक्त विषय व्यवस्था

भले प्रकार सम्भव है।

शंका—जबकि एकान्त अवस्तु स्वरूप है, तब वह व्यवहारका कारण कैसे हो सकता है?

समाधान—अवस्तु स्वरूप एकान्त संव्यवहार का कारण नहीं है, किन्तु उसका कारण प्रमाणसे विषय किया गया अनेकान्त है क्योंकि वह वस्तु स्वरूप है।

शंका—यदि ऐसा है तो फिर सब संव्यवहार का कारण नय कैसे हो सकता है?

समाधान—कौन ऐसा कहते हैं कि नय सब संव्यवहारका कारण है। प्रमाण और प्रमाणसे विषय किये गये पदार्थ भी समस्त संव्यवहारका कारण है, किन्तु प्रमाण निमित्तक सब संव्यवहार नय स्वरूप है, ऐसा हम कहते हैं। क्योंकि सब संव्यवहारमें गौणता और प्रधानता पायी जाती है। अथवा प्रमाणसे नयोंकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि वस्तुके अज्ञात होने पर उसमें गौणता और प्रधानता का अभिप्राय बनता नहीं है और नयोंसे संव्यवहार की उत्पत्ति होती है, क्योंकि अपने अभिप्राय के वश से एक व अनेक रूप व्यवहार पाया जाता है। इस कारण नय भी संव्यवहार का कारण है ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है।

संका—संव्यवहार नय स्वरूप ही है, ऐसा क्यों है?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा स्वभाव है तथा अन्य

प्रकारसे व्यवहार करने के लिए और कोई उपाय नहीं है।
(ध. ६-२३६)

प्रश्न—निश्चय तथा व्यवहार नय में किस प्रकारका विरोध है ?

उत्तर—व्यवहार नय कहता है कि जीव कर्मसे बंधा हुआ है, जब कि निश्चय नय कहता है कि जीव कर्मसे बंधा हुआ नहीं है। इस तरह दो नयोंके दो पक्ष हैं। इस तरह दोनों नयों का जिसके पक्षपात है वह तत्त्ववेदी नहीं है। जो तत्त्ववेदी (तत्त्वका स्वरूप जानने वाला) है, वह पक्षपात से रहित है, नयमें खेंचतारण नहीं करता है, उसही पुरुषका चिन्मात्र आत्मा चिन्मात्र ही है उसमें पक्षपात से कल्पना नहीं करता। इसी प्रकार व्यवहार नय कहता है कि जीव मोही है तब निश्चयनय कहता है कि जीव मोही नहीं है। व्यवहार नय कहता है कि जीव रागी है जब कि निश्चय नय कहता है कि जीव रागी नहीं है। व्यवहार नय कहता है कि जीव द्वेषी है, जब कि निश्चय नय कहता है कि जीव द्वेषी नहीं है। व्यवहार नय कहता है कि जीव कर्ता है, जब निश्चयनय कहता है कि जीव कर्ता नहीं है। व्यवहार नय कहता है कि जीव भोक्ता है, जब कि निश्चय नय कहता है कि जीव भोक्ता नहीं है व्यवहार नय कहता है कि जीव सूक्ष्म नहीं है जब कि निश्चय

नय कहता है कि जीव सूक्ष्म है। व्यवहारनय कहता है कि जीव अनेक है, जब कि निश्चयनय कहता है कि जीव एक है। व्यवहार नय कहता है कि जीव अनित्य है जब कि निश्चय नय कहता है कि जीव नित्य है। व्यवहार नय कहता है कि जीव सान्त अर्थात् अंत सहित है, जब निश्चय नय कहता है कि जीव अंत रहित है। इसी प्रकार दोनों नयों में पक्षपात है। जीव और पुद्गल कर्म के एक बंध पर्यायपने से देखाजाय अर्थात् संयोग सम्बन्धसे देखा जाय तो जीव बंधा ही है परन्तु जीव तथा पुद्गल कर्मके अनेक द्रव्य पनेकर देखाजाय अर्थात् समवाय सम्बन्धसे देखाजाय तो जीव बंधा हुआ नहीं है, अत्यंत भिन्न है। इसी प्रकार दोनों नयों से देखना वही प्रमाण है। वही प्रमाण नय सम्यग्दृष्टि के ही होता है। मात्र एक नयके ही पक्षवाले मिथ्यादृष्टि है। जो जीव नयके पक्षपात को छोड़ अपने स्वरूप में लिप्त हो कर निरंतर स्थिर होते हैं वही पुरुष विकल्प के जाल से रहित शांत चित्त हुए साक्षात् अमृत को पीते हैं अर्थात् वही जीव मोक्ष को पा सकते हैं। जो निश्चयकर जीव में कर्म बधे हुए हैं ऐसा कहना तथा जीवमें कर्म नहीं बंधे हुए हैं ऐसा कहना यह दोनों ही विकल्प नय पक्ष है। जो इस नय पक्ष के विकल्पको उलंघ के वर्तता है अर्थात् छोड़ता है वही समस्त विकल्पों

से दूर रहता है। वही आप निर्विकल्प एक विज्ञानघन स्वभाव रूप होकर साक्षात् परमात्मा हो जाता है। प्रथम तो जो जीवमें कर्म बंधा है ऐसा विकल्प करता है वह "जीव में कर्म नहीं बंधा है" ऐसा एक पक्ष को छोड़ता हुआ भी विकल्पको नहीं छोड़ता और जो जीवमें कर्म नहीं बंधा है ऐसा विकल्प करता है वह 'जीवमें कर्म बंधा है' ऐसे विकल्परूप एक पक्षको छोड़ता हुआ भी विकल्प को नहीं छोड़ता, और जो जीवमें कर्म बंधा भी है तथा नहीं बंधा भी है ऐसा विकल्प करता है वह उन दोनों ही नयपक्षको नहीं छोड़ता हुआ विकल्प को नहीं छोडता। इसलिये जो सभी नय पक्षको छोड़ता है वही समस्त विकल्पोंको छोड़ता है तथा वही आत्माको अनुभवता है।

प्रश्न—क्या व्यवहार नय सर्वथा असत्यार्थ ही है?

उत्तर—व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं मानना चाहिये किन्तु कथंचित् अर्थात् निश्चय की अपेक्षा से असत्यार्थ मानना चाहिये। क्योंकि जब एक द्रव्यको जुदा पर्याय से अभेदरूप असाधारण गुणमात्र को प्रधान कर कहा जाय तब परस्पर द्रव्योंका निमित्त-नैमित्तिक भाव तथा निमित से हुई पर्यायें सब गौण हो जाती हैं। उस एक अभेद द्रव्य दृष्टिमें उनका प्रतिभास नहीं होता है इसलिये यह सब उस द्रव्य में नहीं है। इस तरह कथंचित्

निषेध किया जाता है। यदि उस द्रव्यमें कहा जाय तो व्यवहार नय से कह सकते हैं। ऐसा नय विभाग है। निश्चयनयकी दृष्टिसे रागादिक जीवका नहीं है, परन्तु व्यवहार नयकी दृष्टि से रागादिक जीवका ही है, जीवका ही अनन्य परिणाम है। निमित्तनैमित्तिक भावकी दृष्टि से देखा जाय तो रागादिक जीवका ही है। यदि सर्वथा असत्यार्थ कहें तो सब व्यवहार का लोप हो जाय और तब मोक्षका भी लोप हो जाय। इसलिये जिन देवका उपदेश स्याद्वादरूप ही समझना सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा एकान्त करना मिथ्यात्व है।

प्रश्न—नयोंका क्या सार है।

उत्तर—जो कर्म नयके अवलम्बनमें तत्पर हैं अर्थात उसके पक्षपाती हैं वे भी डूबते हैं। जो ज्ञानको तो जानते ही नहीं और ज्ञान नयके पक्षपाती (इच्छुक) हैं वे भी डूबते हैं। जो क्रियाकाण्ड को छोड़ स्वछंद हैं, प्रमादी हुए स्वरूपमें मंद उद्यमी हों वे भी डूबते हैं। और जो आप निरंतर (हमेशा) ज्ञान रूप हुए कर्म को तो करते नहीं तथा प्रमाद के वश भी नहीं होते, स्वरूपमें उत्साहवान हैं वही जीव सब लोकके ऊपर तैरते हैं अर्थात् अपना कल्याणकर सिद्ध पदको पाते हैं—यही सार है।

प्रश्न—व्यवहार कितने प्रकार का है ?

उत्तर—व्यवहार अनेक प्रकारका है। १ सद्भूत व्यवहार २ असद्भूत व्यवहार ३ असद्भूत अनउपचरित व्यवहार ४ असद्भूत उपचरित व्यवहार।

प्रश्न—सद्भूत व्यवहार किसको कहते हैं?

उत्तर—आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुण हैं ऐसा कहना सद्भूत व्यवहार है। आत्मामें केवलज्ञान है, आत्मा में केवल दर्शन है, आत्मा में अनंतसुख है, आत्मा वीतरागी है, आत्मा सिद्ध है इत्यादि कहना सद्भूत व्यवहार है।

प्रश्न—असद्भूत व्यवहार किसको कहते हैं?

उत्तर—आत्मा में मति, श्रुति, अवधि, और मनःपर्यय ज्ञान है। आत्मामें क्रोध मान माया और लोभ होता है इत्यादि कहना असद्भूत व्यवहार कहा जाता है?

प्रश्न—असद्भूत अनुउपचरित व्यवहार किसको कहते हैं?

उत्तर—आत्मा में छह पर्याप्ति होती हैं। आत्मा दश प्राणों से जीता है आत्मा ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मको बांधता है अर्थात् कर्मका कर्ता है। आत्मा देव मनुष्य तिर्यंच नारकी होता है। आत्मा औदारिक वैक्रियक, आहारक, कार्माण शरीर में रहता है। आत्मा एकेन्द्रिय द्वींद्रिय, त्रींद्रिय चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय होता है, आत्मा

संज्ञी असंज्ञी होता है, आत्मा में समचतुस्र संस्थान आदि होता है, आत्मा में वज्रवृषभनाराच आदि संहनन होता है, आत्मा भोजन खाता है, आत्मा जल पीता है इत्यादि असद्भूत अन्-उपचरित व्यवहार से कहा जाता है।

प्रश्न—असद्भुत उपचरित व्यवहार किसको कहते हैं:—

उत्तर—यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है, यह मेरे पुत्र हैं, यह मेरा मकान है, यह मेरी लक्ष्मी है, यह मेरी मित्र है, यह मेरा ग्राम है, केवली भगवान लोकालोकको देखता है इत्यादि असद्भूत उपचरित व्यवहार नय से कहा जाता है।

इसमें कौनसा व्यवहार अभूतार्थ है? विचार करना चाहिये। व्यवहार अपेक्षा से व्यवहार सत्य ही है। परन्तु निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार असत्य ही है। इसीप्रकार निश्चयकी अपेक्षा से निश्चय सत्य ही है परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से निश्चय असत्य ही है। ऐसा ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है। एकान्त नयवाद मिथ्यात्व है।

शंका—श्री पंचाध्यायी के प्रथम अध्याय की गाथा ५६७ में यह शरीर मेरा है, मैं कर्मों को बांधता हूँ, इत्यादिको नयाभास कैसे कहा?

समाधान—पंचाध्यायी प्रथम अध्याय गाथा ५२५

से व्यवहार नय का स्वरूप प्रतिपादन किया है। वह तादात्म्य संबंधसे अर्थात् समवाय संबंध से किया है इसी कारण संयोग संबन्ध को नयाभास कहा है। वहां तो एक ही द्रव्य का स्वरूप समझाने का अभिप्राय है। इसका यह अर्थ नहीं है कि परद्रव्यों के साथ में अर्थात पुद्गलके साथमें आत्मा का संयोग संबन्ध है ही नहीं। एकमें संसार नहीं एवं विकार भी नहीं, जब तक संयोग सम्बन्ध है तबतक ही संसार है। सिद्ध में संयोग सम्बन्ध नहीं है. वहां संसार भी नहीं है। केवली परमात्मा में अभी संयोग सम्बन्ध है इसलिये वह संसारी ही है। यह तो कथन करने की शैली है। तादात्म्य सम्बन्ध से कथन करने मात्र से संयोग सम्बन्ध मिट नहीं जाता। पदार्थ का ज्ञान करानेके लिये ही नय ज्ञान है। यदि संयोग सम्बन्ध नहीं होता तो पंचाध्यायी के दूसरे अध्याय में भी नयाभास रूप संयोग सम्बन्ध क्यों स्वीकार किया? अमूर्त आत्मा मूर्तीक सराब आदि से पागल क्यों बन जाता है? अमूर्त आत्मा भोजन सामग्री खाने से भूखके दुःखसे कैसे मुक्त हो जाता है? यदि आत्मा खाता नहीं है मात्र विकल्प ही करता है तो एक विकल्प ऐसा करले कि हमने भोजन खालिया ऐसे विकल्पसे भूखका दुःख क्यों नहीं मिटा लेता। इससे सिद्ध हुआ कि जैसी अवस्था है वैसा ही ज्ञान करना सम्यक्

ज्ञान है। अनेक प्रकार से नय विभाग का कथन शास्त्रोंमें किया है इसलिये नयों का ज्ञान करना मोक्षमार्ग में सर्व प्रथम जरूरी है।

आत्मा का व्यवहार आत्मा में ही होता है और पुद्गल का व्यवहार पुद्गल में ही होता है। आत्मा का व्यवहार पुद्गल में न होवे और पुद्गल का व्यवहार आत्मा में न होवे। आत्मा में जो पुण्य और पाप रूप भाव होता है वही आत्मा का व्यवहार है। ऐसा आत्मा का व्यवहार छोड़ना ही धर्म है। समयसार ग्रन्थ में भी यही बात बंध अधिकार में कही है। जैसे—

सभी वस्तुओं में सब अध्यवसान अर्थात् रागादिक भाव है वह जिन भगवान ने त्यागने योग्य कहा है, क्यों कि वह आकुलता रूप ही है। सो सब भाव पर के आश्रय से प्रवर्तने वाले सभी व्यवहार छोड़ने लायक ही है। इस लिये सत्पुरुष है वह सम्यक् प्रकार एक निश्चय को ही अर्थात् ज्ञायक स्वभावी आत्म पिन्ड को जिस तरह हो सके उस तरह अंगीकार कर के शुद्ध ज्ञान स्वरूप अपनी आत्म स्वरूप महिमा में स्थिर होना यही परम धर्म है। यही सुख का मार्ग है। और सुख का मार्ग नहीं है।

शंका—पुण्य भाव में अर्थात् पूजा, गुरु भक्ति, पात्र दान, आदि में तो सुख होता है?

समाधान—वह सुख नहीं है, सुखाभास हैं। मिथ्या कल्पना है। अपने जीवन पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो तो दुःख छोड़कर एक समय भी सुख में जाता नहीं है। देखो प्रातः में उठते हो तब शौचादि क्रिया करने की इच्छा का दुःख, उस दुःख से मुक्त न हुआ कि एक इच्छा हुई कि में स्नान करलूं, जहां स्नान कीया, तहां एक इच्छा पैदा हुई कि मैं पूजा के लिये जाऊँ, जबतक मंदिर में न जावे तबतक दुःखी मंदिर में गये तब अष्ट द्रव्य धोने की इच्छा हुई। जहां अष्ट द्रव्य धोया वहां पूजा करने की इच्छा पैदा हुई। दो चार पूजा कीया तब घर जाने की इच्छा हुई। यदि पूजा में सुख होता तो पूजा छोड़कर घर क्यों आता? घर आया तब मुनिको आहार दान देने की इच्छा हुई। प्रासुक जल का लोटा लेकर पडगाहने के लिये अपने घर के फाटक में खड़ा रहा। जबतक मुनि न पधारें तबतक दुःख। जहां भाग्योदय से मुनि महाराज पधार गये, तब एक इच्छा खडी हो गई कि निरंतराय मुनि महाराज का आहार हो जावे तो अच्छा। जबतक निरंतराय अहार न होए तब तक दुःख। जहां मुनि महाराज का आहार हो गया, तहां अपने खाने को इच्छा पैदा हो गई। जहां खाने में सुखकी कल्पना नहीं करता है तहां एक इच्छा यह हुई की आज दुकान में (पेढी में) जाने में

बहुत देरी हुई इसकी चिन्ता। पेढी में गया वहां व्यापार आदिकी व्याधि। विचार करो कौनसा समय सुख का जाता है। इसलिये सब व्यवहार छोड़ने का ही है। व्यवहार छोड़नेका उपदेश देते ही, मिथ्यादृष्टि कहै अरे रे! महाराज तो सब व्यवहार छुडाता है? परन्तु मूर्ख विचार भी करता नहीं कि व्यवहार किसका नाम हैं पुण्य पाप रूप भावका नाम तो व्यवहार है और वह व्यवहार छोड़े बिना आत्म शान्ती कभी नहीं मिलेगी। व्यवहार छोड़ना ही परम धर्म है।

प्रश्न—पुद्गल का व्यवहार किसको कहते हैं?

उत्तर—पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध और रूप गुण हैं उस गुणकी पर्यायों का बदलना यह पुद्गल का व्यवहार है। जैसे शरीर का दुबला और मोटा होना। शरीर का रंग काला, धोला, कोढ़वाला होना। यह सब पुद्गल का व्यवहार है। जैसे शरीर के रंग में जरासा फर्क हुआ अथवा लाल चमडी की अवस्था बदलकर सफेद हुई तो कहने लगे कि मुझको कोढ़ हो गया। लोग कहे चाहे न कहे वह पहले अपने ही विकल्प द्वारा दुःखी हो जाता है। यथार्थ से विचार करो तो कोढ़में किंचित् मात्र दर्द का वेदना रूप दुःख नहीं है तो भी अज्ञान के कारण दुःखी हो जाता है, क्योंकि उसने पुद्गल के व्यवहार को

अपना व्यवहार मान रक्खा है। यह अज्ञान की जननी मिथ्यात्व है।

कोई २ अपेक्षा से आत्मद्रव्य, आत्मा का गुण तथा आत्मा की पर्याय को भी निश्चय कहा जाता है क्योंकि वह आत्म-द्रव्य से अलग वस्तु (अवस्था) नहीं है। इस जीव तथा पुद्गल दो भिन्न द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न हुई अवस्था को भी व्यवहार कहा जाता है। जैसे जीव दश प्राणों द्वारा पूर्व में जिया था, वर्तमान में जी रहा है, और भविष्य में जीवेगा। यद्यपि यह दशों प्राण संयोग सम्बन्ध से जीव से अलग नहीं है परन्तु जीव पुद्गल के स्व· गुणों की अपेक्षा अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध से दशों प्राण जीव के नहीं हैं परन्तु नियम से पुद्गल के ही हैं। मरण काल में दशों ही प्राण जीव से अलग हो जाते हैं, क्योंकि वह रूपी द्रव्य की पर्याय है।

अखंड द्रव्य के भेद मानकर कथन करना वह भी व्यवहार है, जिसको शास्त्रीय भाषा में एकत्व व्यवहार कहा जाता है अर्थात् तदात्म्य सम्बन्ध से कथन करना उसीका नाम एकत्व व्यवहार है, यह कथन सत्य वचन से ही होता है। जीव और पुद्गल के मिलाप से उत्पन्न हुई अवस्था का नाम शास्त्रीय भाषा में पृथक्त्व व्यवहार है, अर्थात् संयोग सम्बन्ध से कथन करना उसी का नाम

पृथक्त्व व्यवहार है। इस कथन की भाषा को अनुभय वचन कहा जाता है। जैसे जीव में दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुण हैं। जीव में मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय और केवल ज्ञान होता है। जीव में क्रोध, मान, माया, लोभ तथा क्षमा, सन्तोष आदि होता है, इस कथन का नाम एकत्व व्यवहार है। जो व्यवहार मात्र सत्य वचन योग से ही कहा जाता है। जीव में दश प्राण होते हैं। जीव देव, मनुष्य, तिर्यञ्च नारकी होता है। जीव आहार लेने से ही जीता है इत्यादि कथन का नाम पृथक्त्व व्यवहार है। जो व्यवहार मात्र अनुभय वचन योग से कहा जाता है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक शास्त्र में ऐसा लिखा है कि-व्यवहार नय स्वद्रव्य परद्रव्य को वा तिनि के भावनि को कारण कार्यादिक को कोई का कोई विषै मिलाय निरूपण करे है, सो ऐसा श्रद्धान वह मिथ्यात्व है इसलिए इसका त्याग करना। परन्तु निश्चयनय तिन ही को यथावत् निरूपण करे है। कोई का कोई विषै न मिलावे है ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व है इसलिए इसका श्रद्धान करना।

प्रश्न—जो ऐसे है तो जिनमार्ग विषै दोऊ नय का ग्रहण करना कहा है सो कैसे ?

उत्तर—जिनमार्ग विषै कहीं तो निश्चय नय की मुख्यता लिये व्याख्यान है उस को तो 'सत्यार्थ ऐसे ही

है' ऐसा श्रद्धान करना। और कहीं व्यवहार नयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है उस को 'ऐसे है नहीं' निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है। ऐसे श्रद्धान करना।

यह जो कथन है इस का इतना ही अर्थ लेना चाहिये कि संयोग संबंध को तादात्म्य सम्बन्ध नहीं मानना। संयोग संबंध को तादात्म्य संबंध मानना मिथ्यात्व है, और तादात्म्य संबंधको संयोग संबंध मानना भी मिथ्यात्व है। संयोग संबंधको संयोग नहीं मानना वह भी मिथ्याज्ञान है। संयोग संबंधको नहीं माननेसे सारा व्यवहार धर्मका नाश हो जावेगा। यही बात श्री समयसार ग्रन्थकी गाथा ४६ की टीका में विस्तार से लिखी है कि व्यवहार नय को न माने और परमार्थ नय जीवको, शरीर से भिन्न कहता है, उसका ही एकान्त किया जाय तो, त्रस स्थावर जीवोंका घात निःशंकपने से करना सिद्ध हो सकता है। जैसे भस्म के मर्दन करने में हिंसाका अभाव है उसी तरह उनके मारने में भी हिंसा नहीं सिद्ध होगी किंतु हिंसा का अभाव ठहरेगा, तब उनके घात होने से बंधका भी अभाव ठहरेगा। और उसी तरह रागी द्वेषी मोही जीव कर्मसे बंधता है, उसको छुडाना कहा गया है वह भी परमार्थ से रागद्वेष मोहसे जीव भिन्न दिखानेकर मोक्षके उपायका

उपदेश व्यर्थ हो जायगा तब मोक्षका भी अभाव ठहरेगा। इसलिये व्यवहार नय अर्थात् संयोग संबंध व्यवहार से सत्यार्थ ही है।

यदि संयोग संबंध मिथ्या (गलत) ही है तो एक मिनिट अपना ही गला दबा कर प्रत्यक्ष अनुभव करलो, एक सूई को ही अपने शरीर में चुभाकर अनुभव करलो कि आत्मा नाच उठता है कि नहीं। यह तो स्वानुभव प्रसिद्ध है। तादात्म्य संबंध में भी व्यवहार होता है, एवं संयोग संबंध में भी व्यवहार होता है। जैसा है वैसा जानना सम्यग्ज्ञान है जैसेः—

आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र है ऐसा कहना भी व्यवहार है। आतमा में क्रोध, मान, माया, लोभ है वह कहना भी व्यवहार है। आत्मा दश प्राणों से ही जीता है वह कहना भी व्यवहार है। आत्मा आहार खाता है यह कहना भी व्यवहार है। केवली भगवन्त लोकालोक को देखते हैं यह कहना भी व्यवहार है। इसमें अमुक व्यवहार तादात्म्य संबंध से है और अमुक व्यवहार संयोग संबंध से है वैसा ही जानना सम्यग्ज्ञान है। विशेप कहां तक लिखे।

इति भेदज्ञान शास्त्रमध्ये प्रमाण नय निक्षेप अधिकार पूर्ण हुआ।

पुद्गल द्रव्य का स्वरूप

प्रश्न—पुद्गल द्रव्य का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—पुद्गल द्रव्य का भेद दिखाया जाता है। पुद्गल द्रव्य के चार भेद हैं। १ स्कन्ध, २ स्कन्ध देश ३ स्कन्ध प्रदेश, इन तीन पुद्गल स्कन्धों में अनन्तानन्त भेद हैं, ४ परमाणु इस का एक ही भेद है। दृष्टान्त के द्वारा इस कथन को प्रकट कर दिखाया जाता है कि अनन्तानन्त परमाणुओं के स्कन्ध की निशानी अस्सी का अङ्क जानना। क्योंकि समझाने के लिए थोडासा गणित करके दिखाते हैं। ऐसे परमाणुओं को तो उत्कृष्ट स्कन्ध कहा जाता है। उसके आगे एक एक परमाणु घटाते जाना इकतालीस अङ्क ताईं सो परमाणुओं का जघन्य स्कन्ध है। इसी प्रकार स्कन्ध के भेद एक एक परमाणु की कमी से अनन्त जानने। और चालीस परमाणु का उत्कृष्ट स्कन्ध देश जानना। इक्कीस परमाणु का जघन्य स्कन्ध देश जानना। एक एक परमाणु की कमी से स्कन्ध देश का अनन्त भेद जानना। तथा बीस परमाणु का उत्कृष्ट स्कन्ध प्रदेश जानना। दो परमाणु का जघन्य स्कन्ध प्रदेश जानना- एक एक परमाणु की कमी से स्कन्ध प्रदेश का अनन्तभेद

जानना। और एक परमाणु अविभागी है। इसमें भेद कल्पना नहीं है। यह चार प्रकार तो भेद के द्वारा जानना और ये ही चार भेद मिलाप के द्वारा भी गिने जाते हैं। मिलाप नाम संघात का है। दो परमाणु मिलने से जघन्य स्कन्ध प्रदेश होता है। इसी प्रकार एक एक परमाणु मिलाने से इन तीन स्कन्धों के भेद उत्कृष्ट स्कन्ध तक जानना। भेद संघात के द्वारा तीनों स्कन्धों के भेद परमागममें विशेषता कर गिने गये हैं। एक पृथ्वी पिन्ड में चारों ही भेद होते हैं। सकलपिन्ड का नाम स्कन्ध कहा जाता है, आधेका नाम स्कन्ध देश, चौथाई का नाम स्कंन्ध प्रदेश कहा जाता। अविभाग का नाम परमाणु कहा जाता है। इसी प्रकार खण्ड खण्ड करने पर भेदों से अनन्त भेद होते हैं। दोय परमाणु के मिलाप से लेकर सकल पृथ्वी खण्ड पर्यन्त संघात कर अनन्त भेद होते हैं। भेद संघातसे पुद्गल की अनन्त पर्यायें होती हैं। चार प्रकार के स्कन्धादि भेद कहे, इनमें पूरन गलन स्वभाव है, इस कारण इसका नाम पुद्गल कहा जाता है। जो बढे घटे तिनको पुद्गल कहते हैं। परमाणु जो है सो अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुण के भेदों से षटगुणी हानि वृद्धि के प्रभाव से पुद्गल नाम पाता है। और इसी परमाणु में किसी कालमें स्कन्ध होने की प्रगट शक्ति है। जो स्कन्ध

है ते अनन्त परमाणु मिलकर एक पिण्ड अवस्था को करते हैं। इस कारण उनमें भी पूरन गलन स्वभाव है और उनकाभी नाम पुद्गल कहा जाता है। वे पुद्गल ६ प्रकारके होते हैं, जिन पुद्गलों से तीन लोक निर्मापित है। वे ६ निम्न प्रकार हैं। १ बादरबादर। २ बादर। ३ बादर सूक्ष्म। ४ सूक्ष्म बादर ५ सूक्ष्म ६ सूक्ष्म-सूक्ष्म ये छह प्रकार जानना।

जो पुद्गल दो खंड करने पर अपने आप फिर नहीं मिले ऐसे काष्ठ पाषाणादिकको बादर बादर कहते हैं। जो पुद्गल स्कन्ध खंड खंड किये हुए अपने आप मिल जाय ऐसे दुग्ध, घृत, तैलादिक पुद्गलोकों को बादर कहते हैं। जो दीखने में तो स्थूल हो परन्तु. खंड खंड करने में नहीं आवे, हस्तादिसे ग्रहण करने में नहीं आवे ऐसे धूप, चांदनी, छाया आदिक पुद्गल बादरसूक्ष्म कहलाते हैं। जो स्कन्ध हैं तो सूक्ष्म परन्तु स्थूल से प्रतिभासते हैं ऐसे स्पर्श, रस, गन्ध शब्दादिक पुद्गल सूक्ष्म बादर कहलाते हैं। जो स्कंध अति सूक्ष्म हैं, इन्द्रियोंसे ग्रहण करने में नहीं आते ऐसे जो कर्म वर्गणादिक हैं वह सूक्ष्म पुद्गल कहलाते हैं। जो कर्म वर्गणाओंसे भी अति सूक्ष्म द्वयणुक स्कंध ताईं जे हैं, ते सूक्ष्म-सूक्ष्म कहलाते हैं।

समस्त स्कंधोका जो अंत का भेद है (अविभाग खन्ड) है सो परमाणु कहलाता है वह परमाणु त्रिकाल अविनाशी

है। यद्यपि स्कंधों के मिलापसे एक पर्याय से पर्यायान्तर को प्राप्त होता है, तथापि अपने द्रव्यत्वकर सदा टंकोत्कीर्ण नित्य है। वह परमाणु शब्द रहित है, यद्यपि स्कन्ध के मिलापसे शब्द पर्याय को धरता है तथापि व्यक्तरूप शब्द पर्यायसे रहित है। परमाणु एक प्रदेशी है द्वयणुकादि रूप नहीं है। जिसका दूसरा भाग नहीं हो ऐसा निरंश है। परमाणु द्रव्य है उसनें स्पर्श रस गन्ध और रूप चार गुण हैं। इन चारोंही गुणों से परमाणु मूर्तीक कहलाता है। परमाणु निर्विभाग है क्योंकि जो प्रदेश आदि में है वह मध्य और अन्त में है इस कारण दूसरा भाग परमाणुका नहीं होता। द्रव्यगुणमें प्रदेश भेद नहीं होता इस कारण जो प्रदेश परमाणुका है वही प्रदेश स्पर्स रस गन्ध वर्णका जान लेना। ये चार गुण परमाणु में सदाकाल पाये जाते है, परंतु गौण मुख्य के भेद से न्यूनाधिक भी इन गुणों का कथन किया जाता है। पृथ्वी, जल अग्नि वायु ये चारों ही पुद्गल जाति के परमाणु से उत्पन्न हैं। इनके परमाणु की जाति जुदी नहीं है। पर्याय के भेद से भेद होता है। पृथ्वी जाति के परमाणुओं में चारों ही गुणों की मुख्यता है। जल में गन्ध गुणकी गौणता है, अन्य तीनों गुणोंकी मुख्यता है। अग्नि में गन्ध और रस की गौणता है, स्पर्स और वर्णकी मुख्यता है। वायु में तीनों गुणों की गौणता

है, स्पर्शगुण की मुख्यता है। पर्याय के कारण परमाणु में नाना प्रकार के परिणाम होते हैं। कही पर किसी एक गुण की प्रगटता अप्रगटता के कारण नाना प्रकार की परिणति को धारण करती है।

प्रश्न—जिस प्रकार परमाणुओं के परिणमनसे गंधादिक गुण हैं उसी प्रकार शब्द भी प्रगट होता होगा ?

उत्तर—परमाणु एक प्रदेशी है इस कारण शब्द प्रगट नहीं होता है। शब्द है वह अनेक परमाणुओं के स्कन्धों से उत्पन्न होता है इस कारण परमाणु अशब्द मय है।

द्रव्य करणेन्द्रिय से जो धुनि सुनी जाय उसे शब्द कहते हैं। वह शब्द अनन्त परमाणुओं का पिण्ड अर्थात् स्कन्धादि से ही उत्पन्न होता है, क्योंकि जब परस्पर महास्कन्धों का संघट्ट होता है, तब शब्द की उत्पत्ति होती है। और स्वभाव से उत्पन्न अनन्त परमाणुओं का पिण्ड ऐसी शब्दयोग्य वर्गणा में परस्पर मिलकर इस लोक में सर्वत्र व्यापी (फैल) रही है। जहां जहां शब्दके उत्पन्न होने की वाह्य सामग्री का संयोग मिलता है तहां तहां वे शब्द योग्य वर्गणायें हैं सो स्वयमेव ही शब्द रूप होय परिणम जाती है। इस कारण शब्द निश्चय करके पुद्गलस्कंधों से ही उत्पन्न होता है। केई मतावलम्बी (वेदान्तादि) शब्द

को आकाश का गुण मानते हैं सो आकाश का गुण कदापि नहीं हो सकता। यदि आकाश का गुण माना जाय तो कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने में नहीं आता, क्योंकि आकाश अमूर्तिक है और अमूर्तिक पदार्थ का गुण भी अमूर्तिक होता है। इन्द्रियें मूर्तिक हैं और मूर्तिक पदार्थ ही इनके द्वारा जाना जाता है। इस कारण जों शब्द आकाश का गुण होता तो कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण करने में नहीं आता। वह शब्द दो प्रकारका है, एक प्रायोगिक दूसरा वैश्रसिक। जो शब्द पुरुषादिकके सम्बन्ध से उत्पन्न होता है उसको प्रायोगिक कहते हैं। और जो मेघादिक से उत्पन्न होता है सो वैश्रसिक कहलाता है। अथवा वही शब्द भाषा अभाषा के भेदसे दो प्रकारका है। तिनमें से भाषात्मक शब्द अक्षर अनक्षर के भेद से दो प्रकार का है। संस्कृत, पाकृत, आर्य म्लेच्छादि, भाषादिरूप जो शब्द है वे सब अक्षरात्मक हैं। और द्वीन्द्रियाद्रि जीवों के शब्द हैं सो अनक्षरात्मक शब्द हैं। अभाषात्मक शब्दोंके भी दो भेद हैं। १ प्रायोगिक २ वैश्रसिक। प्रायोगिक तो तत, वितत, घन सुसिरादिरूप जानना। तत शब्द उन्हें कहते हैं जो वीणादिक से उत्पन्न हों। वितत शब्द ढोल दमामा-दिकसे उत्पन्न होते हैं। घन शब्द करतालादिक से उत्पन्न होता है। और जो वांसादिक से उत्पन्न होता है सो सुषिर

कहलाता है। इस प्रकार यह चार भेद जानना और जो मेघादिक से उत्पन्न होते हैं वे वैश्रसिक अभाषात्मक शब्द हैं। यह समस्त प्रकार के शब्द पुद्गल स्कन्धों से उत्पन्न होते हैं ऐसा जानना।

एक शुद्ध पुद्गल परमाणु कैसा है, जो सदा अवि-नाशी है अपने एक प्रदेश कर रूपादिक गुणों से भी कभी त्रिकाल में रहित नहीं होता। फिर कैसा है? जगह देने के लिए समर्थ है, परमाणु के प्रदेश से जुदे नहीं ऐसा जो उसमें स्पर्शादि गुण उनको अवकाश देनेके लिये समर्थ हैं। फिर कैसा है? जगह देता भी नहीं अपने एक प्रदे-शकर आदि मध्य अन्त में निर्विभाग एक ही है। इस कारण दो आदि प्रदेशों की समाई (जगह) उसमें नहीं है। इसलिये अवकाशदान देनेकों असमर्थ भी है। फिर कैसा है। अपने एक ही प्रदेशसे स्कन्धोंका भेद करनेवाला हैं। जब अपने विघटनका समय पाता है उस समय स्कंध से निकल जाता है, इस कारण स्कंधका खंड करने वाला कहा जाता है। फिर कैसा है? स्कंधों का कर्ता भी हैं, अर्थात् अपना काल पाकर अपनी मिलन शक्ति से स्कंधों में जाकर मिल जाता है इस कारण इसको स्कंधों का कर्ता भी कहा गया है। फिर कैसा है? काल की संख्या का भेद करनेवाला-है। एक आकासके प्रदेश में

रहनेवाले परमाणुको दूसरे प्रदेशमें मंदगति से गमन करते जो समय रूप काल परिणाम प्रगट होता है उसको भेद करता है, इस कारण काल अंशका भी निमित्त कर्ता है। फिर यह परमाणु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की संख्या के भेदको भी करता है, सो दिखाया जाता है। यही परमाणु अपने एक प्रदेश परिमाण से दो आदि प्रदेशों से लेकर अनंत प्रदेश पर्यंत क्षेत्र संख्या का भेद करता है। फिर यही परमाणु अपने एक प्रदेश के द्वारा प्रदेशसे प्रदेशांतर गति परिणाम से दो समय से लेकर अनंत काल पर्यंत काल संख्या के भेदको करे है। फिर यही परमाणु अपने एक प्रदेश में जो वर्णादिक भाव हैं, उसको जघन्य उत्कृष्ट भेद से उस भेद संख्या को भी करता है। यह चार प्रकारका भेद भाव संख्या परमाणु जनित जान लेना। पुद्गल परमाणुओं में विशेष यह बात है कि जैसे आत्मा में भोगने की शक्ति है इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य में भोगने की शक्ति नहीं है। एक शुद्ध पुद्गल परमाणु में रस गुण की एक, वर्ण गुणकी एक, गन्ध गुणकी एक और स्पर्श गुणमें से शीतरूक्ष, शीतस्निग्ध, उष्णस्निग्ध, उष्णरूक्ष इन चार युगलों में से कोई युगल रूप पर्याय होती है इस प्रकार एक परमाणु में पांच पर्याय जानना। यह परमाणु स्कन्ध भावको परणाया हुवा शब्दपर्याय का कारण है, और

जब स्कन्ध से जुदा होता हैं तब शब्दसे रहित है। यद्यपि अपने स्निग्ध, रुक्ष पर्यायों का कारण पाकर अनेक परमाणु स्कंध परणति को धर कर एक होता है। तथापि अपने एक रूप से अर्थात् अपने अस्तित्व स्वभावको नहीं छोड़ता यह सदाही एक द्रव्य रहता है। जो पांच प्रकार इन्द्रियों के विषय, पांच प्रकार की इन्द्रियें, श्वासोछ्वास, द्रव्य मन, द्रव्य कर्म, नोकर्म, इनके सिवाय जो जो अनेक पर्यायों की उत्पत्ति के कारण नाना प्रकार की अनंतानन्त पुद्गल वर्गणायें हैं, अनन्ती असंख्येयानुवर्गणा हैं, और अनन्ती वा असंख्याती संख्येयानुवर्गणा हैं, दो अणुके स्कन्ध ताईं और परमाणु अविभागी इत्यादि जो भेद हैं वे समस्त ही पुद्गल द्रव्यमयी जानना।

शंका—जल पुद्गल द्रव्य है, शीतलता जलका गुण है, और गुणका कभी नाश होता नहीं, यह सिद्धांत है। जब जल उष्ण होता है तब शीतलता उसमें देखनेमें आती नहीं तो क्या शीतलता गुणका नाश हो गया ?

समाधान—जल पुद्गल द्रव्य नहीं है, वह तो उपचारिक द्रव्य है, यथार्थ में जल पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। शीतलता जलका गुण नहीं है परन्तु वह स्पर्श नामक गुण की पर्याय है, तो भी वह पर्याय सदा रहती है। इसलिए उपचार से उसको गुण कहा जाता है। जिस काल

में जल उष्ण हुआ उसी कालमें शीतलता का नाश होजाता है, क्योंकि एक साथ दो पर्याय कभी रह नहीं सकती हैं। जिस काल में जल उष्ण हुवा उसी कालमें स्पर्श नामका गुण कायम है। शीतल पर्याय का नाश हुवा उष्ण पर्याय की उत्पत्ति हुई और स्पर्श नामका गुण ध्रुव है। इसी प्रकार ज्ञान करना चाहिये। उसी प्रकार अग्नि—सोना आदि पुद्गल द्रव्य नहीं है परन्तु पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं। यह तो उपचार से द्रव्य कहा जाता है।

इति 'भेदज्ञान' शास्त्र विषै पुद्गलास्तिकाय व्याख्यान पूर्ण हुआ।

धर्मास्तिकाय द्रव्य का स्वरूप

प्रश्न—धर्मास्तिकाय द्रव्य का क्या स्वरूप?

उत्तर—धर्मद्रव्य जो है सो काय सहित प्रवते है। धर्मद्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण गुणों से रहित है इस कारण अमूर्तिक है। क्योंकि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवत्ती वस्तु सिद्धान्त में मूर्तिक कही हैं। यह चार गुण जिसमें नहीं है उसी का नाम अमूर्तिक है। इस धर्मद्रव्य में शब्द भी नहीं है। क्योंकि शब्द भी मूर्तिक होते हैं। इस कारण शब्द पर्याय से रहित है। लोक प्रमाण

असंख्यात प्रदेशी हैं। यद्यपि अखंड द्रव्य है परन्तु भेद दिखाने के लिए परमाणुओं द्वारा असंख्यात प्रदेशी गिना जाता है। धर्मद्रव्य सदा अविनाशी टंकोत्कीर्ण वस्तु है, यद्यपि अपने अगुरुलघु गुणसे षट्गुणी हानिवृद्धि रूप परिणमता है, परिणाम से उत्पाद व्यय संयुक्त है, तथापि अपने ध्रौव्य स्वरूप से चलायमान नहीं होता, क्योंकि द्रव्य वही है जो उपजे, विनशे और स्थिर रहै। इस कारण यह धर्म द्रव्य, अपने ही स्वभाव में परिणमें हैं और जीव तथा पुद्गल को उदासीन अवस्था से निमित्तमात्र गति को कारणभूत है। और यह अपनी अवस्था से अनादि अनन्त है, इस कारण कार्य रूप नहीं है। कार्य उसे कहते हैं जो किसी से उपजा होय। गति को निमित्त पाकर सहायी है, इसलिये यह धर्मद्रव्य कारणरूप है किन्तु कार्य नहीं है। जैसे जल मछलियों के गमन करते समय न तो आप उनके साथ चलता है, और न मछलियों को जबरदस्ती चलावे हैं, किन्तु उनके गमन को निमित मात्र सहायक है। ऐसा ही कोई एक स्वभाव है। जल मछली को जबर दस्ती चलाता नहीं है, मछली अपनी शक्ति से ही चलती है तो भी, जल विना चल नहीं सकती। इसी प्रकार, जीव और पुद्गल को धर्म द्रव्य जबरदस्ती से चलाता नहीं है, जीव और पुद्गल अपनी २ शक्ति से ही चलते हैं, तो भी

धर्म द्रव्यविना चल नहीं सकते। धर्म द्रव्य तो उदासीन है परन्तु कोई ऐसा ही एक अनादि निधन स्वभाव है कि जीव पुद्गल गमन करे तो उनको निमित्त मात्र सहायक होता है। यह धर्म द्रव्य का स्वरूप हुआ।

अधर्मास्तिकाय द्रव्य का स्वरूप

प्रश्न—अधर्मास्तिकाय द्रव्य का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—अधर्म द्रव्य अपनी सहज अवस्था से अपने असंख्यात प्रदेश लिये लोकाकाश प्रमाणता से अविनाशी है, अनादि कालसे तिष्टै है उसका स्वभाव भी जीव पुद्-गल की स्थिरता को निमित्तमात्र कारण है। परन्तु अन्य द्रव्य को जबरदस्ती नहीं ठहराता। जैसे भूमि अपने स्वभाव ही से अपनी अवस्था लिये पहिले ही तिष्ठै है स्थिर है और घोड़ादि पदार्थों को जोरावरी नहीं ठहराती। घोड़ादि जो स्वयं ही ठहरना चाहे तो पृथ्वी सहज अपनी उदासीन अवस्था से निमित्त मात्र स्थिति में सहायक है। उसी प्रकार आपही से जो जीव पुद्गल द्रव्य स्थिर अवस्था रूप परिणमें तो अधर्म द्रव्य अपनी स्वाभाविक उदासीन अवस्था से निमित्त मात्र सहायक होता है। जैसे धर्म द्रव्य निमित्त मात्र गति को सहायक है, उसी प्रकार अधर्म

द्रव्य स्थिरता को उदासीन सहकारी कारण जानना।

शंका—धर्म अधर्म द्रव्य गति स्थिति को कारण नहीं है, परन्तु आकाश द्रव्य ही गमन स्थिति को कारण है? धर्म अधर्म द्रव्य नहीं है?

समाधान—धर्म, अधर्म द्रव्य अवश्य हैं। जो वह दोनों द्रव्यनहीं होते तो लोक अलोक का भेद नहीं होता। धर्म अधर्म द्रव्यसे ही लोक अलोकका भेद होता है। लोक उसको कहते हैं जहां जीवादिक समस्त पदार्थ वसते हों। जहां एक आकाश ही है सो अलोक है। इस कारण जीव पुद्गलकी गति स्थिति लोकाकाश में है, अलोकाकाश में नहीं है। जो इन धर्म अधर्म द्रव्य का गति स्थिति निमित्त का गुण नहीं होता तो लोकालोक का भेद नहीं होता। जीव और पुद्गल ये दोनों ही द्रव्य गति स्थिति अवस्था को धरते हैं इनकी स्थिति गति का बहिरंग कारण धर्म, अधर्म द्रव्य लोक में ही हैं। जो वह धर्म अधर्म द्रव्य लोक में नहीं होते तो लोक अलोक ऐसा भेद नहीं होता, सब जगह ही लोक होता। इस कारण धर्म अधर्म द्रव्य अवश्य हैं। जहां तक जीव पुद्गल गति स्थिति को करते हैं वहां तक लोक है, उससे परे अलोक जानना।

यह धर्म अधर्म द्रव्य दोनों ही अपने २ प्रदेशों को

लिये हुये जुदे जुदे हैं। एक लोकाकाश क्षेत्र की अपेक्षासे जुदे जुदे नहीं हैं, क्योंकि, लोकाकाश के जिन प्रदेशों में धर्म द्रव्य है, उन ही प्रदेशों में अधर्म द्रव्य भी है। दोनों ही हलनचलन रूप क्रियासे रहित हैं। परन्तु सर्व लोक व्यापी हैं। समस्त लोक व्यापी जीव पुद्गलों को गति स्थिति को सहकारी कारण है, इस कारण दोनों ही द्रव्य लोक मात्र असंख्यात प्रदेशी हैं। धर्म अधर्म द्रव्य, जीव पुद्गलकी गति स्थिति का प्रेरक कारण नहीं हैं, परन्तु उदासीन करण हैं। जैसे पवन अपने चंचल स्वभाव से ध्वजाओं की हलन चलन क्रिया का प्रेरक कारण दीखने में आता है, अर्थात् जिस दिशा में पवन चलेगी उस ही दिशा में नियम से ध्वजा हलन चलन क्रिया करेगी, ऐसे ही धर्म द्रव्य प्रेरक निमित्त नहीं है। धर्म द्रव्य जो है सो आप स्वयं हलनचलन रूप क्रिया से रहित है, किसी काल में आप गति परणति को (गमनक्रियाको) नहीं धारता। इस कारण जीव पुद्गल की गति परणतिका सहायक किस प्रकार होता है ? उसका द्रष्टांत देते हैं। जैसे निष्कम्प सरोवर में जल मछलियों की गति में सह--कारी कारण है, स्वयं प्रेरक होकर मछलियों को जल में नहीं चलाता, परन्तु मछली अपनी शक्ति से ही चलती है, जल बिना चल नहि सकती, उसी प्रकार जीव पुद्गल

अपनी शक्ति से ही चलते हैं धर्म द्रव्य चलाता नहीं, किन्तु जैसे जल विना मछली चल नहीं सकती, उसी प्रकार धर्म द्रव्य विना जीव पुद्गल चल नहीं सकते। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी निमित्त मात्र है। जैसे घोड़ा प्रथम ही गति क्रिया को करके फिर स्थिर होता है, सवारकी स्थिति का कर्ता देखिये है, उसी प्रकार अधर्म द्रव्य प्रथम आप चलकर पुद्गलकी स्थिर क्रिया का कर्ता आप नहीं है, किंतु आप निष्क्रिय है, इस कारण गति पूर्व स्थिति परिणाम अवस्था को प्राप्त नहीं होता है। यदि पर द्रव्य की क्रिया से इसकी गति पूर्व क्रिया नहीं होती तो किस प्रकार स्थिति क्रिया का सहकारी कारण होता है? भूमि चलती नहीं परन्तु गति क्रिया के करने वाले घोड़े की स्थिति क्रियाको सहकारिणी है। उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलकी स्थिति को उदासीन अवस्थासे स्थितिक्रिया का सहायी है। धर्म, अधर्म द्रव्य, जीव पुद्गल की गति स्थिति का उपादान कारण नहीं हैं, परन्तु उदासीन भाव से निमित्त कारण मात्र कहा जाता है। यदि यह धर्म अधर्म द्रव्य मुख्य कारण अर्थात् उपादान कारण होकर जबरदस्ती से जीव पुद्गलको चलाते और स्थिर करते तो सदाकाल जो चलते वही चलते ही रहते, और जो स्थिर रहते वे सदा काल स्थिर ही रहते इस कारण धर्म अधर्म द्रव्य मुख्य

कारण नहीं है यह बात सिद्ध हुई। व्यवहारनयकी अपेक्षा उदासीन अवस्था से निमित्त कारण है। निश्चय करके जीव पुद्गल की गति स्थिति का उपादान कारण अपने ही परिणाम हैं। यह अधर्मास्तिकायका व्याख्यान पूर्ण हुआ।

आकाशास्तिकाय द्रव्य का स्वरूप

प्रश्न—आकाशास्तिकाय द्रव्य का क्या स्वरूप है?

उत्तर—आकाश द्रव्य अखंड है परन्तु लोक अलोक के भेदसे दो प्रकार का है। लोकाकाश उसे कहते हैं जो जीवादि पांचों द्रव्य जितना आकाश क्षेत्रमें है। उसीका नाम लोकाकाश है। और अलोकाकाश है जहां पर केवल एक आकाश ही है। यह अलोकाकाश एक द्रव्य की अपेक्षा से लोकसे जुदा नहीं है, और यह अलोकाकाश पांच द्रव्यों से रहित है, जब अपेक्षा लीजावे तब जुदा है। अलोकाकाश अनन्त प्रदेशी है। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है।

शंका—लोकाकाशका क्षेत्र असंख्यात प्रदेशी है उसमें अनन्त जीवादि पदार्थ कैसे समा रहे हैं।

समाधान—एक घरमें जिस प्रकार अनेक दीपकों

का प्रकाश समा रहा है, और जिस प्रकार एक छोटेसे गुटके में बहुतसी सुवर्ण की राशी रहती है उसी प्रकार असंख्यात प्रदेसी आकाशमें सहज ही अवगाहना स्वभावसे अनन्त जीवादि पदार्थ समा रहे हैं। वस्तुओं के स्वभाव वचनगम्य नहीं हैं, सर्वज्ञ देवही जानते हैं, इस कारण जो अनुभवी हैं वे संदेह उपजाते नहीं वस्तुस्वरूप में सदा निश्चल होकर आत्मिक अनन्त सुख अनुभवे हैं।

प्रश्न—धर्म अधर्म द्रव्य गति स्थितिके कारण क्यों कहाते हैं आकाश को ही गति स्थिति में कारण क्योंनहिं माना जावे ?

उत्तर— जो गमन स्थिति का कारण आकाश को ही मान लिया जावे तो धर्म. अधर्म द्रव्यके अभाव होनेसे मुक्त जीवों का अर्थात् सिद्ध परमेष्ठियों का अलोकाकाश में भी गमन होता। इससे साबित होता है कि धर्म-अधर्म द्रव्य अवश्य हैं। उससे ही लोककी मर्यादा है। लोक के आगे गमन स्थिति नहीं है।

धर्म-अधर्म और आकाश यह तीनों ही द्रव्य एक क्षेत्रावगाह कर एक हैं परन्तु निज स्वरूप से तीनों पृथक् २ हैं। यह तीनों द्रव्य व्यवहारनय की अपेक्षा एक क्षेत्राव-गाही हैं, अर्थात् जहां आकाशद्रव्य है तहां ही धर्म, और अधर्मद्रव्य हैं। कैसे हैं यह तीनों द्रव्य, बराबर हैं, असं-

ख्यात प्रदेश वाले हैं। फिर कैसे हैं? निश्चयनकी अपेक्षा भिन्न २ पाये जाते हैं, अर्थात् निज स्वभाव से टंकोत्कीर्ण अपनी जुदी जुदी अवस्था लिये हुए हैं, अतएव ये तीनों ही द्रव्य व्यवहार की अपेक्षा एक क्षेत्रावगाही हैं, इस कारण एक भावको और निश्चयनकी अपेक्षा यह तीनों अपनी जुदी २ सत्ता के द्वारा भेदभाव को करते हैं। इस प्रकार इन तीनों द्रव्यों के व्यवहार निश्चयनयसे अनेक प्रकार जानने।

प्रश्न—क्षेत्र कितने प्रकार का है?

उत्तर—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा क्षेत्र एक प्रकार का है। अथवा प्रयोजन के आश्रयसे क्षेत्र दो प्रकारका है। लोकाकाश, अलोकाकाश। अथवा देशके भेदसे क्षेत्र तीन प्रकार का है। मंदराचलकी चूलिकासे ऊपरका क्षेत्र ऊर्ध्वलोक है। मंदराचलके मूलसे नीचेका क्षेत्र अधोलोक है। मंदराचलसे परिच्छिन्न अर्थात तत्प्रमाण मध्यलोक है।

इस प्रकार आकाशास्तिकाय द्रव्यका स्वरूप पूर्ण हुआ।

काल द्रव्य का स्वरूप

प्रश्न—काल द्रव्य का क्या स्वरूप है?

उत्तर—जो क्रमसे अति सूक्ष्म हुआ प्रवर्ते है वह तो व्यवहार काल है, और उस व्यवहार कालका जो आधार

है वह निश्चयकाल द्रव्य है। यद्यपि व्यवहार काल है सो निश्चय काल की पर्याय है, तथापि जीव पुद्गलों के परिणामों से वह जाना जाता है। इस कारण जीव पुद्गलों के नव जीर्णतारूप परिणामों से उत्पन्न हुआ कहा जाता है और जीव पुद्गलका जो परिणमन है सो बाह्य में द्रव्य काल के होते संते समय पर्याय में उत्पन्न है। इस कारण यह बात सिद्ध हुई कि समयादि रूप जो व्यवहार काल है सो तो जीव पुद्गलों के परिणामों से प्रकट किया जाता है, और निश्चय काल जो है सो समयादि व्यवहार काल से अविनाभाव से अस्तित्व को धरै है, क्योंकि, पर्याय से पर्यायीका अस्तित्व ज्ञात होता है। इनमें से व्यवहार काल क्षण विनश्वर है, क्योंकि पर्याय स्वरूपसे सूक्ष्म पर्याय उतने मात्र ही हैं, जितने कि समयावलिकादि हैं और निश्चय काल जो है सो नित्य है, क्योंकि अपने गुण पर्याय स्वरूप द्रव्य से सदा अविनाशी है।

जिस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश इन पांचों द्रव्यों में गुण पर्याय है, और जैसा इनका सत् द्रव्य लक्षण है, तथा इनका उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षण भी है, वैसे ही गुण पर्यायादि द्रव्य के लक्षण कालद्रव्य में भी हैं, इस कारण कालका नाम भी द्रव्य है।

काल और अन्य पांचों द्रव्यों की द्रव्य संज्ञा तो समान

है, परन्तु जीवादि पांच द्रव्यों की काय संज्ञा है, क्योंकि, काय उसको कहते हैं, जिसके बहुत से प्रदेश होते हैं जीव, धर्म, अधर्म और लोकाकाश इन चारों द्रव्योंके असंख्यात प्रदेश हैं, पुद्गलके परमाणु यद्यपि एक प्रदेशी हैं, तथापि पुद्गलोंमें मिलन शक्ति है इस कारण पुद्गल संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशी हैं। परन्तु काल द्रव्य के बहुत प्रदेशरूप काय भाव नहीं है।

कालाणु एक प्रदेशी है, लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश है इतना ही असंख्याती कालाणु है सो लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु रहता है।

शंका:—काल किससे किया जाता है अर्थात् कालका साधन क्या है ?

समाधान—परमार्थ कालसे काल, अर्थात् व्यवहार काल निष्पन्न होता है।

शंका—काल कहां पर है, अर्थात् कालका अधिकरण क्या है ?

समाधान—त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायों से परिपूरित एक मात्र मानुषक्षेत्र सम्बन्धी सूर्यमंडल में ही काल है, अर्थात् कालका आधार मनुष्य क्षेत्र सम्बन्धी सूर्यमंडल है।

शंका—देवलोकमें दिन रात्रि रूप कालका अभाव है,

फिर वहां पर कालका व्यवहार कैसे होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यहां के कालसे ही देवलोक में कालका व्यवहार होता है।

शंका—यदि जीव और पुद्गलों का परिणाम ही काल है, सभी जीव और पुद्गलों में काल को संस्थित होना चाहिये। तब ऐसी दशा में मनुष्य क्षेत्र के एक सूर्य मण्डल में ही काल स्थित है यह बात घटित नहीं होती है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि उक्त कथन निरवद्य (निर्दोष) है, किन्तु लोकमें या शास्त्रमें उस प्रकार से संव्यवहार नहीं है, पर अनादिनिधन स्वरूप से सूर्यमण्डल की क्रिया परिणामों में ही काल का संव्यवहार प्रवृत्त है, इसलिये इसका ही ग्रहण करना चाहिये।

शंका— काल कितने समय तक रहता है ?

समाधान—काल अनादि और अपर्यवसित है अर्थात् काल का न आदि है, न अन्त है।

शंका—काल कितने प्रकार का होता है ?

समाधान—सामान्य से एक प्रकार का काल होता है। अतीत, अनागत, वर्त्तमान की अपेक्षा काल तीन प्रकार का होता है। अथवा गुणस्थिति काल, भवस्थिति काल, कर्मस्थिति काल, उपपाद काल, और भावस्थिति काल, इस प्रकार काल के भी भेद हैं। अथवा काल

अनेक प्रकार का है, क्योंकि परिणामों से पृथग्भूत काल का अभाव है, तथा परिणाम अनन्त पाया जाता है ।

(ध. ४-३२०)

पुद्गल परिवर्त्तन का काल सब से कम है । क्षेत्र परिवर्त्तन का काल पुद्गल परिवर्तन काल से अनन्तगुणा है काल परिवर्त्तन का काल क्षेत्र परिवर्तन के काल से अनन्त गुणा है । भव परिवर्तन का काल काल परिवर्तन काल से अनन्तगुणा है भाव परिवर्तन का काल भव परिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है ।

यह काल द्रव्य का स्वरूप पूर्ण हुआ ।

क्रियावान द्रव्य का स्वरूप

प्रश्न—छः द्रव्योंमें कितने द्रव्य क्रियावान हैं ?

उत्तर—एक प्रदेशसे प्रदेशांतरमें जो गमन करना उसका नाम क्रिया है, षट्द्रव्योंमेंसे जीव और पुद्गल यह दोनों द्रव्य प्रदेश से प्रदेशांतरमें गमन करते हैं, और कंपरूप अवस्थाको धरते हैं । इस कारण क्रियावंत कहे जाते हैं । शेषके चार द्रव्य निष्क्रिय निष्कम्प हैं । जीव द्रव्य की क्रियाको निमित्त, कर्म, नोकर्मरूप पुद्गल ही हैं, इनकी ही संगति से जीव अनेक विकाररूप होकर परिणमन करता

है। और जब काल पाय कर पुद्गलमयी कर्म नोकर्मका अभाव होता है तब निष्क्रिय निष्कंप स्वाभाविक अवस्थारूप सिद्ध पर्याय को धरता है। इस कारण पुद्गल को ही निमित्त पाकर जीव क्रियावान जानना। और काल द्रव्य का कारण पाकर पुद्गल अनेक स्कन्धरूप विकार को धारण करता है। इस कारण काल पुद्गल की क्रिया को सहकारी कारण जानना परन्तु इतना विशेष है कि जीवद्रव्य की तरह पुद्गल निष्क्रिय कभी भी नहीं होता। जीव शुद्ध हुए बाद क्रियावान किसी कालमें भी नहीं होगा। पुद्गल का यह नियम नहीं है। सदा क्रियावान पर सहाय से रहता है।

शंका---तब जीवका उर्ध्वगमन स्वभाव क्यों कहा?

समाधान---गमन करना जीव का स्वभाव नहीं है परन्तु विभाव भाव है। जिस जीव को उत्पाद व्यय के स्वरूप का ज्ञान नहीं है ऐसा वेदान्तमतावलम्बी ने प्रश्न किया कि जब आत्मा सर्व कर्मों से मुक्त हो गया तब अधोलोक की ओर गमन न करके उर्ध्व लोक की ओर गमन क्यों किया? ऐसे जीव को समझाने के लिये उपचार से कह दिया कि आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्व गमन है। ऐसा कह कर समझाने के लिए उपचार से उदाहरण के लिये सूत्र भी बना दिया कि--

आविद्धकुलाल चक्रवद्व्यपगतले पालाम्बुवदेरण्ड-बीजवदग्निशिखावच्च ॥ (१०।७)

परन्तु वस्तुका स्वरूप ऐसा नहीं। यह तो समझाने के लिए मात्र उपचार से कहा है। जैसे जल पुद्‌गल की पर्याय है, तथा अग्नि भी पुद्‌गल की पर्याय है। दोनों में क्रियावती शक्ति है और वह शक्ति दोनों में विकारी है। तो भी समझाने के लिए उपचार से जल और अग्नि में द्रव्य का उपचार कर कह दिया कि—

को शिखवत है नीर को, नीचे को ढल जाय।
अग्नि शिखा ऊँचि चले, यही अनादि स्वभाव॥

विचारिये दोनों में क्रियावती शक्ति विपरीत परिणमन कर रही है। यथार्थ से विचारा जावे तो दोनोंमें क्रियावती शक्ति विकारी परिणमन कर रही है किसको स्वभाव शक्ति कहोगे? इसी प्रकार आत्मा का ऊर्ध्वगमन स्वभाव नहीं है परन्तु उदाहरण के लिए उपचार से कहा है। गमन करना ही आत्मा का विकारी परिणमन है। तब प्रश्न यह रहता है कि मुक्त आत्माने ऊर्ध्वगमन कैसे किया? कर्मका तो अभाव हो गया है। तब विकारी परिणमन भी कह सकते नहीं। तब यथार्थ में क्या है?

समाधान—जिसको आप गमन देखते हो वह तो संसार की व्यय पर्याय है और उत्पाद पर्याय सिद्ध पर्याय

है। जैसे एक पुद्गल परमाणु सप्तम नरकसे ऋजुगति से तीव्रगति से गमन करे तो एक समय में लोक के अग्रभाग तक चौदह राजू जाता है। वहाँ विचारिये कि वह परमाणु की व्यय पर्याय कहां तक मानी जावेगी ? और उत्पाद पर्याय कहाँ मानी जावेगी ? लोक के अग्र भाग में उत्पन्न होना वही उत्पाद पर्याय है, और बाकी की व्यय पर्याय है।

जैसे एक आत्मा ग्यारहवे गुण स्थानसे गिर कर एक समय में मिथ्यात्व गुणस्थानमें जाता है। वहां ग्यारह गुणस्थान की व्यय पर्याय कहां तक मानी जावेगी और मिथ्यात्व की उत्पाद पर्याय कहां से मानी जावेगी ?

इसका विचार करने से आपसे आप मालूम हो जावेगा कि चौदहवाँ गुणस्थान का त्याग सो व्यय पर्याय है और सिद्ध पद की प्राप्ति अर्थात् लोक के अग्रभाग में स्थिर होना उत्पाद पर्याय है। इससे सिद्ध हुआ कि ऊर्ध्व गमन आत्माका स्वभाव नहीं है परन्तु विभाविक अवस्था है

इति भेदज्ञान शास्त्र विषै क्रियावान द्रव्य का स्वरूप पूर्ण हुआ।

जीवों का विशेष स्वरूप

अनादि कालसे जीव मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरत भावों के कारण से चार गति रूपी संसार में भ्रमण कर रहा है और अपना स्वभाव का ज्ञान नहीं होनेसे दुःखी हो रहा है।

प्रश्न—अज्ञान किसको कहते हैं।

उत्तर—अज्ञान का अर्थ ज्ञान नहीं होना, या, कम ज्ञान होना, यह अर्थ नहीं लेना चाहिये, क्योंकि, ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव भाव है और स्वभाव बन्धका कारण हो जावे तो आत्मा संसार से कभी छूट या मुक्त नहीं हो सकता है। बन्धका कारण मिथ्यात्व और कषाय भाव हैं। अज्ञान का अर्थ कषाय सहित ज्ञानोपयोग करना चाहिये। ज्ञानका कार्य घूमना नहीं है परन्तु स्थिर रहकर देखना है, किन्तु अनादि कालसे ज्ञान के इच्छाएँ लगी हैं इस इच्छा के कारण ज्ञान घूमता है, इन इच्छाओं के मिटजाने से ज्ञान आपसे आप स्थिर होजावेगा, जिससे तुरन्त ज्ञान केवलज्ञानरूप प्रकट होजावेगा।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनों ही का जब एकबार परिणमन होता है तब मोक्षका मार्ग होता है। चारित्र वही है जो दर्शन ज्ञान सहित है,

दर्शन ज्ञानके बिना जो चारित्र है, सो मिथ्याचारित्र है। चारित्र वही है जो रागद्वेष रहित समता रससंयुक्त हो। जो कषाय रस गर्भित है सो चारित्र नहीं है संक्लेश भाव है। ऐसा चारित्र है सो साक्षात् मोक्ष स्वरूप है।

जीवों के अनादि अविद्या के प्रतापसे पदार्थों की विपरीत श्रद्धा है। जब आगम द्वारा यथार्थ ज्ञान कर मिथ्यात्व नष्ट होय तब यथार्थ प्रतीति होय उसीका नाम सम्यग्दर्शन है। वही सम्यग्दर्शन शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्म पदार्थ के निश्चय करने का बीज भूत है। यथार्थ ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यग्ज्ञान आत्मतत्त्व अनुभव की प्राप्तिका मूल है। सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन की प्रवृति के प्रभावसे समस्त कुमार्गों से निवृत होकर आत्मस्वरूप में लीन होय, इन्द्रिय मनके विषय भूत बाह्य पदार्थों में राग द्वेष रहित जो साम्य भावरूप निर्विकार चैतन्य परिणाम, अर्थात् वीतराग भाव हैं सो ही चारित्र है।

आगम द्वारा संयोग सम्बन्ध से जीवका क्या स्वरूप है यह जानने की बड़ी जरूरत है क्योंकि निश्चय में तो जीव अरूपी है इसलिये चक्षु इन्द्रिय द्वारा देख नहीं सकते हैं तो भी संयोग द्वारा इसका स्वरूप जाना जाता है। इसलिये संयोगी स्वरूप जानना बड़ा आवश्यक है।

संयोग सम्बन्ध की अपेक्षा से जीव पांच प्रकारका है।

१ एकेन्द्रिय जीव, २ द्वीन्द्रियजीव, ३ त्रीन्द्रियजीव, ४ चौइन्द्रियजीव, ५ पंचेन्द्रियजीव । जीव दो प्रकारका भी कहा जाता है । १ स्थावरजीव, २ त्रसजीव । जिसको स्थावरनामा नामकर्म का उदय है वह स्थावरजीव है । जिसको त्रसनामा नाम कर्मका उदय है वह त्रस जीव है । एकेन्द्रियको स्थावर जीव कहते हैं । स्थावर जीव पांच प्रकार का है । पृथिवीकायिक, २ जलकायिक. ३ अग्नि कायिक, ४ वायु कायिक, ५ वेनस्पति कायिक । इन पांच प्रकार के स्थावर जीव में भी दो भेद हैं । १ सूक्ष्म जीव, २ वादर जीव ।

प्रश्न—सूक्ष्म जीव किसको कहते हैं ?

उत्तर—जिसको सूक्ष्मनामा नामकर्म का उदय है वह सूक्ष्म जीव है । जिसको गमन करने में कोई रोक सकता नहीं एवं जो किसी से रुका जाता नहीं है । जो काटने से कटा नहीं जाता । जलने से जल नहीं सकता । मारने से मारा नहीं जाता । ऐसे जीवों का नाम सूक्ष्म जीव है ।

प्रश्न—वादरजीव किसको कहते हैं ?

उत्तर—वादरनामा नामकर्मका जिसको उदय हो वह वादर जीव है । जिसका गमन दूसरे के द्वारा रोका जावे उसका नाम वादर जीव है ।

एकेन्द्रिय जीवका स्वरूप

स्थावर नामा नामकर्मके उदयसे तथा स्पर्शन इन्द्रिया-वरणीय कर्म के आवरण के क्षयोपशम से जिस जीव को ऐसा शरीर मिला है कि जिसमें रहते मात्र स्पर्शन इन्द्रिय के विषय को भोग सकता है या जान सकता है वह एके-न्द्रिय जीव अनेक २ अवान्तर भेदसे बहुत जात हैं।

पृथ्वी जिसका शरीर है वह पृथ्वीकायिक जीव है। पृथ्वी कायिक जीव दो प्रकारका होता है। १ सूक्ष्म, २ बादर।जल जिसका शरीर है वह जलकायिक जीव है। जलकायिक जीव दो प्रकार का है। १ सूक्ष्म, ,२ बादर। अग्नि जिसका शरीर है वह अग्नि कायिक जीव है। अग्नि कायिक जीव दो प्रकार का है। १ शूक्ष्म, २ बादर। वायु जिसका शरीर है वह वायु कायिक जीव है। वायु कायिक जीव दो प्रकार का है। १ सूक्ष्म, २ बादर। वनस्पति जिसका शरीर है वह वनस्पति कायिक जीव है। वनस्पति कायिक जीव दो प्रकार का है। १ सूक्ष्म, २ बादर। वनस्पति कायिक जीव में और दो भेद हैं। १ साधारण, २ प्रत्येक।

प्रश्न—साधारण किसको कहते हैं।

उत्तर—जिसको साधारण नामा नामकर्म का उदय है वह साधारण जीव कहलाता है। एक शरीर में अनन्त जीव रहते हों अर्थात्—अनन्त जीवों का शरीर इन्द्रिय तथा श्वासोच्छ्वास एक ही हो उसे साधारण जीव कहते हैं। जिसका दूसरा नाम 'निगोद' है।

शंका—अनन्त का क्या स्वरूप है?

समाधान—अनन्त का स्वरूप निम्न प्रकार है।

संते वए ण णिट्ठादि कालेणाणंतएणवि।
जो रासी सो अणंतोत्ति विणिदट्ठो महेसिणा ॥३०॥

अर्थ—व्यय के होते रहने पर भी अनन्तकाल के द्वारा भी जो राशि समाप्त नहीं होती है, उसे महर्षियों ने अनन्त इस नाम से विनिर्दिष्ट किया है। (ध. ४-३३८)

शंका—असंख्यात और अनन्त में क्या भेद है?
(ध. ३-२६७)

समाधान—एक एक संख्या के घटाते जाने पर जो राशि समाप्त हो जाती है वह असंख्यात् है, और जो राशि समाप्त नहीं होती है वह अनन्त है।

शंका—यदि ऐसा है तो व्यय सहित होने से नाश को प्राप्त होने वाला अर्ध पुद्गल परावर्त्तन काल भी असंख्यात् हो जायगा?

समाधान—हो जाओ।

शंका—तो फिर उस अर्धपुद्‌गल परावर्त्तन काल को अनन्त संज्ञा कैसे दी गई है।

समाधान—नहीं, क्योंकि, अर्धपुद्‌गलरूप परिवर्तन कालको जो अनन्त संज्ञा दी गयी है, वह उपचार निमित्तिक है। आगे उसीका स्पष्टी करण करते हैं। अनन्तरूप केवल ज्ञानका विषय होने से अर्धपुद्‌गल परिवर्त्तन काल भी अनन्त है, ऐसा कहा जाता है।

शंका—केवलज्ञानके विषयत्व के प्रति कोई विशेषता न होने से सभी संख्याओं को अनन्तत्व प्राप्त हो जावेगा?

समाधान—नहीं क्योंकि, जो संख्यायें अवधिज्ञान का विषय हो सकती है, उससे अतिरिक्त ऊपर की संख्यायें केवल ज्ञानको छोड़कर किसी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकती हैं। अतएव ऐसी संख्याओं में अनन्तत्व के उपचार की प्रवृत्ति हो जाती है। अथवा जो जो संख्या पांच इन्द्रियों का विषय है वह संख्यात् है। उसके ऊपर जो संख्या अवधिज्ञान का विषय हो वह असंख्यात् है। उसके ऊपर जो केवल ज्ञानके विषयभाव को ही प्राप्त होती है वह अनन्त है।

प्रश्न—प्रत्येक जीव किसको कहते हैं?

उत्तर—प्रत्येकनामा नामकर्म का उदय जिस जीव को हो, वह प्रत्येक जीव कहा जाता है। अर्थात् एक शरीर

का एक जीव मालिक हो, जिसकी इन्द्रियां श्वासोच्छ्वास अलग २ हो ऐसे जीवों को प्रत्येक जीव कहा जाता है।

निगोद जीव वनस्पतिकायमें ही होता है।

निगोद जीवोंकी आयु एक श्वासोच्छ्वासके अठारहवें भागकी ही होती है। इसी अपेक्षा से जिसमें मांस रुधिर आदि सप्त धातु हैं ऐसे औदारिक शरीर के आश्रय जो त्रस जीव श्वासोच्छ्वास के अठारहवें भाग में जन्म मरण करते हैं उसे उपचार से निगोद संज्ञा दी जाती है। ऐसे त्रस निगोद जीवों की उत्पत्ति आठस्थान में नहीं है। १ पृथ्वीकाय. २ अपकाय. ३ तेजकाय. ४ वायुकाय. ५ नारकीका शरीर. ६ देवका शरीर. ७ आहारकशरीर. ८ केवलीका शरीर। परन्तु स्थावर निगोद तो सारे लोकमें ठसाठस भरे हैं। यद्यपि त्रस निगोद अनन्त जीव नहीं हैं परन्तु असंख्यात हैं।

वनस्पतिकायिक जीवो में दो भेद हैं। १ प्रत्येक वनस्पति, २ साधारण वनस्पति। साधारण वनस्पति दो प्रकार की होती है। १ सूक्ष्म. २ बादर। साधारण वनस्पतिकायिक जीवों को निगोद जीव कहते हैं। साधारण वनस्पतिकायिक जीवों में एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं अर्थात् अनन्त जीवोंका शरीर श्वासोच्छ्वास तथा इन्द्रिय एक ही है परन्तु सब जीवोंका कार्माण शरीर अलग२ है।

गये सूत्र वचनसे वह जाना जाता है। (पृ० ५०२-५०६)

फिर लिखा है कि सूत्र सूक्ष्म वनस्पतिकायिक व सूक्ष्म निगोद जीव अपर्याप्त सर्व जीवों के संख्यातवें भाग प्रमाण है। सूत्र ३३,३४।

शंका—निगोद जीव सब वनस्पतिकायिक ही हैं अन्य नहीं हैं, इस अभिप्राय से कुछ भागाभाग सूत्र स्थित है, क्योंकि सूक्ष्म वनस्पति कायिक भागाभाग के तीनों ही सूत्रों में निगोद जीवों के निर्देश का अभाव है? इसलिये उन सूत्रों से इन सूत्रों का विरोध है।

समाधान—यदि ऐसा है तो उपदेशको प्राप्त कर यह सूत्र नहीं है ऐसा आगम निपुण जन कह सकते हैं। किन्तु हम यहां कहनेके लिए समर्थ नहीं हैं, क्योंकि हमें ऐसा उपदेश प्राप्त नहीं है।

और फिर भी लिखा है कि—

वादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर जीवों से बादर निगोद जीव प्रतिष्ठित असंख्यात गुणी हैं।

(सूत्र ६३ पृ. ५३७)

वादर निगोद जीव निगोद प्रतिष्ठित से बादर पृथ्वीकायिकजीव असंख्यात गुणा है। सूत्र ६४ (इस सूत्रसे बादर निगोद प्रतिष्ठित से बादर पृथ्वीकायिक जीव असंख्यात गुणा दिखाया है) निगोद जीव तो एक शरीर में अनन्त

ही रहते हैं जब बादर पृथ्वीकायिक अनन्त कभी भी नहीं होते हैं परन्तु असंख्यात ही होते हैं। इसलिये यह सूत्र त्रस निगोद की अपेक्षा से लिखा गया है यह स्वयं सिद्ध होजाता है)

बादमें सूत्र है कि वनस्पतिकायिकोंसे निगोद जीव विशेष अधिक हैं। सूत्र ७५ (वनस्पतिकायिक में तो प्रत्येकजीव तथा निगोद जीव दोनों ही आजाते हैं, फिर भी वनस्पति-कायिक से निगोद जीव विशेष कैसे बताया इस विषय पर धवलाकार ने शंका उठाई है कि—

शंका—यहां शंकाकार कहते हैं कि यह सूत्र (सू७५) निष्फल है, क्योंकि वनस्पतिकायिक जीवों से पृथग्भूत निगोद जीव पाया नहीं जाता है। तथा वनस्पतिकायिक जीवों से पृथग्भूत पृथ्वीकायिक आदि में निगोद जीव हैं ऐसा आचार्यों का उपदेश भी नहीं है, इसलिये इस सूत्रको सूत्रत्व का प्रसंग हो सके ?

समाधान—तुम्हारे द्वारा कहे हुये वचनमें भले ही सत्यता हो, क्योंकि बहुतसे सूत्रों में वनस्पतिकायिक जीवों में आगे निगोद पद नहीं पाया जाता, निगोद जीवों के आगे वनस्पतिकायिकों का पाठ पाया जाता है, और ऐसा बहुतसे आचार्यों से सम्मत भी है। किन्तु यह सूत्र ही नहीं है,ऐसा निश्चित कहना उचित नहीं है। इस प्रकार

तो वह कह सकते हैं जो कि चौदह पूर्वके धारक हों अथवा केवलज्ञानी हों। परन्तु वर्तमान काल में न तो वह दोनों हैं, और न उनके पास से सुनकर आये हुए महा-पुरुष भी इस समय उपलब्ध होते हैं। अतएव सूत्र की असातना से भयभीत रहनेवाले आचार्यों को स्थाप्य समझकर दोनों ही सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये।

शंका—निगोद जीवों के ऊपर वनस्पतिकायिक जीव बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर मात्रसे विशेष -अधिक होते हैं, परन्तु वनस्पतिकायिक जीवों से, निगोदजीव किससे विशेष अधिक होते हैं ?

समाधान—वनस्पतिकायिक जीव ऐसा कहने पर बादर निगोदसे प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित जीवों का ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि आधेयसे आधारका भेद देखा जाता है।

शंका—वनस्पति नामा नाम कर्मके उदय से संयुक्त होने की अपेक्षा सबों के एकता है ?

समाधान—वनस्पतिनामा नाम कर्मोदय की अपेक्षा उससे एकता रहे, किन्तु उसकी यहां विवक्षा नहीं है। यहां आधारत्व और अनाधारत्व की विवक्षा है। इस कारण वनस्पति कायिक जीवों में बादर निगोदों से प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवों का ग्रहण नहीं किया है।

शंका—बादर निगोद जीवों से प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवों के निगोद संज्ञा कैसे घटित होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आधार में आधेयका उपचार करने से उनके निगोदत्व सिद्ध होता है।

शंका—वनस्पतिनामा नामकर्मके उदयसे संयुक्त सब जीवों के "वनस्पति संज्ञा' सूत्र में देखी जाती है। बादर निगोद जीवों से प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवों के यहां सूत्र में वनस्पति संज्ञा क्यों नहीं निर्दिष्ट की ?

समाधान—इस शंका का उत्तर 'गणधर गौतम' से पूछना चाहिये। हमने तो 'गणधर गौतम' बादर निगोद जीवों से प्रतिष्ठित जीवों के 'वनस्पति' संज्ञा नहीं स्वीकार करते इस प्रकार उनका अभिप्राय कहा है। (ध.७–५३६)

धवल ग्रन्थ नंबर ७ पृष्ठ ५३८ सू०७५ 'वनस्पति कायिकों से निगोद जीव विशेष अधिक हैं इस सूत्र का अर्थ गौतम गणधर को पूछने को कहा है। गौतम गणधर तो इस निकृष्ट कालमें मिल नहीं सकते हैं। लेखक अपना स्वयं अभिप्राय इस सूत्र का लिखते हैं कि—

वनस्पतिकायिकमें तो साधारण निगोद है परन्तु त्रस जीवों में भी जिस जीव के शरीर में सप्त मलिन धातु हैं उसमें समूर्च्छन जीव है जिसका श्वास के अठारहवे भाग में जन्म मरण होता है ऐसे जीव को भी निगोद संज्ञा

कही जाती है ऐसे जीव तथा साधारण वनस्पति कायिक जीव विशेष वनस्पति कायिक जीव से अधिक हैं, यही सूत्र का अर्थ है।

शंका—त्रस जीव को निगोद कहा जाता है ऐसा कोई आगम प्रमाण है?

समाधान—धवल ग्रन्थ नंबर ७ पृष्ठ ५३७ पर सूत्र ६४ देखिये तो मालूम होगा कि यह सूत्र त्रस निगोद की अपेक्षा से ही है।

अनन्तकाल निकालने का जीव के लिए दोही स्थान है। १ निगोद, २ सिद्ध पद। संसार अवस्था में अनन्तकाल निगोद में ही निकाला जाता है। और मुक्त आत्मा अनन्तकाल सिद्ध अवस्था में निकालता है परन्तु त्रस पर्याय में अनन्त काल निकल नहीं सकता है। त्रस अवस्था मर्यादित है।

प्रश्न—त्रस कायिक जीवों का उत्कृष्ट काल कितना है?

उत्तर—त्रसकायिक जीवोंका उत्कृष्ट काल पूर्वकोटी पृथक्त्व से अधिक दो हजार सागरोपम और त्रस कायिक पर्याप्तक जीवों का उत्कृष्ट काल पूरे दो हजार सागरोपम प्रमाण है। (ध. ४–४०८)

इतने काल में आत्माने अपना कल्याण किया तो

उत्तम और नहीं तो नियम से आत्मा एकेन्द्रिय में जायगा जहां अनन्तकाल में भी सुअवसर मिलनेका कारण मिलता ही नहीं है। इसलिए त्रस पर्याय में ही अपना कल्याण कर लेना यही जीवका परम कर्त्तव्य है। उत्कृष्ट स्थितिका पुण्यका काल भी भोगने का काल त्रस पर्याय ही है. बाद में वही पुण्य कर्म प्रकृतियां नियम से पापरूप परिणमन कर जाती है।

प्रश्न—तिर्यञ्चगति से तिर्यञ्च जीवों का जघन्य अन्तर कितना है?

उत्तर—तिर्यञ्चगति से तिर्यञ्च जीवों का अन्तर कम से कम क्षुद्र भवग्रहण मात्र काल तक तिर्यञ्च जीवों का तिर्यञ्च गति से अन्तर होता है (ध. ७.१८६)

प्रश्न—स्वस्थान-स्वस्थान वेदना समुद्घात और कषाय समुद्घात इन पदों की अपेक्षा बादर पृथवीकायिक जीव जब कि लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में रहते हैं, तो वे सर्व लोक में रहते है ऐसा सूत्र द्वारा कहा गया है वह कैसे घटित होता है।

उत्तर—नहीं, क्योंकि मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा बादर पृथवीकायिक जीव सर्वलोक में रहते हैं, इस प्रकारका उपदेश दिया गया है। (ध.४.६२)

शंका—पृथ्वियों में सर्वत्र जल नहीं पाया जाता है,

इसलिये जलकायिकजीव पृथ्वियों में सर्वत्र नहीं रहते हैं ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि बादर नामक नाम कर्म के उदय से बादरत्व को प्राप्त हुए जलकायिक जीव यद्यपि पृथिवियों में सर्वत्र नहीं पाये जाते हैं, तो भी उनका सर्व पृथ्वियों में अस्तित्व होने में कोई विरोध नहीं आता है। (ध.४.६२)

शंका—बादर तेजकायिक जीव सर्व पृथ्वियों में रहते हैं यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—आगम से यह जाना जाता है कि बादर तैजस्कायिक जीव सर्व पृथ्वियों में रहते हैं। (ध.४.६२)

शंका—बादर वायुकायिक पर्याप्तराशि लोक के संख्यातवें भाग प्रमाण है, जब वह मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद पदों को प्राप्त हो तब वह सर्व लोक में क्यों नहीं रहती हैं ?

समाधान—नहीं रहती हैं, क्योंकि राजुप्रतर प्रमाण-मुखसे और पांच राजु आयाम से स्थित क्षेत्र में ही प्रायः करके उन बादर वायुकायिक पर्याप्त जीवों की उत्पत्ति होती है। (ध. ४. ६६)

प्रश्न—अग्नि और वायु कायिक जीव मरणकर कहाँ जाते हैं ?

उत्तर—अग्निकायिक व वायुकायिक बादर व सूक्ष्म

पर्याप्तक व अपर्याप्तक जीव तिर्यञ्च पर्यायों से मरणकर एक मात्र तिर्यञ्चगति में ही जाते हैं। क्योंकि, समस्त अग्निकायिक वायुकायिक संक्लिष्ट जीवों के शेष गतियों में जाने योग्य परिणाम का अभाव पाया जाता है।

(ध. ६.४५८)

प्रश्न—एकेन्द्रिय जीवों को संहनन क्यों नहीं होता ?

उत्तर—एकेन्द्रिय जीवो में संहनन कर्म का उदय नहीं होता है। (ध. ६–११६)

प्रश्न—सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की जघन्य, उत्कृष्ट आयुस्थिति कितनी है।

उत्तर—कमसे कम अन्तर्मुहूर्त काल तक जीव सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक रहते हैं। और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्तकाल तक सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक रहते हैं।

(ध. ७.१३६)

विग्रह गति में तीन मोड़ा मात्र सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होनेवाले जीवों के ही होते हैं।

शंका—सूक्ष्म एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के तीन विग्रह होते हैं, यह नियम कैसे जाना ?

समाधान—यद्यपि इस विषय में कोई नियम नहीं है. तो भी संभावना की अपेक्षा सूक्ष्म एकेन्द्रियों का ही ग्रहण

किया है। अतएव सूक्ष्म एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने वाले वादर एकेन्द्रिय या सूक्ष्म एकेन्द्रिय अथवा त्रसकायिक जीव ही तीन विग्रह करते हैं, यह नियम ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, यही उपदेश आचार्य परम्परा से आया हुवा है। (ध. ४–४३४)

वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर पर्याप्तकी जघन्य अवगाहनासे द्वीन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है।

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है ?

समाधान—वेदना क्षेत्र विधान में कहे गये अवगाहना दंडकसे यह जाना जाता है कि प्रत्येक शरीर की जघन्य अवगाहनासे द्वीन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है। (ध. ४–६४)

वादर एकेन्द्रिय पर्याप्तों के सिवाय अन्यत्र सर्व जघन्य स्थिति वन्ध नहीं पाया जाता है।

शंका—इस का क्या कारण है ?

समाधान—विशिष्ट जातियों की विशुद्धियों को देख कर ही स्थिति बन्ध के जघन्यता संभव है। इसलिए वादर एकेन्द्रिय पर्याप्तों के सिवाय उसका अन्यत्र पाया जाना संभव नहीं है। (ध. ६–१८२)

त्रस काय जीवों का स्वरूप

दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को त्रसकायिक जीव कहा जाता है। दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौन्द्रिय जीवोंको विकलत्रय जीव कहा जाता है।

प्रश्न—दोइन्द्रिय जीव किसको कहते हैं ?

उत्तर—त्रस नामा नामकर्म के उदय से तथा स्पर्शन रसना इन दो इन्द्रियों के आवरणके क्षयोपशमसे जिस जीव को ऐसा शरीर मिला है कि जिसमें रहते मात्र स्पर्श तथा रस विषयों का इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर सकता है अर्थात् भोग कर सकता है ऐसे जीवों को दो इन्द्रिय जीव कहते हैं। दोइन्द्रिय जीवोंमें बोलने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। वह अनेक प्रकारके जीव हैं। जैसे शंख, सीपिये, पांवरहित गिडोला, कृमि, लट आदि अनेक जाति के हैं।

प्रश्न—विकलेन्द्रियोंके वचनों में अनुभय पना कैसे आ सकता हैं ?

उत्तर—विकलेन्द्रियोंके वचन अनध्यवसाय रूप ज्ञान के कारण है, इसलिये उन्हें अनुभय रूप कहा है।

शंका—उनके वचनों में ध्वनिविषयक अध्यवसाय अर्थात् निश्चय तो पाया जाता है, फिर उन्हें अनध्यवसाय का कारण क्यों कहा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहां पर अनध्यवसाय से

वक्ता का अभिप्राय विषयक अध्यवसाय का अभाव विवक्षित है। (ध. १-२८८)

प्रश्न—तेन्द्रिय जीव किसको कहते हैं ?

उत्तर—त्रसनामा नामकर्म के उदयसे तथा स्पर्शन रसना नासिका इन तीन इन्द्रियोंके आवरण के क्षयोपशम से जिस जीव को ऐसा शरीर मिला है कि जिसमें रहते मात्र स्पर्श, रस और गन्ध विषयों का इन्द्रियों द्वारा अनुभव एवं भोग कर सकता है ऐसे जीव को तेइन्द्रिय जीव कहते हैं। वह अनेक प्रकारके जीव हैं। जैसे जूं कूंभी, खटमल चींटा-चींटी आदि अनेक जातिके हैं।

प्रश्न—चौइन्द्रिय जीव किसको कहते हैं ?

उत्तर—त्रस नामा नामकर्म के उदयसे और स्पर्शन, रसन, गन्ध और नेत्र इन चार इन्द्रियोंके आवरणका क्षयोपशमसे जिस जीव को ऐसा शरीर मिला है कि जिसमें रहते मात्र स्पर्श, रस, गन्ध और रूप विषयों का इन्द्रियों द्वारा अनुभव अर्थात् भोग करता है ऐसे जीवों को चौइन्द्रिय जीव कहते हैं। वह अनेक प्रकारका है। जैसे डांस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भँवरा, पतंग आदि अनेक जाति के हैं।

प्रश्न—पंचेन्द्रिय जीव किसको कहते हैं ?

उत्तर—पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकारका है। १ असंज्ञी.

२ संज्ञी, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जाति में ही होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय चार प्रकार का है। १ तिर्यञ्च २ नारकी ३ देव ४ मनुष्य।

प्रश्न—असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च किसको कहते हैं?

उत्तर—त्रस तथा तिर्यञ्चगति नाम कर्म के उदय से और स्पर्शन, रस-घ्राण चक्षु, श्रोत्रेन्द्रिया वरण कर्म के आवरण के क्षयोपशम से तथा नोइन्द्रियावरणीय कर्मके उदयसे जिस जीव को ऐसा शरीर मिला है जिसमें रहते स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द विषयों का अनुभव भोग कर सकता है, परन्तु जिसको मन आवरण का उदय होने से हित अहितका ज्ञान नहीं कर सकता है ऐसे जीवों को पंचेन्द्रिय असंज्ञी जीव कहते हैं। यह भी अनेक प्रकार के हैं जैसे सांपकी एक जाति, तोता की एक जाति आदि।

प्रश्न—असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीव मरण कर नरक एवं देवगति में कहां तक जा सकता है?

उत्तर—असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चजीव मरणकर प्रथम पृथ्वी के नारकी जीवों में उत्पन्नहो सकता है, तथा देवो में भवनवासी व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न हो सकता है।

(ध. ६–४५६)

प्रश्न—संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च का क्या स्वरूप है?

उत्तर—त्रस नामा नाम कर्म तथा तिर्यञ्च नामा नामकर्म के उदयसे तथा स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा नोइन्द्रियावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जिस जीव को औदारिक शरीर मिला है। जिसमें रहकर पांच इन्द्रियों द्वारा पांच इन्द्रियों के विषय की भोग भोगने की शक्ति प्राप्त हुई है। तिर्यञ्चकी उत्पत्ति दो प्रकारसे होती है. १ संमूर्च्छन. २ गर्भज। तिर्यञ्च तीन प्रकारके होते हैं। १ जलचर. २ स्थलचर. ३ नभचर। इन जीवों को शब्द श्रुत ज्ञान नहीं होने से भी भाव ज्ञान हिताहित का होता है। सभी तिर्यञ्च को नीच गौत्रका ही उदय है। तिर्यञ्च संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव भी दो प्रकारके होते हैं। १ भोगभूमिके. २ कर्मभूमिके। भोगभूमि तिर्यञ्च सम्यग दर्शनकी प्राप्ति कर सकता है। परन्तु वहां. पांचवें गुणस्थान रूप भाव नहीं हो सकता है। भोगभूमि के तिर्यञ्च नियम से मरण कर देवगति में जाते हैं। कर्म भूमि सम्मूर्च्छन्न संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जिसको मोहनीय कर्म की २८ अठाईस कर्म प्रकृतिकी सत्ता है वही जीव भी पंचमगुणस्थान रूप भाव कर सकता है। सम्मूर्च्छन्न संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। सम्मूर्च्छन्न संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचकी आयु उत्कृष्ट १ एक करोड पूर्व की हो सकती है। गर्भज

संज्ञी पंचेन्द्रियजीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकता है। यह जीव पंचम गुणस्थान तक का निर्मलपरिणाम कर सकता है। मनुष्य में पंचम गुणस्थानवर्ती जितने जीव हैं इससे असंख्यात गुणा विशेष तिर्यंच पंचमगुणस्थान-वर्ती जीव हैं। तिर्यंच जीव पंचमगुणस्थानवर्ती विशेषस्वयंभू रमण समुद्र में हैं। गर्भज तिर्यंचों को अवधिज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। संज्ञी संमूर्च्छन पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी उत्कृष्ट आरणा अच्युत स्वर्गतक जासकता है।

शंका—जिसको शब्दश्रुत ज्ञान नहीं है ऐसे तिर्यंचों को भावज्ञान कैसे हो सकता है।

समाधान—जैसे हिरण एवं साँप आदि को राग रागणी का शब्द श्रुत ज्ञान नहीं है और भाव ज्ञान है जिस कारण से रागरागणी में अति अनुरागी होकर बन्धन में पडते हैं एवं मरण को भी प्राप्त हो जाते हैं। कुत्ते को रोटी डालने से वह सामने बैठकर आनन्द से पूंछ हिलाकर खाता है, परन्तु रोटी ले भागकर नहीं खाता है। वही कुत्ता यदि चौका घरमें से चोरी कर रोटी उठा ले जावे तो नियम से वह दूर भागकर छुपी रीति से खावेगा परन्तु सामने बैठकर नहीं खावेगा, क्योंकि, वह जानता है कि यह रोटी चोरी कर लाया हूँ, यदि सामने बैठकर खाऊंगा तो नियम से लाठी खानी पडेगी। इस प्रकार भाव ज्ञान

उसीको हो जाता है, यद्यपि चोरी किसका नाम है वह मुखसे बोल नहीं सकता है। तिर्यंच पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक पदधारी हो जावे तो भी वह, मनुष्य पात्र जीवों को दान दे नहीं सकता है। यदि तिर्यंच जीव, मुनि महाराज आहार ले रहे हैं वहां छूजावे तो मुनि महाराज को अन्तराय आजाती है यह चरणानुयोग की विधि है, किन्तु तिर्यंच मुनि महाराज को दान देने की अनुमोदना कर सकता है। तिर्यंच, तिर्यंचों में आहार दान देने की विधि है। संयता-संयत तिर्यंच जीव सचित्त भञ्जन के प्रत्याख्यान अर्थात् व्रतों को ग्रहण कर लेते हैं उनके लिये वनस्पति के सूखे पत्तों आदि के देने का व्यवहार है। (ध. ७-१२३)

प्रश्न—सामान्य तिर्यंचों के अपर्याप्त काल में तीनों अशुभ लेश्यायें क्यों होती हैं।

उत्तर—क्योंकि, तेजो लेश्या और पद्म लेश्या वाले भी देव यदि तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं तो नियम से उनके शुभ लेश्यायें नष्ट हो जाती हैं इसीलिये तिर्यंचों की अपर्याप्त अवस्था में तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं। (ध. २. ४७३)

शुक्ल लेश्यावाले तिर्यंच शुक्ल लेश्यावाले देवों में उत्पन्न नहीं होते हैं।

शंका—किस प्रमाण से यह कहा जाता है ?

समाधान—क्योंकि, पांच बटे चौदह भाग प्रमाण

स्पर्शन क्षेत्रके उपदेश का अभाव है, इससे जाना जाता है कि शुक्ललेश्या वाले तिर्यञ्च जीव मरकर शुक्ल लेश्या वाले देवो में उत्पन्न नहीं होते हैं। (ध. ४-३००)

प्रश्न—तिर्यञ्च सासादन सम्यग्दृष्टि मरणकर कहां जाता है ?

उत्तर—तिर्यञ्च सासादन सम्यग्दृष्टि संख्यात वर्ष की आयुवाले तिर्यञ्च, तिर्यञ्च पर्यायों से मरणकर तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, और देवगति में जाते हैं । तिर्यञ्चगति में जानेवाले संख्यातवर्ष की आयुवाले सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय में जाते हैं, विकलेन्द्रियों में नहीं जाते हैं।

शंका—यदि एकेन्द्रियों में सासादन सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो पृथ्वीकायादिक जीवों में मिथ्यात्व और सासादन यह दो गुणस्थान होने चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आयु क्षीण होनेके प्रथम समय में ही सासादन गुणस्थान का विनाश हो जाता है।

(ध. ६-४५८)

प्रश्न—संज्ञी तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि जीव मरणकर देवों में कहां तक जा सकता है ?

उत्तर—संज्ञी तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय पर्याप्त संख्यात आयुवाले तिर्यञ्चजीव भवनवासियों से लगाकर

सतार-सहस्रार तकके कल्पवासी देवों में जा सकता है। क्योंकि सतार सहस्रार कल्पके ऊपर सम्यक्त्व और अणु-व्रतोंके विना गमन नहीं होता है। (ध. ६–४५५)

प्रश्न—पंचेन्द्रिय लब्ध पर्याप्तक जीवों में लगातार कितना भव होता है ?

उत्तर—पंचेन्द्रिय लब्धपर्याप्तक जीवों में लगातार निरन्तर उत्पन्न होने के भव चौबीस होते हैं (ध.४–४०१)

प्रश्न—तिर्यञ्चों की उत्कृष्ट अवगाहना किस प्रकारहै?

उत्तर—शंख नामक द्वीन्द्रिय जीव बारह योजन की लम्बी अवगाहना वाला होता है। गोम्ही नामक त्रीन्द्रिय जीव तीन कोस लम्बी अवगाहना वाला होता है। भ्रमरनामक चोइन्द्रियजीव एक योजनकी लम्बी अवगाहना वाला होता है और महामत्स्य नामक पंचेन्द्रिय जीव एक हजार योजनकी लम्बी अवगाहना वाला होता है। (ध. ४–३३)

नारकी जीवों का स्वरूप।

त्रस नामा नामकर्म तथा नरक गति नाम कर्म के उदयसे तथा स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा नो इन्द्रिया-वरणकर्म के क्षयोपशम से जिन जीवों को वैक्रियिक शरीर मिला है, जिसमें रह कर पांच इन्द्रियों द्वारा पंच इन्द्रियों के विषयों को भोगने की अभिलाषा होती है किन्तु तीव्र

असाता कर्म के उदय से सामग्री मिलती ही नहीं है जिससे महा दुःखी है। इसको हित अहित का ज्ञान है। नारक पृथ्वी सात प्रकार की है, जिसमें जन्म उपपाद से ही होता है।नारक भूमि के नाम निम्न प्रकार हैं। १ रत्नप्रभा २ शर्करा प्रभा ३ बालुकाप्रभा ४ पंकप्रभा ५ धूमप्रभा ६ तमःप्रभा ७ महातमप्रभा। ये सातों भूमियां इस मध्य लोक के नीचे तीन हवाओं के वलय घेरे से घिरी क्रमशः नीचे नीचे की ओर स्थित हैं। इन सात भूमि में चौरासी लाख नरकावास निम्न प्रकार हैं। रत्नप्रभा में तीस लाख; शर्कराप्रभा में पच्चीस लाख, बालुका में पन्द्रह लाख, पंकप्रभा में दसलाख, धूमप्रभा में तीन लाख, तमःप्रभा में पांचकम एक लाख, और महातम प्रभा में पांच आवास मिलकर कुल चौरासी लाख आवास हैं। नारकी जीवों की आयु पहले नरक में एक सागर की दूसरे में तीन सागर की तीसरे में सात सागर की, चौथे में दस सागर की, पांचवे में सत्रह सागर की, छठे में बाईस सागर की, और सातवें नरक में तेतीस, सागर की उत्कृष्ट है। पहले तथा दूसरे नरक में कापोत लेश्या है। तीसरे नरकके ऊपरीतम भाग में कापोत लेश्या है, और अधस्तन भाग में नील लेश्या है। चौथे नरक में नील लेश्या है। पांचवें नरक के उपर के भाग में नील

लेश्या है और नीचले भागमें कृष्ण लेश्या है। छठे नरक में कृष्ण लेश्या है, और सातवें नरक में परमकृष्ण लेश्या है। पहली से चार पृथ्वी में तथा पांचवीं धूमप्रभा के ऊपर के भागों में अर्थात् दो लाख आवासों में उष्ण वेदना है, और धूमप्रभा के नीचले भागसे अर्थात् एकलाख आवासों में तथा छठवी, सातवीं पृथवी में शीत वेदना है। नारकियों के मात्र नपुंसक वेद है अर्थात् स्त्री तथा पुरुष दोनों के साथ रमने के भाव हैं। शरीर का आकार नपुंसकरूप नहीं हैं परन्तु भाव वेद ही नपुंसक हैं। सभी नरक स्थानों में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु सातवे नरक वाले जीवों का ऐसा ही स्वभाव है कि वह वहां से सम्यगदर्शन सहित वापिस निकलते नहीं है, परन्तु मिथ्यात्व अवस्था में ही निकलेंगे। सम्यग्दृष्टिजीव सम्यग्दर्शन सहित प्रथम नरक में ही जाता है इससे आगे वह नहीं जाता है। तीसरे नरक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर भी हो सकता है। नरकगति में यह विशेष बात है कि नरक गति में से निकला हुआ जीव नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय ही बनेगा परन्तु देवगति वाले जीव मरणकर एकेन्द्रिय में भी जासकते हैं।

शंका—नारकियोंमें तीन अशुभलेश्या होते संते वह संज्ञी पंचेन्द्रियों में ही क्यों उत्पन्न होता है?

समाधान—नारकी जीवों को अशुभ लेश्या अर्थात् प्रवृत्ति क्षेत्रजन्य दुःखमें से बचने के लिये होती है परन्तु वहां रहकर भोग भोगने में लालसा नहीं है। देवों को देव गतिका भोग भोगने की लालसा से एकेन्द्रिय में जाना पडता है जबकि नारकी के भोग भोगने की तीव्र लालसा नहीं होने से संज्ञी पंचेन्द्रियमें नियम से आता है।

प्रश्न—तृतीय पृथ्वी में नील लेश्या की संभावना होनेसे तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्ध के मनुष्योंके समान नारकी भी स्वामी होते हैं ?

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, वहां नील लेश्या युक्त अधस्तन इन्द्रक में तीर्थङ्कर प्रकृति के सत्व वाले मिथ्या-दृष्टियों की उत्पत्ति का अभाव है। इसका कारण यह कि वहां उस पृथ्वी की उत्कृष्ट आयु देखी जाती है। और उत्कृष्ट आयु वाले जीवों में तीर्थङ्कर सन्त कर्मिक मिथ्या-दृष्टियों का उत्पाद है नहीं, क्योंकि वैसा उपदेश है नहीं, अथवा नारकियोंमें उत्पन्न होने वाले तीर्थङ्कर सन्त कर्मिक मिथ्यादृष्टि जीवों के सम्यग्दृष्टि के समान कापोत लेश्या को छोडकर अन्य लेश्या का अभाव होनेसे नील और कृष्ण लेश्या में तीर्थङ्कर की सत्ता वाले जीव नहीं होते हैं।

(ध. ८–३३२)

प्रश्न—नरक गतिसे नारकी जीवों का जघन्य अन्तर

काल कितना होता है ?

उत्तर—कम से कम अन्तर्मुहूर्त काल तक नरकगति से नारकी जीवोंका अन्तर होता है। क्योंकि नरक से निकल कर गर्भोत्क्रान्तिक तिर्यञ्च जीवों में अथवा मनुष्यों में उत्पन्न हो सबसे कम आयु के भीतर नरकायु को बांध कर मरण कर पुनः नरकों में उत्पन्न हुए नारकी जीवोंके नरक गति से अन्तर्मुहूर्त मात्र अन्तर पाया जाता है।

(ध. ७–१८७)

प्रश्न—सप्तम नरक से निकला हुआ नारकी कहाँ उत्पन्न होता है और वहां वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर सकता है कि नहीं ?

उत्तर—सातवीं पृथ्वी का नारकी नरक से निकल कर तिर्यञ्च गति में ही उत्पन्न होता है, परन्तु वही तिर्यञ्च इन छहों की उत्पत्ति नहीं करते हैं। (१) आभिनिबोधिक ज्ञान, (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान, (४) सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थान को (५) सम्यक्त्व को उत्पन्न नहीं करते (६) और संयमासंयम को उत्पन्न नहीं करते हैं।

(ध. ६. ४८४)

श्री धवलग्रन्थ में सप्तम नरक के आये हुए तिर्यञ्च जीवों के सम्यक्त्व की प्राप्ति का सर्वथा प्रतिषेध किया गया है, परन्तु तिलोयपण्णत्ति (२-२९२) तथा प्रज्ञा-

पन्ना (२०-१०) में उनमें से कितने ही जीवों द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण किये जाने का विधान पाया जाता है।

प्रश्न—छठे नरक पृथ्वी में से निकले नारकी कौनसी गति में किस पद को प्राप्त कर सकते हैं।

उत्तर—छठी पृथ्वी में से निकला नारकी मनुष्य और तिर्यंचगति में जाता है वहाँ अभिनिबोधक ज्ञान २ श्रुतज्ञान ३ अवधिज्ञान ४ सम्यग्मिथ्यात्व ५ सम्यक्त्व ६ और संयमासंयम उत्पन्न कर सकता है। (ध. ६. ४८६)

प्रश्न—पांचवी नरक पृथ्वी में से निकला नारकी जीव मनुष्यगति में किस पद को प्राप्त कर सकता है?

उत्तर—पांचवी पृथ्वी में से निकला नारकी, मनुष्य होकर अभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, सम्यग्मिथ्यत्त्व, सम्यक्त्व, संयमासंयम और कोई संयम की प्राप्ति करता है। (ध, ६-४८८)

प्रश्न—चोथी नरक पृथ्वी में से निकला नारकीमनुष्य गति में किस पद को प्राप्त कर सकता है।

उत्तर—चौथे नरकी में से निकला जीव मनुष्य होकर मति-श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञान को तथा संयमासंयम, संयम सिद्धपद को प्राप्त करता है, पन्तु बलदेव नारायण चक्रवर्ती और तीर्थंकर नहीं होते। (ध. ६-४८९)

देव जीव का स्वरूप।

त्रस नामा नामकर्म तथा देवगति नामानामा कर्म के उदय से तथा स्पर्श, रसना, घाण, चक्षु, श्रोत्र तथा नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से जिस जीव को वैक्रयिक शरीर मिला है, जिसमें रहकर पांचइन्द्रियों द्वारा पंचइन्द्रियों के विषयों के उत्कृष्ट भोग भोगने की शक्ति प्राप्त हुई है। जिसको हित अहित का ज्ञान है। जिसकी उत्पत्ति उपपाद से होती है वे चार प्रकार के देव हैं। १ भवनवासी २ व्यन्तर ३ ज्योतिषी ४ वैमानिक। इनमें से भवनवासी दस प्रकार के हैं। व्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं। ज्योतिषी देव पांच प्रकार के हैं, तथा वैमानिक देव दो प्रकार के हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, तथा सौधर्म, ऐशान यह दो कल्पवासी देव शारीरिक सम्बन्ध से मनुष्यों की तरह देवियों से काम सेवन करते हैं। बाकी के कल्पवासी देव, देवांगनाओं को स्पर्श कर, रूप देखकर, शब्द सुनकर मन में चिंतवन कर अपनी अपनी काम वासनाओं से पूर्ण हो जाते हैं। कल्पातीत देव अथवा नौग्रैवेयिक नौअनुदिश तथा पांच अनुत्तर इनमें रहने वाले अहमिन्द्रों की कषाय इतनी मन्द है कि इनके विषय वासना होती ही नहीं है। भवनवासी, व्यन्तर, और ज्योतिषी इन तीनों निकायों के देवों में अपर्याप्त अवस्था में कृष्ण-नील कपोत और पीत

लेश्या रहती है, किन्तु पर्याप्त अवस्थामें मात्र पीत-लेश्या रहती है। कल्पवासी देवो में तीन शुभ लेश्यायें रहती हैं। कल्पातीत देवों में मात्र शुक्ल लेश्या ही रहती है। देवो में तीन वेदोमें से दो वेदका ही भाव होता है। देवियों के साथ रमने का भाव तथा देवों के साथ रमने का भाव होता है, किन्तु नपुंसक भाव नहीं होता है।

प्रश्न—देव पर्याय में सुख भोगने के अनेक साधन हैं तो भी वहाँ सुख नहीं है ऐसा कैसे कहा जाता है ?

उत्तर—देव पर्याय में भी एकान्तिक दुःख ही है। जिसने मिश्री देखी नहीं है वह मिश्री मीठी होती है, ऐसा मात्र शब्दसे बोलता हैं परन्तु इसके स्वादका ज्ञान नहीं है। ऐसे आत्मिक सुखकी जिनको गन्ध नहीं है वेही जीव कहते हैं कि देव पर्याय में सुख है, परन्तु विचार तो करो कि यदि देवगति में सुख होते तो वह एक विषय छोडकर दूसरे विषय को क्यों ग्रहण करते ? विषय से विषयान्तर में जाना वही दुःख की तो निशानी है। एक वस्तुमें सुख का अनुभव नहीं हुआ तब तो दूसरे विषय में पतंग की माफिक जला करते हैं। अज्ञानी जीव कल्पना करता है कि देव पर्यायों में सुख है परन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि वहाँ किंचित सुख नहीं है। जहाँ विषयों सेदूसरे विषयों में जाने की भावना है वही भावना ही दुःख की जननी है।

प्रश्न—मरणकाल में किन देवों की लेश्यायें परिवर्तन हो जाती हैं ?

उत्तर—तिर्यञ्च और मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले देव जो परमार्थ के अजानकार और तीव्र लोभ कषायवाले ऐसे मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देवों के मरते समय संक्लेश उत्पन्न हो जानेसे तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यायें नष्ट होकर कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं में यथासंभव कोई एक लेश्या होजाती है। किन्तु जो मनुष्यों में ही उत्पन्न होने वाले हैं, मन्द लोभ कषायवाले हैं, परमार्थ के जानकार हैं, और जिन्होंने जन्म जरा और मरण के नष्ट करनेवाले अरहन्त भगवान में अपनी बुद्धि को लगाया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि देवोंके चिरंतन तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याऐं मरण करने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त तक नष्ट नहीं होती हैं। (ध. २-७६४)

प्रश्न—भवनवासी देवों के विमानों में पृथ्वीकायिकादि जीव निवास करते हैं ?

उत्तर—बादर पृथ्वीकायिक, बादर जलकायिक, तेज कायिक और बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर, तथा इनके अपर्याप्त जीव भी भवनवासियोंके विमानों में व आठ पृथ्वियों में निश्चितक्रमसे निवास करते हैं।

शंका—तैजसकायिक, जलकायिक, और वनस्पति

कायिक जीवों की क्या वहाँ संभावना है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इन्द्रियों से अग्राह्य व अतिशय सूक्ष्म पृथ्वी सम्बद्ध उन जीवों के अस्तित्वका कोई विरोध नहीं है। (ध. ७–२३२)

प्रश्न—देवगति से मरणकर फिर देवगति में उत्पन्न होने का जघन्य अंतरकाल कितना है ?

उत्तर—देवगतिसे देव भवनवासी वा व्यन्तर-ज्योतिषी देव और सौधर्म ऐशान कल्प के देवों की जघन्यआयु बन्ध अन्तर्मुहूर्त कालमात्र है, क्योंकि, देवगति से आकर गर्भोपक्रांतिक पर्याप्त तिर्यंचोंमें व मनुष्योंमें उत्पन्न होकर पर्याप्तियाँ पूर्णकर देवायुबंध पुनः देवों में उत्पन्न हुए जीव के देवगति से अंतर्मुहूर्तमात्र अंतर पाया जाता है।

सानत्कुमार—और माहेंद्र कल्प के देवोंकी भी अंतर की प्ररूपणा जघन्य अंतरमुहूर्त पृथक्त्व मात्र काल होती है। क्योंकि, सानत्कुमार माहेंद्र देवोंमेंसे गर्भोपक्रांतिक तिर्यंच व मनुष्यों में उत्पन्न होकर मुहूर्तपृथक्त्व काल रह कर आयु को बांधकर पुनः सानत्कुमार माहेंद्र देवों में उत्पन्न हुए जीव के मुहूर्त पृथक्त्व मात्र काल का अंतर पाया जाता है।

ब्रह्म—ब्रह्मोत्तर व लांतव कापिष्ठ कल्पवासी देवों का देवगति से कमसे कम दिवस पृथक्त्व कालमात्र अपनी

देवगति से अन्तर होता है। क्योंकि उक्त देवों द्वारा जो आगामी भव की आयु बांधी जाती है उसका स्थिति बंध दिवस पृथक्त्वसे कम होता ही नहीं है।

शंका—दिवस पृथक्त्वकी आयुमें तो तिर्यंच व मनुष्य गर्भ से भी नहीं निकल पाते, और इसलिये उनमें अणुव्रत व महाव्रत भी नहीं हो सकते ? ऐसी अवस्थामें दिवस पृथक्त्व की मात्र आयु के पश्चात् पुनः देवों में कैसे उत्पन्न हो सकते है ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, परिणामों के निमित्त से दिवस पृथक्त्व मात्र जीवित रहनेवाले तिर्यंच व मनुष्य पर्याप्तक जीवोंके देवोंमें उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं आता।

शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार कल्पवासी देवोंका देवगति से अंतर कमसेकम पक्ष पृथक्त्व काल तक अन्तर होता है।

आनत, प्राणत और आरण अच्युत कल्पवासी देवों का देवगति से अंतर कमसेकम मास पृथक्त्व काल मात्र होता है। क्योंकि, आनत-प्राणत आरण और अच्युत कल्पवासी देवोंके द्वारा बांधी जानेवाली मनुष्यायुका स्थितिबंध कमसेकम मास पृथक्त्व से नीचे नहीं होता है।

शंका—जब आनत आदि चार कल्पवासी देव मनु-

ष्योंमें उत्पन्न होते हैं, तब मनुष्य होकर भी वे गर्भसे लेकर आठ वर्ष व्यतीत हो जाने पर अणुव्रत वं महाव्रत को ग्रहण करते हैं। अणुव्रतों को व महाव्रतोंको ग्रहण न करनेवाले मनुष्योंको आनत आदि देवोंमें उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि ऐसा उपदेश नहीं पाया जाता। अतएव आनत आदि चार देवोंका मास पृथक्त्व अंतर करना युक्त नहीं है, उनका अंतर वर्ष पृथक्त्व होना चाहिये ?

समाधान—अणुव्रतों व महाव्रतों से संयुक्त ही तिर्यञ्च व मनुष्य आनत प्राणत देवों में उत्पन्न हो ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर तो तिर्यञ्च असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों का जो छः राजू स्पर्शन बतलाने वाला सूत्र है उससे विरोध उत्पन्न हो जावेगा। (देखो षट्खंडागम जीव ट्ठाणा स्पर्शनानुगम सूत्र नं० २८ व टीका पुस्तक नंबर ४ पृष्ठ २०७) और आनत प्राणत कल्पवासी असंयत सम्यग्दृष्टि देव जब मनुष्यायु की जघन्य स्थिति बांधते हैं, तब वे वर्ष पृथक्त्वसे कम आयु की स्थिति नहीं बांधते क्योंकि, महाबन्ध में जघन्य स्थिति बन्ध के काल विभाग में सम्यग्दृष्टि जीवों की आयु स्थितिका प्रमाण वर्ष पृथक्त्व मात्र प्ररूपित किया गया है। अतः आनत प्राणत मिथ्यादृष्टि देवके मास पृथक्त्व मात्र मनुष्यायु बांधकर फिर मनुष्योंमें उत्पन्न हो मास पृथक्त्व जीवित रहकर पुनः अन्तर्मुहूर्त

मात्र आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च समूर्च्छन पर्याप्त जीवों में उत्पन्न होकर पर्याप्तक हो, संयमासंयम [अणुव्रत] ग्रहण करके आनत आदि कल्पोंकी आयु बांधकर वहाँ उत्पन्न हुए जीवके सूत्रोक्त मास पृथक्त्व प्रमाण जघन्य अन्तरकाल होता है।

नवग्रैवेयक विमानवासी देवों का देवगति में जघन्य अन्तर वर्ष पृथक्त्व काल तक होता है। क्योंकि नवग्रैवेयक विमानवासी देव वर्ष पृथक्त्व से नीचे की जघन्य आयु स्थिति बांधते ही नहीं हैं।

अनुदिश आदि अपराजित पर्यन्त विमानवासी देवोंका देवगति से जघन्य अन्तर वर्ष पृथक्त्व काल और उत्कृष्ट सातिरेक दो सागर प्रमाण काल अन्तर होता है। क्योंकि अनुदिशी आदि देवके पूर्वकोटि के आयुवाले मनुष्यों में उत्पन्न होकर एक पूर्व कोटी तक जीवित रहकर सौधर्म ऐशान स्वर्गको जाकर वहां अढाई सागरोपम काल व्यतीत कर पुनः पूर्वकोटी आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न होकर संयम को ग्रहण कर अपने अपने विमान में उत्पन्न होने पर उनका अन्तरकाल सातिरेक दो सागरोपम प्रमाण प्राप्त हो जाता है। (ध. ७-१९०)

प्रश्न—देवो में तीन शुभ लेश्या हैं तो भी वह मरण कर एकेन्द्रिय पर्याय में जा सकता है, और नारकियों में

तीनों अशुभ लेश्या ही हैं तो भी वे मरण कर नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं इसका क्या कारण है ?

उत्तर—देवों में तीन शुभ लेश्या होते हुए देव गति के भोग भोगनें के भाव हैं जिस कारण से वे अपनी वासना के अनुकूल मरणकर एकेन्द्रियादि पर्याय में जाते हैं, जबकि नारकी के भोग भोगने की भावना नहीं है परन्तु नरक क्षेत्र की अति पीडा के कारण नरक क्षेत्रसे बचने के लिए तीव्र अशुभ लेश्या रूप प्रवृति है जिस कारण से वह मरणकर नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय ही बनता है। जैसे एक मनुष्य के ऊपर दस आदमी हमला कर रहे हैं, माररहे हैं तब उस मनुष्यका भाव वहां उसे मारने का नहीं होता है परन्तु वह दुःख से बचने के लिये तीव्र प्रवृति करता है, इसी प्रकार नारकी जीव नरक क्षेत्र-जन्यदुःख से बचने के लिये तीव्र प्रवृति करता है। परन्तु नरक में भोगनेके तीव्र संक्लेशरूप परिणामों से रहता नहीं, इसी कारण से वह जीव मरणकर नियमसे संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होता है।

देवोंके शरीर में संहनन नहीं होता है।

प्रश्न—देवगति में छह संहनन क्यों नहीं होते हैं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि, देवों में संहननोंके उदय का अभाव है। (ध. ६-१२३)

प्रश्न—देवगति के साथ उद्योत प्रकृतिका बंध क्यों नहीं होता है ?

उत्तर—क्योंकि देवगति में उद्योत प्रकृतिके उदय का अभाव है, और तिर्यंच गति को छोडकर अन्य गतियों के साथ उसके बंधने का विरोध है।

शंका—देवों में उद्योत प्रकृतिका उदय नहीं होनेपर देवों के शरीरों में दीप्ति (कान्ति) कहां से होती है ?

समाधान—देवोंके शरीरों में दीप्ति वर्णनाम कर्मके उदय से होती है। (ध. ६. १२६)

प्रश्न—क्या देव असंख्यात योजन प्रमाण विहार करनेवाले होते हैं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि, असंख्यात योजन प्रमाण विहार करने वाले देव सर्व देवराशि के असंख्यात भाग मात्र हैं।

शंका—यह किस प्रकार जाना जाता है ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि विहारवत्स्वस्थान राशि तिर्यग्-लोक (पूर्व पश्चिम एक राजू चौडा, उत्तर दक्षिण सात राजू लम्बा, एक लाख योजन ऊंचा) के संख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में रहती है। इस प्रकार के व्याख्यानसे उक्त बात जानी जाती है। (ध. ४–३७)

प्रश्न—क्या असंख्यात योजन -क्षेत्र को रोककर

विक्रिया करने वाले भी देव पाये जाते हैं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि, असंख्यात योजन विक्रिया करनेवाले देव सामान्य देवों के असंख्यातवें भाग मात्र ही होते हैं। कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि सभी देव अपने अवधिज्ञान के क्षेत्र प्रमाण विक्रिया करते हैं। परन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि वैक्रयिक समुद्घातको प्राप्त हुई राशि तिर्यग् लोकके संख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में रहती है, ऐसा व्याख्यान देखा जाता है। (ध. ४–३८)

प्रश्न—सर्वार्थसिद्धि देवों की संख्या कितनी है ?

उत्तर—सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देवोंकी संख्या मनुष्ययोनिके प्रमाण से तिगुणी है। कोई आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि सर्वार्थसिद्धि देव मिथ्यादृष्टि मनुष्य योनि से तिगुणे और सात गुणे हैं। तथा कोई आचार्य ऐसा भी कहते है कि सर्वार्थसिद्धि देव सामान्य से संख्यात समय गुणाकार हैं। इसलिये यहां गुणाकार के विषय में तीन उपदेश हैं। तीनों के मध्य में एक ही जात्य (श्रेष्ठ) उपदेश है परन्तु वह जाना नहीं जाता है। इस कारण तीनों का ही संग्रह करना चाहिये।

(ध. ७–५७६)

प्रश्न—एक चन्द्रके कितना परिवार है ?

उत्तर—एक चन्द्रके परिवार में (एक सूर्य के अतिरिक्त) अट्ठासी ग्रह और अट्ठाईस नक्षत्र होते हैं, तथा तारों का प्रमाण निम्न है।

छावटिंठ च सहस्सं णवयसदं पंच सतरि य होंति।
एय ससी परिवारो ताराण कोडि-कोडीओ ॥ ३ ॥

अर्थ—चन्द्र के परिवार में छयासठ हजार नौसौ पिचेत्तर कोडा कोडी ६६९७५००००००००००००००० तारे होते हैं। (ध. ४–१५२)

मनुष्य जीव का स्वरूप

त्रस नामा नामकर्म तथा मनुष्य गति नामा नाम कर्म के उदय से तथा स्पर्श; रस, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र एवं नोइन्द्रियावरणीय कर्मका क्षयोपशम से जिस जीवको औदारिक शरीर मिला है, जिसमें रह कर पांच इन्द्रियों द्वारा पंचेन्द्रियों के विषयों का भोग भोगने की शक्ति प्राप्त होती है। मनुष्य मात्र ही संज्ञी है। मनुष्य की उत्पत्ति दो प्रकारसे होती है। १ समूर्च्छन २ गर्भज। समूर्च्छन मनुष्य के भी दस प्राण होते हैं। समूर्च्छन मनुष्य की आयु श्वासोच्छ्वास के अठारहवें भाग में होती है। जिसका अपर्याप्त अवस्था में ही मरण हो जाता है। मांस, रुधिर

आदि सप्त धातु वाले शरीर में ऐसे जो जीव उत्पन्न होते हैं इसी को उपचार से निगोद भी कहा जाता है, क्योंकि, ऐसे जीवों की आयु निगोद जीवों के समान रहने से निगोद का उपचार किया जाता है । समूर्च्छन जीव तो अपना कल्याण कर नहीं सकता है।

गर्भज मनुष्य दो प्रकार का होते हैं। १ भोगभूमि मनुष्य २ कर्मभूमि मनुष्य ।

भोगभूमि मनुष्य—देवकुरु उत्तम भोगभूमि है जहाँ तीन पल्य की आयु होती है। हरिक्षेत्र मध्यम भोगभूमि है जहां दो पल्य की आयु होती है। हैमवत क्षेत्र जघन्य भोगभूमि है जहां एक पल्य की आयु होती है । भोग-भूमियों की आयु की अन्तिम घडियों में बालक बालिका युगल पैदा होते हैं। और वही ४६ दिन में भोगोपभोग भोगने लगते हैं। इस युगल का पति पत्निका ही सम्बन्ध होता है। इस प्रकार के कल्पवृक्ष से ही अपनी इच्छा के अनुकूल भोगों की सामग्री सहज मिल जाती है । इस युगल का अर्थात् पति पत्निका मरण एक साथ ही होता है, क्योंकि, अलग २ मरण होने से राग के कारण से दुःखका-अनुभव करना पडे, किन्तु भोग भूमि में संसारी सुख की ही प्रधानता होने से ऐसा वियोग का प्रसंग बनता ही नहीं है। यह युगलया मरणकर नियम से देवगति में

जावेगा, उसकी दूसरी गति होती नहीं है। भोगभूमि में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु वहां संयमासंयम भाव होता ही नहीं है यह भोगभूमि की महिमा है। गोत्र की अपेक्षा से तो मनुष्यमात्र ही उच्च गोत्री है, परंन्तु भोग भूमि में व्यवहार से गोत्र का भेद पडता नहीं है, क्योंकि वहां आजीविका के निमित्त से कोई भी कार्य होता ही नहीं है, क्योंकि यहाँ सर्व व्यवहार कल्पवृक्ष से ही होता है।

कर्मभूमि मनुष्य--कर्म भूमि के मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं। १ आर्य मनुष्य २ अनार्य मनुष्य। जिसको आत्मिक धर्म प्राप्त करने की भावना होती है वह आर्य मनुष्य है। जिसको आत्मिक धर्म प्राप्त करने की भावना होती नहीं वही अनार्य है जिसको म्लेच्छ कहते हैं। प्रधान पने यह भेद भूमिजन्य है। म्लेच्छ खन्डोंमें रहनेवाले जीवोंमें धर्म बुद्धि होती ही नहीं है, यह इस भूमिकी एक महिमा है, जिस कारण से अनादि अकृत्रिम चैत्यालय वहां एक भी नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि इस भूमि की ही महिमा है। आर्यभूमिके मनुष्य का म्लेच्छ भूमिमें जन्मी हुई कन्याओं के साथ विवाह–शादी करने का व्यवहार है। म्लेच्छ भूमिमें जन्म लिया हुआ स्त्री एवं पुरुष यदि आर्य भूमि में आजावेतो वह अपने परिणाम निर्मल

करे तो मुनि अर्जिकाके पद तकका परिणाम निर्मल कर सकता है परन्तु यही परिणाम म्लेच्छ भूमि में रहकर निर्मल कर नहीं सकता है। परन्तु इन जीवों का इतना निर्मल परिणाम नहीं हो सकता है कि उसी भवसे वह मोक्ष चले जावे। इतनी इन जीवों में विशेषता है। म्लेच्छ भूमि में रहते उन जीवों का भाव आत्मिक धर्म प्राप्त करने का कभी होता ही नहीं है यह इस भूमि की एक विशेष बात है।

भरत ऐरावत तथा विदेह क्षेत्र मे रहने वाले जीव आर्यक्षेत्र वासी कहे जाते हैं। कर्म प्रकृति की अपेक्षासे उच्च गोत्र उदय में ही मनुष्यगति मिलती है। एक आयु में एक ही गोत्र का उदय रहता है, किन्तु गौत्रका परिवर्तन होता ही नहीं। कार्यकी अपेक्षा से अर्थात् आजीविका की अपेक्षासे व्यवहार में उपचार से गौत्रका भेद होता है, तो भी व्यवहार गौत्र परिवर्त्तन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उच्चगौत्री कहे जाते हैं, और शूद्र नीचगौत्री कहे जाते हैं। जो जीव आत्मिक धर्ममें विवेकशील है उन्हींको ब्राह्मण कहा जाता है। जो प्रजाकी रक्षा करते हैं उन्हींको क्षत्रिय कहा जाता है। जो गोधन एवं खेती वाणिज्य करते हैं उन्हीं को वैश्य कहा जाता है। जो क्षत्रिय वैश्य की चाकरी करता है उसीको शूद्र कहते हैं। ब्राह्मण जातीय

बाह्मण, वैश्य, और शूद्र की कन्याओं के साथ शादी कर सकता है। क्षत्रिय जातीय क्षत्रिय, बाह्मण, वैश्य और शूद्र की कन्याओं की साथ में शादी-विवाह कर सकते हैं। किन्तु वह बाह्मण एवं क्षत्रिय कन्या के साथ शादी-विवाह कर नहीं सकता है। शूद्र जाति मात्र शूद्र की कन्या के साथ ही विवाह कर सकता है, परन्तु वह ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की कन्याओं के साथ शादी विवाह कर नहीं सकता है। परन्तु वर्तमान में इस प्रकार का व्यवहार देखने में नहीं आता है। आगेके कालमें मामा और फूफा की पुत्री के साथ शादी विवाह करने का रिवाज था, परन्तु वर्तमान में. इस प्रकारका व्यवहार देखने में नहीं आता। जिससे मालुम होता है अर्थात् जिससे सिद्ध होता है कि यह सब व्यवहार परिवर्तनशील हैं। आज जिसके साथ बेटी व्यवहार नहीं है किन्तु कल उसके साथ व्यवहार हो सकता है, इससे सिद्ध होता है कि यह सब व्यवहार परिवर्तनशील है। आज जो महत्तर अस्पृष्यशूद्र है उसके साथ छूने का व्यवहार भी नहीं है परन्तु वही अस्पृष्य शूद्र यदि मुसलिम या ईसाई या क्रिश्चियन, एंग्लोइण्डियन हो जाये तो इसके साथ छूनेका व्यवहार तो वर्तमान में देखने में आता है। इससे सिद्ध होता है कि यह सब व्यवहार परिवर्तनशील हैं।

मनुष्यगति में तीनों प्रकार के वेदों का भाव एक जीवमें हो सकता है, अर्थात् स्त्री के साथ रमने का भाव, पुरुष के साथ रमने का भाव और स्त्री–पुरुष दोनों के साथ रमने का भाव एक जीव में हो सकता है। यह भाव परिवर्तनशील है। किन्तु तीन प्रकार के शरीर का ढांचा जो अङ्गोपांग नामा नामकर्मकी प्रकृतिके उदय में बनता है, वह परिवर्तनशील नहीं है. यह ढांचा एक पर्याय में एक ही रहता है।

गृहीतमिथ्यात्व–अर्थात् कुदेव, कुगुरु और कुधर्म मानने की बुद्धि मनुष्य पर्याय में ही होती है, और गति में गृहीत मिथ्यात्व नहीं होता है इस अपेक्षा से मनुष्यगति की महिमा है।

उत्कृष्ट पात्र जीवों को आहारदान मनुष्यगति में ही दिया जाता है, और गति में यह बात नहीं है। यह मनुष्यगति की महिमा है, और गति में उत्कृष्टपात्र जीवों को आहारदानकी अनुमोदना हो सकती है।

मोहनीय कर्म की अठाईस प्रकृतिवाले मनुष्य लघुकाल में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर सकते हैं परन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्व एवं संयमभाव आठ वर्षके पहले नहीं हो सकता है। मनुष्यगति छोडकर और कोई गति के जीवों में दर्शनमोहनीय नामा कर्मकी क्षपणा करने की

शक्ति नहीं है। मनुष्य गतिमें ही चायक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है, और गति में चायक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यह भी मनुष्यगति की महिमा है। चायक सम्यग्दृष्टिजीव–देव, तिर्यञ्च तथा नरक गतिमें मरण कर जा सकता है, परन्तु यह तीन गतिमें रहनेवाला जीव नूतन चायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं कर सकता है ?

शंका—चायक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति केवली और श्रुतकेवली के निकट में अर्थात् पादमूलमें ही होती है, ऐसा क्या नियम है।

समाधान—यह तो निमित्त की महिमा दिखाने के लिये कथन किया है, अर्थात् विशेषकर केवली श्रुतकेवली के निकट में होता है, किन्तु यह कोई खास नियम नहीं है। तीसरी नरक भूमि के नारकी जिसका तीर्थंकर गोत्रका वन्ध हुवा है वही जीव नियमसे चयोपशम सम्यग्दृष्टि है। तीर्थंकर प्रकृतिवाला मनुष्य होकर मुनि वनता है। तब दूसरे गुरुका शिष्य नहीं बनता, परन्तु मौन व्रत सहित एकल विहारी रहता है। ऐसा जीव केवली श्रुतकेवली के पास जाता नहीं है, परन्तु स्वयं श्रुतकेवली वनकर अपने परिणाम द्वारा दर्शन मोहनीय नामा कर्मकी प्रकृतियों का चय कर चायक सम्यग्दृष्टि वन जाता है। इस से

यह सिद्ध हुआ कि दूसरे केवली श्रुतकेवली के पास जाने से ही क्षायक सम्यग्दर्शन होता है यह नियम नहीं है। जैसे कृष्ण महाराज का जीव।

त्रेसठ शलाका पुरुष मनुष्यगति में ही होते हैं, यह मनुष्यगति की महिमा है। मनःपर्ययज्ञानकी प्राप्ति मनुष्यगति में ही होती है और गतिमें मनःपर्ययज्ञान नहीं होता है यह मनुष्य गति की महिमा है। सप्तम नरक में जाने का भाव मनुष्य और मच्छ कर सकता है। परन्तु सिद्धगति में जाने का भाव मच्छ कभी नहीं कर सकता है, यह भाव मात्र मनुष्यगति में पुरुषलिंग को ही हो सकता है, यह मनुष्यगति की महिमा है। इससे साबित होता है कि सप्तम नरक में जाने का भाव जो कर सके वही सिद्ध गति में जाने का भाव प्राप्त कर सकता है यह नियम नहीं है। देव गति के जीव विशेष में विशेष चौथे गुणस्थान तक के निर्मल भाव कर सकते हैं, इससे विशेष निर्मल भाव वैक्रियिक शरीर वाले जीवों में हो नहीं सकता क्योंकि वैक्रियिक शरीरवाले जीवों में बुद्धि पूर्वक त्याग होता ही नहीं है। मनुष्यगति ऐसी है जिसमें जीव पुरुष पर्याय में अपना परिणाम निर्मल करने को चाहे तो वही जीव नर में से "नारायण" अर्थात् आत्मा से "परमात्मा" बन सकता है। यही मनुष्य गति की महिमा है।

जिस जीव ने तीर्थंकर गौत्र का बन्ध किया है ऐसा जीव अणुव्रत धारण करता ही नहीं है परन्तु मुनिव्रत ही धारण करता है। महान शक्ति शाला जीव अणुव्रत नहीं धारण करता है परन्तु महाव्रत ही धारण करता है।

शंका—उत्तर पुराण में पर्व नंबर ५३ श्लोक नंबर ३५ में लिखा है कि—

स्वायुरा अष्टवर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत्।
उदिताष्टकषायाणां तीर्थेशां देशसंयमः॥

अर्थ—सर्व तीर्थंकरों के अपनी आयु के प्रारंभ के आठ वर्ष के बाद ही प्रत्याख्यान और संज्वलन कषायका उदय रहता है अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम हो जाता है इसलिये आठ वर्ष के बाद ही तीर्थंकरों के संयम हो जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि सब तीर्थंकरों के देश संयम हो जाता है तब तीर्थंकर धारण नहीं करते, यह कहना कहां तक सत्य है ?

समाधान—तीर्थंकर की तो बात छोड दो परन्तु क्षायक सम्यग्दष्टि अणुव्रत धारण नहीं करता है अपितु सीधा महाव्रत ही धारण करता है। यही बात धवलग्रन्थ नंबर ५ पृष्ठ २५६ पर लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि क्षायक सम्यग्दष्टि तथा सभी तीर्थङ्कर अणुव्रत

ग्रहण नहीं करते हैं। यदि तीर्थङ्कर अणुव्रत ग्रहण करते होते तो आदिनाथ भगवान के आहार की विधि न जानने के कारण छह मास तक आहार न मिला, वह कहना कहां तक सत्य है ? जब आदिनाथ भगवान व्रतधारी श्रावक हैं तब भी शुद्ध आहार लेते होंगे और उसके माता पिता पत्नि पुत्र पुत्री आदि भी सब शुद्ध आहार देते होंगे। इनके घरमें भी धर्म प्रभावना भी होती होगी। यदि धर्म चर्चा भी नहीं होती होगी तो उस की पुत्रियां ब्राह्मी सुन्दरी बाल ब्रह्मचारिणी कैसे रहीं यह सब विचारने की बात है।

श्री आदिनाथपुराण में पर्व नंबर ४१ में श्लोक नंबर २८ में लिखा है कि 'भगवान के चरण–कमलों की भक्ति कर परिणामनकी विशुद्धताकरि चक्रेश्वर भरत कूं अवधि-ज्ञान प्राप्त भया। धवल ग्रन्थ नम्बर ६ में सूत्र नं० २४३ पृष्ठ नंबर ५०० में कहा है कि—

मणुसेसु उववण्णल्लया मणुसा तेसिमाभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं च णियमा अत्थि—

इससे सिद्ध हुआ कि सर्वार्थसिद्धि से जो जो जीव मनुष्य पर्याय में आते हैं वे नियम से तीन ज्ञान सहित माता के उदर में आते हैं। तब भरत महाराज को समवशरण में भगवान की भक्ति करते अवधिज्ञान हुआ यह कहना कहां तक सत्य है, यही विचार करना चाहिये। आदिनाथ

पुराण में पर्व नं ४७ में लिखा है कि भरत श्रेयांस बाहुबली वृषभसेन अनंतविजय महासेन श्रीषेण गुणसेन जयसेन आदि सर्वार्थसिद्धि से ही आये हैं और उनको मुनिकी विधिका ज्ञान नहीं है यह कहना कहां तक सत्य है, यह विचारना चाहिये। सिद्धान्त वाक्य और पुराण वाक्यों में महान अन्तर है यह सोच समझकर उसका निर्णय करना चाहिये।

प्रश्न—सुमेरु पर्वत के शिखर पर चढने में समर्थ ऋषियोंके क्या एक लाख योजन ऊपर उडकर गमन करने की संभावना नहीं है?

उत्तर—भले ही सुमेरुके उर्द्ध प्रदेश में ऋषियों के गमन करने की शक्ति रह जावे किन्तु मनुष्य क्षेत्र के ऊपर एक लाख योजन उडकर सर्वत्र गमन करनेकी शक्ति नहीं है, अन्यथा मनुष्य क्षेत्रके संख्यातमें भाग में ऐसा आचार्योंका वचन नहीं बन सकता। यही सूत्र में कहा है—

पमत्त संजदप्पहुडिजाव अजोगि केवली हि।
केवडियं खेतं फोसिदं लोगस्स असंखेज्जदि भागो॥

अर्थ—प्रमत्त संयत गुणस्थानसे लेकर अयोगी केवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवों ने कितना क्षेत्र स्पर्श किया है? लोकका असंख्यातवां भाग स्पर्श किया है। (ध. ४. १७१)

प्रश्न—अपर्याप्तक मनुष्य मरण कर कौनसी गतिमें जाते हैं ?

उत्तर—मनुष्य अपर्याप्तक मनुष्य, मनुष्य पर्यायों से मरण कर के तिर्यंच और मनुष्य गति में जाते हैं, क्योंकि अपर्याप्तक मनुष्यों के तिर्यंच और मनुष्य इन दो आयु को छोडकर अन्य आयु के बन्ध का अभाव है। (ध. ६. ४६९)

सम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यग्दर्शन सहित मरण करके सीधा विदेहक्षेत्र में मनुष्य नहीं हो सकता है। मिथ्यात्व अवस्था में ही मरणकर मनुष्य विदेह क्षेत्र में मनुष्य हो सकता है।

इति भेदज्ञान शास्त्र विषै जीवका विशेष प्ररूपक अधिकार पूर्ण हुआ।

जीवों के भाव का स्वरूप

सिद्धांत में जीव के पांच भाव कहे हैं। १ औदयिक २ औपशमिक ३ क्षायोपशमिक ४ क्षायिक ५ पारणामिक भाव। जो शुभाशुभ कर्म के उदय से जीव के भाव होय उनको औदयिक भाव कहते हैं। कर्मों के उपशम से जीव के जो भाव होते हैं, उनको औपशमिक भाव कहते हैं। जैसे कीचड के नीचे बैठने से जल निर्मल होता

है, उसी प्रकार कर्मों के उपशम होने से औपशमिक भाव होते हैं।

शंका—उपशम किसे कहते हैं।

समाधान—उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृति संक्रमण, स्थिति काण्डक घात और अनुभाग काण्डकघात के बिना ही कर्मों के सत्ता में रहने को उपशम कहते हैं। (ध–१–२१२)

जो भाव कर्म के उदय अनुदयकर होवें उन्हें क्षायोपशमिक भाव करते हैं।

और जो सर्व प्रकार कर्मों के क्षय होने से भाव होते हैं उनको क्षायिक भाव कहते हैं।

शंका—क्षय किसे कहते हैं ?

समाधान—जिनके मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति के भेदसे प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, और प्रदेश बंध का क्षय हो जाना उसे क्षय कहते हैं। (ध. १–२१५)

कर्मोपाधि रहित अर्थात् जिस में कर्म का सद्‌भाव अथवा अभाव कारण नहीं पडता है ऐसा स्वाभाविक भावका नाम पारिणामिक भाव है। कर्मोपाधिके भेद से और स्वरूप के भेद होने से ये ही पांच भाव नाना प्रकार के होते हैं। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव कर्म जनित हैं, क्योंकि, कर्म के उदयसे, उपशम

से और क्षयोपशम से होते हैं, इस कारण कर्म जनित कहा जाता है। और पारिणामिक भाव कर्म जनित नहीं हैं, क्योंकि, वे पारिणामिक भाव जीव के सहज ही भाव हैं, इस कारण कर्म जनित नहीं हैं।

प्रश्न—सर्व द्रव्यों में पांच भावों में कौन कौन भाव हैं?

उत्तर—जीवों में पांचोंही भाव पाये जाते हैं, किन्तु शेष द्रव्यों में पांच भाव नहीं हैं। पुद्गल द्रव्य में औदयिक और पारिणामिक इन दो ही भावों की उपलब्धि होती है। और धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और काल द्रव्य में केवल एक पारिणामिक भाव है। (ध. ५-१८६)

प्रश्न—औदयिक भाव कितने प्रकारका है?

उत्तर—औदयिक भाव स्थानकी अपेक्षा आठ प्रकार का है, और विकल्प की अपेक्षा इक्कीस प्रकारका है।

शंका—स्थान क्या वस्तु है?

समाधान—भाव की उत्पत्ति के कारण को स्थान कहते हैं। कहा भी है किः—

गदिलिंगकसाया वि य-मिच्छादंसणमसिद्धदण्णाणं
लेस्सा असंजमो चिय होंति उदयस्स ट्ठाणाइं॥

अर्थ—१ गतिचार, २ लिंग तीन, ३ कषायचार, ४ मिथ्यादर्शन एक, ५ असिद्धत्व एक, ६ अज्ञान एक, ७ लेश्या छह और ८ असंयम एक, ये औदयिक भावके

आठ स्थान हैं। (ध. ५-१८६)

शंका—असिद्धत्व क्या वस्तु है ?

समाधान—अष्ट कर्मोंके सामान्य उदय को असिद्धत्व कहते हैं।

शंका—पांच जाति, छः संहनन, छः संस्थान आदि को औदयिक भाव कहते हैं, वह किस भावमें अन्तर्गतहैं?

समाधान—उक्त जातियां आदिक का गति नामक औदयिक भाव में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, इन जाति, संस्थान आदिका उदयगतिनाम कर्मके उदय का अविनाभावी संबंध है। इस व्यवस्था में लिंग, कषाय आदि औदयिक भावों से भी व्यभिचार नहीं आता है, क्योंकि, उन भावों में उस प्रकार की विवक्षा का अभाव है।

(ध. ५-१८६)

प्रश्न—औपशमिक भाव कितने प्रकार का है ?

उत्तर—औपशमिक भाव स्थानकी अपेक्षा दो प्रकार का है और विकल्प की अपेक्षा आठ प्रकार का है। औपशमिक भावके सम्यक्त्व और चारित्र यह दो ही स्थान होते हैं, क्योंकि औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो ही भाव पाये जाते हैं। इनमें से औपशमिक सम्यक्त्व एक ही प्रकार का है, और औपशमिक चारित्र सात प्रकार का है। १ नपुंसकवेद उपशम

२ स्त्रीवेदउपशम. ३ पुंवेदके साथ नोकषाय उपशम. ४ क्रोध उपशम. ५ मान उपशम. ६ माया उपशम. ७ लोभ उपशम. इस प्रकार औपशमिक चारित्र सात प्रकार का है। (ध. ५-१९०)

प्रश्न—क्षायोपशमिक भाव कितने प्रकार का है।

उत्तर—क्षायोपशमिक भाव स्थानकी अपेक्षा सात प्रकार का है और विकल्प की अपेक्षा अठारह प्रकारका है। १ चारज्ञान, २ तीन अज्ञान. ३ तीनदर्शन. ४ लब्धि पांच, ५ सम्यक्त्वएक. ६ चारित्रएक. ७ देशसंयम एक, इस प्रकार है। कहा भी है कि- (ध. ५-१८६)

णाणएणाणा च तहा दंसण—लद्धी तहेव सम्मत्तं।
चारित्तं देसजमो सतेव य होंति ठाणाइं ॥ ६ ॥

प्रश्न—क्षायिक भाव कितने प्रकार का है?

उत्तर—क्षायिक भाव स्थानकी अपेक्षा पांच प्रकारका है, और विकल्प की अपेक्षा नौ प्रकार का है। १ दानादि लब्धिपांच २ क्षायिक सम्यक्त्व एक ३ क्षायिक चारित्र एक, ४ केवल दर्शन एक, ५ केवलज्ञान एक, इस प्रकार है। कहा भी है कि (ध. ५. १८०)

लद्धिओ सम्मत्तं चारित्तं दंसणं तहा णाणं।
ठाणाइं पंच खइए भावे जिण भासियाइं तु ॥

प्रश्न—पारिणामिक भाव कितने प्रकार के हैं?

उत्तर---पारिणामिक भाव तीन प्रकार के हैं, १ चैतनत्व २ भव्यत्व. ३ अभव्यत्व। जिस जीवमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की शक्ति है वह भव्य जीव कहलाता है! जिस जीव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की शक्ति नहीं है वह अभव्य जीव कहलाता है।

प्रश्न---भव्य अभव्य जीव के गुण हैं या पर्याय हैं? यदि पर्याय है तो वह किस गुण की पर्याय हैं।

उत्तर---भव्य अभव्य आत्मा की श्रद्धा नामके गुणकी स्वाभाविक सहज पर्याय है। वह पर्याय स्वभाव से ही अनादि से उत्पन्न हुई, इस कारण उसको पारिणामिक भाव कहते हैं। जिस भाव में कर्म का सद्भाव अथवा अभाव कारण न पडे जो सहज भाव हो उसीको पारिणामिक भाव कहते हैं। वह भव्य भाव चायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से आपसे आप विलीन हो जाता है।

भव्यत्व भाव सादि सान्त भी होते हैं। पर्यायार्थिक नयके अवलम्बनसे जव तक सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया तब तक जीव का भव्यत्व भाव अनादि अनंतरूप है। क्योंकि तब तक उनका संसार अंत रहित है। किन्तु सम्यक्त्व ग्रहण करने पर अन्यही भव्य भाव उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि, प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर केवल अर्द्धपुद्गल परावर्तनमात्र काल तक संसार में

स्थिति रहती है। इसी प्रकार एक समय कम उपार्द्ध पुद्गल परावर्तन संसारवाले दो समय कम उपार्द्ध परावर्तन संसार वाले आदि जीवोंके पृथक् २ भव्य भाव का भी कथन बन सकता है इस प्रकार सिद्ध होजाता है कि भव्य जीव सादि सान्त भी होते हैं। (ध.७–१६७)

शंका——पारिणामिक भाव तीन प्रकार के हैं या विशेष भी हैं?

समाधान——पारिणामिक भाव अनेक प्रकार का होता है। जैसे सासादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव माना है। वहां मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं है तब क्या श्रद्धा नामका गुण वहां कूटस्थ रहेगा? नहीं, श्रद्धानाम के गुणने कर्म उदय बिना स्वय पारिणामिक भाव से मिथ्यात्व रूप परिणाम किया है।

शंका——और कोई गुणस्थान में जीवने पारिणामिक भाव से परिणमन किया है?

समाधान——जब क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धी कर्म प्रकृतिका विसंयोजन कर उसी परमाणुको अप्रत्याखान रूप बना देता है बादमें जब वही जीव मिथ्यात्वमें जाता है वहां अनन्तानुबन्धी प्रकृतिका उदय नहीं होता है तब ऐसी अवस्था में चारित्र नामका गुण पारिणामिक भाव से अनन्तानुबन्धरूप परिणमन करता है। उसी प्रकार

ग्यारहवें गुणस्थान में भी जीव पारिणामिक भाव से गिरता है।

प्रश्न—पांच प्रकारके भावों में से तीसरे गुणस्थान में कौनसा भाव है ?

उत्तर—तीसरे गुणस्थानमें क्षायोपशमिक भाव है।

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने वाले जीवके क्षायोपशमिक भाव संभव है ?

समाधान—वह इस प्रकार है कि वर्तमान समय में मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय होने से उसी का सत्ता में रहना वही उपशम और सम्यग् मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकों के उदय होने से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है इसलिए वह क्षायोपशमिक भाव है।

शंका—तीसरे गुणस्थान में वहां सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय होने से वहां औदयिक भाव क्यों नहीं कहा है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जिस प्रकार सम्यक्त्वका निरन्वय नाश होता है, उस प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदयसे सम्यक्त्वका निरन्वय नाश नहीं होता है. इसलिये तीसरे गुणस्थान में

औदयिक भाव न कहकर क्षयोपशमिक भाव कहा है।

शंका—सम्यग्मिथ्यात्व का उदय सम्यग्दर्शन का निरन्वय विनाश तो करता नहीं है फिर उसे सर्वघाती क्यों कहा है?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, वह सम्यग्दर्शनकी पूर्णता का प्रतिबन्ध करती है इस अपेक्षा से सम्यग्मिथ्यात्व को सर्वघाती कहा है (ध. १–१६७)

शंका—प्रतिबन्धी कर्मके उदय होने पर भी जो जीव के गुणका अवयव (अंश) पाया जाता है, वह गुणांश क्षायोपशमिक कहलाता है, क्योंकि, गुणोंके संपूर्णरूप से घातने की शक्ति का अभाव क्षय कहलाता है। क्षय रूप ही जो उपशम होता है वह क्षयोपशम कहा जाता है। किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय रहते हुए सम्यक्त्वकी कणिका भी अविशिष्ट नहीं रहती है, अन्यथा सम्यग् मिथ्यात्व कर्मके सर्वघातीपना बन नहीं सकता है। इस लिये सम्यग्मिथ्यात्व भाव क्षायोपशमिक है, यह कहना घटित नहीं होता?

समाधान—सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के उदय होने पर श्रद्धानाश्रद्धान कथंचित् मिश्रित जीव परिणाम उत्पन्नहोता है। उसमें जो श्रद्धान अंश हैं वह सम्यकत्व का अवयव अंश है, उसे सम्यग्मिथ्यात्व कर्म का उदय नष्ट नहीं

करता है इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व भाव क्षयोपशमिक है।

शंका—अश्रद्धान भावके बिना केवल श्रद्धान भाव के ही सम्यग्मिथ्यात्व यह संज्ञा नहीं है इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व भाव क्षायोपशमिक नहीं है ?

समाधान—उक्त प्रकार की विवक्षा होनेपर सम्यग् मिथ्यात्व क्षायोपशमिक भाव भले ही न होवें किन्तु अवयवी के निराकरण और अवयवके अनिराकरण की अपेक्षा वह क्षायोपशमिक भाव है। अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व के उदय रहते हुए अवयवी रूप शुद्ध आत्माका तो निराकरण रहता है, किन्तु अवयव रूप सम्यक्त्व गुणका अंश प्रगट रहता है। इस प्रकार क्षायोपशमिक भी वह सम्यग् मिथ्यात्व द्रव्य कर्म सर्वघाती ही होवे, क्योंकि जात्यान्तर भूत सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सम्यक्त्व का अभाव है, किन्तु श्रद्धान भाग अश्रद्धान भाग नहीं होता है, क्योंकि श्रद्धान और अश्रद्धान के एकता का विरोध है। और श्रद्धान भाग कर्मोदय जनित भी नहीं है, क्योंकि इसमें विपरीतताका अभाव है। और न उनमें सम्यक्त्व मिथ्यात्व अभाव है, क्योंकि समुदायोंमें प्रवृत्त हुए शब्दोंकी उनके एक देशमें भी प्रवृति देखी जाती है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि सम्यग् मिथ्यात्व क्षयोपशम भाव है।

(ध. ५–१९८)

सम्यक्त्वकी अपेक्षा भले ही सम्यग्मिथ्यात्व के स्पर्धकों में सर्वघातीपना हो, किन्तु अशुद्धनयकी विवक्षा से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के स्पर्धकों में सर्वघातीपना नहीं होता, क्योंकि उनके उदय रहने पर भी मिथ्यात्व मिश्रित सम्यक्त्व का कण पाया जाता है। सर्वघाती स्पर्धक तो उन्हें कहते हैं, कि जिनके उदय होने से समस्त प्रतिपक्षी गुणका घात हो जाय। किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व की उत्पत्ति में तो हम सम्यक्त्व का निर्मूल विनाश नहीं देखते, क्योंकि, यहां सद्भूत और असद्भूत पदार्थों में समान श्रद्धान होता देखा जाता है। इसलिये क्षयोपशमिक भाव मानना उपयुक्त है। (ध. ७-११०)

कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय क्षय से, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशमसे, सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती स्पर्धकोंके उदय क्षयसे, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशमसे अथवा अनुदयरूप उपशम से और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से सम्यग्मिथ्यात्व भाव होता है, इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व के क्षयोपशमिकता सिद्ध होती है। किंतु उनका यह कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर तो मिथ्यात्व भाव के भी क्षयोपशमिकता का प्रसंग प्राप्त होता है। क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वके सर्व

घाती स्पर्धकोंके उदय क्षय से, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशमसे, और सम्यक्त्व देशघाती स्पर्धकों के उदय क्षयसे, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से, अथवा अनुदयरूप उपशमसे तथा मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय से मिथ्यात्व भावकी उत्पत्ति पाई जाती है, वैसा मानने पर अतिव्याप्ति दोषका प्रसंग आता है। (ध. ५–१६६)

शंका—तो फिर क्षायोपशमिक भाव कैसे घटित होते हैं?

समाधान—यथास्थित अर्थके श्रद्धान को घात करने वाली शक्ति जब सम्यक्त्व प्रकृति के स्पर्धकोंमें क्षीण हो जाती है तब उनकी क्षायक संज्ञा है। क्षीण हुए स्पर्धकों के उपशम को क्षयोपशम कहते हैं।

शंका—सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में अज्ञान भाव क्यों नहीं है?

समाधान—श्रद्धान और अश्रद्धान इन दोनों में एक साथ मिला हुआ होने के कारण संयतासंयतके समान भिन्न जातीयता को 'प्राप्त सम्यग्मिथ्यात्व का पांचों ज्ञानों में अथवा तीनों अज्ञानों में अस्तित्व' होने का विरोध है। (ध. ५–२२४)

प्रश्न—पांच भावों में से किस भावका आश्रय लेकर प्रमत्तसंयत गुणस्थान उत्पन्न होता है?

उत्तर—संयम की अपेक्षा यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

शंका—संज्वलन कषाय के उदय से संयम होता है, इसलिये उसे औदयिक नामसे क्यों नहीं कहा जाता है?

समाधान—नहीं! क्योंकि, संज्वलन कषाय के उदय से संयम की उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका—तो संज्वलन का व्यापार कहाँ पर होता है?

समाधान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से उत्पन्न हुए संयम में मलको उत्पन्न करने में संज्वलनका व्यापार है। (ध.१-१७६)

प्रश्न—आहारक काययोग और आहारक मिश्र काययोग वाले प्रमत्तसंयत को क्षायोपशमिक भाव कैसे कहा?

उत्तर—आहारक और आहारकमिश्रकाय योगियों में क्षायोपशमिक भाव होने का कारण यह है कि 'उदयको प्राप्त चार संज्वलन और सात नो कषाय, इन ग्यारह चारित्र मोहनीय प्रकृतियों के देशघाती स्पर्धकों के उपशम संज्ञा है, क्योंकि, संपूर्ण रूप से चारित्र घातने की शक्तियों का वहां पर उपशम पाया जाता है। तथा उन्हीं ग्यारह चारित्र मोहनीय प्रकृतियों के सर्वघाती स्पर्धकों की क्षय संज्ञा है,

क्योंकि वहां पर उनका उदय में आना नष्ट हो चुका है। इस प्रकार क्षय और उपशम, इन दोनों से उत्पन्न होने वाला संयम क्षायोपशमिक कहलाता है, अथवा चारित्र मोह सम्बन्धी उक्त ग्यारह कर्मप्रकृतियों के उदय की ही क्षयोपशम संज्ञा है, क्योंकि चारित्र के घातने की शक्ति के अभाव की क्षयोपशम संज्ञा है। इस प्रकार के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला प्रमादयुक्त संयम क्षायोपशमिक है। (ध.५-२२०)

प्रश्न—(सयोगकेवली के) सयोग भाव कौनसा भाव है ?

उत्तर—सयोग ये अनादि पारिणामिक भाव हैं। इसका कारण यह है कि यह योग न तो उपशम भाव है, क्योंकि मोहनीय कर्म के उपशम नहीं होने से योग पाया जाता है, न यह क्षायिक भाव है, क्योंकि आत्मस्वरूप से रहित योग की कर्मों के क्षयसे उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। योग घाती कर्मोदय जनित भी नहीं हैं। क्योंकि, घातीकर्मोदय के नष्ट होने पर भी सयोगी केवली में योग का सद्भाव पाया जाता है। न योग अघातीकर्मोदय जनित ही है, क्योंकि, अघातीकर्मोदय के रहने पर भी अयोग केवली में योग नहीं पाया जाता है। योग शरीर नाम कर्मोदय जनित भी नहीं है, क्योंकि पुद्गल

विपाकी प्रकृतियों को जीव परिस्पन्दनका कारण होने में विरोध है।

शंका—कार्माण शरीर पुद्गलविपाकी नहीं है, क्योंकि उससे पुद्गलों के वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, संस्थान आदिका आगमन आदि नहीं पाया जाता है। इसलिये योग को कार्माण शरीर से उत्पन्न होनेवाला मान लेना चाहिये ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि सर्व कर्मों का आश्रय होने से कार्माण शरीर भी पुद्गलविपाकी ही है, इसका कारण यह है कि वह सर्व कर्मोंका आश्रय या आधार है।

शंका—कार्माण शरीर के उदय विनष्ट होने के समय में ही योगका विनाश देखा जाता है, इसलिये योग कार्माण शरीर जनित है ऐसा मानना चाहिये ?

समाधान--नहीं ! क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तो अघाती कर्मोदय के विनाश होने के अन्तर ही विनिष्ट होनेवाले पारिणामिक भव्यत्वभाव के भी औदयिक पनेका प्रसंग प्राप्त होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनसे योगके पारिणामिक पना सिद्ध हुआ। अथवा योग यह औदयिक भाव है, क्योंकि शरीर नाम कर्म के उदय का विनाश होने के पश्चात् ही योगका विनाश पाया जाता है, ऐसा मानने पर भव्यत्व भावके साथ व्यभिचार भी नहीं आता है, क्योंकि कर्म सम्बन्ध

के विरोधी पारिणामिक भाव की कर्मसे उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। (ध. ५-२२५)

योगको यदि क्षायोपशमिक भाव माना जावें तो सयोगी जिनको योगका अभाव माना जावेगा ? असल में तो योग औदयिक भाव हैं और औदयिक योगका सयोग केवली में अभाव मानने में विरोध आता है।(ध.५-२२५)

प्रश्न—संक्लेश भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर—असाता के बन्धयोग्य परिणामको संक्लेश-भाव कहते हैं।

प्रश्न—विशुद्धभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर—साताके बन्धयोग परिणाम को विशुद्ध भाव कहते हैं। कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि उत्कृष्ट स्थितिसे अधस्तन स्थितियोंको बांधनेवाले जीवका परिणाम विशुद्ध इस नामसे कहलाता है। और जघन्य स्थिति से उपरिम द्वितीय तृतीय आदि स्थितियों के बांधनेवाले जीव का परिणाम संक्लेश कहलाता है। किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है, क्योंकि, जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बान्धनेके योग्य परिणाम को छोडकर शेष मध्यम स्थितियों के बांधने योग्य सर्व परिणामों के भी संक्लेश और विशुद्धताका प्रसंग आता है। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि एक परिणामके लक्षण भेदके बिना द्विभाव

अर्थात् दो प्रकारके होने का विरोध है।

शंका—वर्धमान स्थितिको संक्लेश और हीयमान स्थिति को विशुद्धका लक्षण मानलेने से भेद विरोध को प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि परिणाम स्वरूप होने से जीव द्रव्य में अवस्था को प्राप्त और परिणामान्तरों में असंभव ऐसे वृद्धि और हानि इन दोनों धर्मों के परिणाम लक्षणत्व का विरोध है। कषाय की वृद्धि भी संक्लेश का लक्षण नहीं है। क्योंकि अन्यथा स्थितिवन्ध की वृद्धि बन नहीं सकती है। तथा विशुद्धि के काल में वर्धमान कषाय वाले जीवके भी संक्लेशत्व का प्रसंग आता है। और विशुद्धि के काल में कषायों की वृद्धि नहीं होती है ऐसा कहना भी युक्त नाहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर साता आदि के भुजाकार बन्धके अभाव को प्रसंग प्राप्त होता है। तथा असाता और साता इन दोनों के बन्ध का संक्लेश और विशुद्धि इन दोनों को छोडकर अन्य कोई कारण नहीं है क्योंकि वैसा कोई कारण पाया नहीं जाता है। कषायों की वृद्धि केवल असाता के बन्ध का कारण नहीं है, क्योंकि उसके अर्थात् कषायों की वृद्धि के काल में साता का बन्ध भी पाया जाता है। इसी प्रकार कषायों की हानि केवल साता के बन्ध का

कारण नहीं है, क्योंकि वह भी साधारण है अर्थात् कषायों की हानि के कालमें असाताका भी बन्ध पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि, विशुद्धियां उत्कृष्ट स्थिति में अल्प होकर गणना की अपेक्षा बढती हुई जघन्य स्थिति तक चली जाती है। किन्तु संक्लेश जघन्य स्थिति में अल्प होकर ऊपर प्रक्षेप उत्तर क्रम से अर्थात् सदस प्रचय रूप से बढते हुए उत्कृष्ट स्थिति तक चले जाते हैं। इसलिये संक्लेशों से विशुद्धियां प्रथग्भूत होती हैं ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये। (ध.–६–१८०)

इति 'भेदज्ञान' शास्त्र मध्ये जीवों के भाव का अधिकार संपूर्ण हुआ।

निमित्त का स्वरूप

द्रव्यों की विकारी अवस्था धारण करने में जो पर द्रव्यों की सहायता ली जाती है एवं सहज सहायता मिल जाती है, ऐसे पर द्रव्यों का नाम निमित्त है—

निमित्त दो प्रकार का है। १ प्रेरक निमित्त २ उदासीन निमित्त।

प्रेरक निमित्त—जो नियम से परिणति करावे सो निमित्त है। जैसे पवन ध्वजा के लिये प्रेरक निमित्त है। जिस दिशा में पवन चलता होगा उसी दिशा में नियम से

ध्वजा फहरायगी। यद्यपि पवन का एक अंश ध्वजा में नहीं जाता है और ध्वजा का एक अंश पवन में नहीं जाता है। दोनों द्रव्य अपने अपने गुण पर्याय में ही स्थित रहते संते संयोग सम्बंध से निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बन जाता है। इसी प्रकार पोद्‌गलिक द्रव्य कर्म का उदय जो कि एकसमयकी अवस्था है वही संसारी आत्मा के लिये प्रेरक निमित्त है। जितने अंश में कर्म का उदय होगा उतने ही अंश में आत्मा का गुण नियम से विकारी परिणमन करता होगा। यद्यपि तादात्म्य सम्बन्ध से कर्म का एक अंश आत्मामें चला नहीं जाता है, एवं तादात्म्य सम्बन्धसे आत्माका एक अंश कर्ममें चला जाता नहीं है, तो भी संयोग सम्बन्ध से दोनों में समान अवस्था हो रही है। जबतक कर्मों के साथ में आत्मा का संयोग संबन्ध है तब तक संसार है, और संयोग संबन्ध के अभाव का नाम मुक्त दशा है। कर्मोंका संयोग आत्मा के गुण की हीन अवस्था का प्रतिपादक है, अर्थात् सूचक है। कर्मों के साथ में आत्मा का निमित्त नैमित्तिक संबन्ध है।

उदासीन निमित्त—जैसे जल मछलियों के लिये उदासीन निमित्त है। जल मछलियों को चलाता नहीं है, मछलियाँ अपनी शक्ति से चलती हैं तो भी जल विना मछलियाँ चल नहीं सकती हैं। पौद्गलिक द्रव्यकर्मोंको

छोड़कर संसारके सभी पदार्थोंको अर्थात् अनंत जीवद्रव्य, अनंतानंत पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य, देव, गुरु, शास्त्रादि सब पदार्थों को नोकर्म कहा जाता है। इस नोकर्म का नाम उदासीन निमित्त है। आत्मामें जितने भाव होते हैं वह सभी भाव पर पदार्थ के आश्रित होते हैं। आत्मा स्वयं भाव करता है परन्तु परपदार्थ बिना भाव नहीं कर सकता है। यद्यपि परपदार्थ आत्माका भाव करता नहीं है परन्तु परपदार्थ बिना आत्मा भाव कर सकता नहीं। देव गुरु शास्त्र आत्माका कल्याण नहीं कर सकते हैं, परन्तु देव गुरु शास्त्र का ज्ञान किये बिना कल्याण होता भी नहीं है। नोकर्म के साथ आत्मा के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं हैं परन्तु निमित्त उपादान सम्बन्ध है। निमित्त नैमित्तिक संबन्ध में निमित्तके अनुकूल ही नैमित्तिककी अवस्था होती है, परन्तु निमित्त उपादान सम्बन्ध में उपादान में जैसी अवस्था होती है वैसी निमित्तमें नहीं होती है।

जैसे देवगति नामकर्म के उदयमें आत्मा को देवरूप अवस्था धारण करनी पड़ेगी, और मनुष्यगति नामकर्मके उदय से आत्मा को मनुष्य पर्याय धारण करनी पड़ती है, इसीका नाम निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

जैसे दो पुरुष बैठे हैं, वहां पर एक स्त्री भी ...

ही आ गयी। इसे देखकर एक पुरुषने अपने भावमें विकार पैदा कर लिया तब वह मनुष्य कहता है कि स्त्री को देखकर मुझे विकार हुआ। उस स्त्री को उस पुरुषने विकार भाव करने में निमित्त बनाली। दूसरे पुरुषमें विकार भाव नहीं हुवा, वह तो मात्र स्त्री को ज्ञेयरूप में जानने वाला रहा। जिस प्रकार पुरुष में विकार हुआ उस प्रकार स्त्री में विकार नहीं हुवा है। जहां अपराधकर निमित्त बनाया जाता है ऐसा सम्बन्ध का नाम निमित्त-उपादान सम्बन्ध अर्थात् भाव उदीरणा कहा जाता है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध में आत्मा पराधीन है और निमित्त उपादान सम्बन्ध में आत्मा स्वतन्त्र है अर्थात् औदयिकभावमें आत्मा पराधीन है और क्षायोपशमिकभावमें आत्मा स्वतन्त्र है। भाव उदीरणा क्षायोपशमिकभावमें ही होती है।

प्रश्न—एक द्रव्य में दूसरे द्रव्यका अत्यन्त अभाव है तब निमित्तने क्या किया? शास्त्र विषै आत्माको कर्म नोकर्मसे भिन्न अबद्ध स्पृष्ट कैसे कहा है?

उत्तर—ऐसा ही प्रश्न मोक्षमार्ग प्रकाशक शास्त्र में निश्चयाभासी जीवने किया है। वहां लिखा है कि सम्बन्ध अनेक प्रकारका है। तहां तादात्म्य सम्बन्ध की अपेक्षा आत्मा को कर्म नोकर्मसे भिन्न कहा है। तहाँ द्रव्य पलटकरि

एक नाहीं हो जाय है और इस ही अपेक्षा अबद्ध स्पष्ट कहा है। बहुरि संयोग संबन्ध अर्थात् निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा बन्धन है ही। उनके (कर्म) निमित्ततैं अनेक अवस्था धरे ही है। तातैं सर्वथा निर्बंध मानना मिथ्यात्व है। इससे साबित होता है कि तादात्म्य सबंध से परद्रव्य का आत्मा में अत्यंत अभाव है और संयोग संबन्धसे परद्रव्य का आत्मामें अत्यंत सद्भाव है।

शंका—आत्मा ने स्वतंत्रपने से रागादिक किया है उसमें पर द्रव्य क्या करेगा? क्योंकि सब द्रव्यों में अपने अपने गुणोंका उत्पाद व्यय ध्रौव्य हो रहा है वहां निमित्त क्या करेगा? क्योंकि एक द्रव्यकी क्रिया का (कर्मका) दूसरा द्रव्य कर्त्ता कभी भी नहीं हो सकता है।

समाधान—आत्मा में अमुक पर्याय दो द्रव्यके मिलाप से भी होती है उसे आप आत्मा की पर्याय कहोगे या पुद्गल की पर्याय कहोगे? जैसे मनुष्य देव तिर्यंच नारकी आदि अवस्था दशप्राण आदि अवस्था। जैसे मनुष्य पर्यायका व्यय हुआ, देव पर्याय की उत्पत्ति हुई और आत्मा वही का वही ध्रुव रहा।

शंका—यह तो आत्माके प्रदेशत्व नामके गुणकी विकारी पर्याय है, उपचार से देव मनुष्यादि पर्याय कही जाती है?

समाधान—जैसे मनुष्य का आकार और देव का आकार समान है तब वहां प्रदेशत्व नामके गुणकी तो समान विकारी पर्याय है तब ऐसी अवस्था में मनुष्य को आप देव कहोगे ? क्या गधेके सींग जैसा यह उपचार है ? जैसा मनुष्यका आकार है वैसा ही सिद्ध परमात्मा का आकार है तब वहां मनुष्य और सिद्ध को समान मानोगे ? मनुष्य पर्याय का व्यय हुआ, सिद्ध पर्यायकी उत्पत्ति हुई और आत्मा ध्रौव्य रहा। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्यादि पर्यायको आप कथंचित् आत्मा की पर्याय कह सकते हो, कथंचित् पुद्गल की पर्याय कह सकते हो, यही स्याद्वाद है। क्योंकि मनुष्यादि पर्याय जीव द्रव्य की अजीव तत्त्व रूप पर्याय हैं।

प्रश्न—अब आप ही कहो कि जैसे सांख्यमती आत्मा को रागादिक का अकर्त्ता ही मानता है, ऐसे आप कैसे मानते हो ?

उत्तर—सम्यक्त्वाचरण चारित्र की अपेक्षा आत्मा चतुर्थ गुणस्थान से रागादिक का अकर्त्ता ही है। देखिये समयसार का कलश २०५, और संयमाचरण चारित्रकी अपेक्षा आत्मा सप्तम गुणस्थान से रागादिक का अकर्ता ही है। देखिये समयसार गाथा २८५ एवं इसीकी टीका।

सम्यक्त्वाचरण चारित्र की अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थान

से सम्यग्दृष्टि आत्मा रागादिक का कर्त्ता चारित्र मोहनीय कर्मको मानता है। अपने को रागादिक का कर्त्ता नहीं मानता है। उसी प्रकार संयमाचरण चारित्र की अपेक्षा सप्तम गुणस्थानसे चारित्र मोहनीय कर्म के उदय को रागादिक का कर्त्ता मानता है। अर्थात् बुद्धिपूर्वक रागादिक होता है, तबतक रागादिक को स्वयं को कर्त्ता मानता है, और अबुद्धिपूर्वक रागादिक का कर्म की बरजोरी से होजाने के कारण कर्म को रागादिक का कर्त्ता मानता है।

शंका—रागादिक आत्मा के गुण की ही पर्याय हैं वह पुद्गल द्रव्य की पर्याय नहीं हैं। इसलिये यदि सम्यग्दृष्टि आत्मा निश्चय से रागादिक का आत्मा को ही कर्त्ता माने तो वह सम्यग्दृष्टि है या नहीं?

समाधान—यदि सम्यग्दृष्टि निश्चय से ही रागादिक का अपने को ही कर्त्ता माने तो वह मिथ्यादृष्टि ही है, क्योंकि जब निश्चयसे अपने को ही रागादिकका कर्त्ता माना, तब रागादिक का नाश कैसे हो सकता है? इससे सिद्ध होता कि कथंचित् आत्मा रागादिकका कर्त्ता है, कथंचित् आत्मा रागादिकका कर्त्ता नहीं है। यही मानना सम्यक्त्व है। और इसीका नाम स्याद्वाद है।

शंका—तब क्या चारित्र मोहनीय पुद्गल कर्म कर्त्ता

और आत्माकी रागादिक परिणति कर्म ऐसा ही आपका कहना है ?

समाधान—ऐसा ही मानना चाहिये ! क्योंकि, एकान्त से ही रागादिक परिणति का आत्मा ही कर्त्ता माना जावे तो वहां एकान्त मिथ्यात्वका दोष आता है। यद्यपि रागादिक आत्मा की पर्याय होते हुए जब तक रागादि करने का भाव है अर्थात् बुद्धिपूर्वक रागादिक हो रहा है, तब तक उपादानकी प्रधानता से उस रागादिकका कर्त्ता आत्मा को ही मानना चाहिये, और जब रागादिक करने का भाव ही नहीं है, परन्तु कर्मके उदय की बरजोरी से रागादिक हो जाता है, उसी को निमित्त कर्त्ता की प्रधानता से रागादिक का कर्त्ता चारित्र मोहनीय द्रव्यकर्मोंको मानना यही स्याद्वाद है। आत्मा की इच्छा रागादिक करनेकी नहीं है, तो भी कर्म की बरजोरी से रागादिक होजाता है, यही तो नैमित्तिक क्रिया है, यह कर्मने क्या कमती काम किया ?

निमित्तकी क्रिया के आधीन हुए बिना कभी भी विकारी क्रिया होती ही नहीं है यह सिद्धांत है। यदि स्वभाव से ही विकार हो जावे तो विकार का नाश कभी भी हो ही नहीं सकता है। इसी प्रकार वचनरूप पौद्गलिक वर्गणाकी इच्छा शब्द रूप होने की नहीं है परन्तु आत्मा

के योग और उपयोग रूपी निमित्त की बरज़ोरी से वचन रूपी पौद्गलिक वर्गणा को शब्द रूप अवस्था धारण करनी ही पड़ती है। मिट्टी की इच्छा घट रूप होने की नहीं है, परन्तु कुंभकारके योग उपयोग रूप निमित्तकी बरजोरी से मिट्टी को घटरूप अवस्था करनी ही पड़ती है।

कोई कहे मिट्टी ने स्वयं घट रूप अवस्था धारण की है, वचन रूपी पुद्गल वर्गणा ने स्वयं शब्द रूप अवस्था धारण की है उसमें निमित्त ने क्या किया?

प्रश्न—मिट्टीकी घट रूप अवस्था होना, वचनवर्गणा की शब्द रूप अवस्था होना वह पुद्गल द्रव्य की स्वाभाविक पर्याय है या विकारी पर्याय है?

उत्तर—यह पुद्गल द्रव्यकी विकारी पर्याय है।

शंका—यह पुद्गल द्रव्यने विकारी पर्याय किससे आधीन होकर धारण की? क्योंकि विकारी पर्याय पर द्रव्यके आधीन हुए बिना होती ही नहीं, यह न्याय है। और न्याय में तर्क चलता ही नहीं है।

समाधान—पुद्गलने स्वतन्त्र विकारी पर्याय धारण की है। निमित्तके आधीन होकर विकारी पर्याय धारण की है ऐसा कहना मैं नहीं चाहता हूँ, क्योंकि ऐसा कहनेसे निमित्त की प्रधानता आजाती है जो मुझे स्वीकार नहीं है।

शंका—तब सम्यग्दृष्टि आत्मा स्वयं विकारी पर्याय

का कर्त्ता है ऐसा क्यों नहीं मानते हो ?

समाधान—ऐसा कहने से या मानने से मैं मिथ्या-दृष्टि होजाता हूँ इससे यह बात मुझे स्वीकार नहीं है। सम्यग्दृष्टि के लिए तो विकारका कर्त्ता परद्रव्य चारित्र मोहनीय नामा कर्म है, और पुद्गलके विकारके लिए पुद्-गल स्वयं विकार करता है ऐसा मानने के विरुद्ध मानना मुझे स्वीकार नहीं है।

यह आपका न्याययुक्त, जवाब नहीं है,यह तो मात्र आपका हठवाद ही है। जहां हठवादहै वहां तो अज्ञान है, और जहां अज्ञान है वहां तो मिथ्यात्व है।

विकारी अवस्था में कर्त्ता दो प्रकारका माना जाता है १ उपादान कर्त्ता २ निमित्तकर्त्ता। जंहां बुद्धिपूर्वक अर्थात् इच्छा पूर्वक कर्म किया जाता है वहां कर्मका कर्त्ता उपादान कर्त्ता ही गिना जाता है, परन्तु जहां कर्म करने की इच्छा है ही नहीं परन्तु पर द्रव्यकी बरजोरी से वह कर्म किया जाता है वहां निमित्तको कर्त्ता माना जाता है। उपादान कर्त्ता को उपादानकर्त्ता जानना एवं निमित्तकर्त्ता को निमित्त कर्त्ता जानना सम्यग्ज्ञान है, परन्तु उपादान कर्त्ताको निमित्तकर्त्ता जानना और निमित्तकर्त्ताको उपादान कर्त्ता जानना मिथ्याज्ञान है।

प्रश्न—रागादिक होने में आत्मा निमित्त कारण है,

कि दूसरा कोई ?

उत्तर—जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है वह ललाई आदि रंग स्वरूप आप तो नहीं परिणमती परन्तु वह दूसरे लाल काले आदि द्रव्यों कर ललाई आदि रंग स्वरूप परिणमती है, इसी प्रकार ज्ञानी आप शुद्ध है, वह रागादि भावों से आप तो नहीं परिणमता परन्तु अन्य रागादि दोषोंसे रागादि रूप किया जाता है। अकेला आत्मा परिणमन स्वभाव रूप होने पर भी अपने शुद्ध स्वभावपनेकर रागादि निमित्त पनेके अभावसे आप ही रागादि भावों से नहीं परिणमता, अपने आप ही रागादि परिणाम का निमित्त नहीं है, परन्तु परद्रव्य स्वयं रागादि भावको प्राप्त होने पनेसे आत्मा के रागादिक का निमित्त भूत है, उस कर शुद्ध स्वभावसे च्युत हुआ ही रागादिक कर परिणमता है। ऐसा वस्तुका स्वभाव है। कहा भी है कि—

नजातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककांतः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् १७५

अर्थ—आत्मा अपने रागादिक के निमित्त भाव को कभी नहीं प्राप्त होता, उस आत्मा में रागादिक होनेका निमित्त पर द्रव्य का सम्बन्ध ही है। यहां सूर्यकान्तमणि का दृष्टान्त है जैसे सूर्यकान्तमणि आप ही तो अग्निरूप नहीं परिणमती उसमें सूर्यका बिंब अग्निरूप होनेका निमित्त है,

वैसे जानना। यह वस्तुका स्वभाव उदय को प्राप्त है किसी का किया हुआ नहीं है। (समयसार कलश१७५)

आत्मा अपने रागादि भावों का अकारक ही है, क्योंकि आप ही कारक हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इनके द्रव्य भाव इन दोनों भेदों के उपदेश की अप्राप्ति आती है। जो निश्चयकर अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दो प्रकार का (भेद) का उपदेश है वह उपदेश द्रव्य और भावके निमित्त नैमितिक भावको विस्तारता हुआ आत्मा के अकर्त्तापने को बतलाता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और नैमित्तिक आत्मा के रागादिक भाव हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान इन दोनों के कर्त्तापने के निमित्तपने का उपदेश है वह व्यर्थ ही हो जायगा और उपदेश के अनर्थक होने से एक आत्मा के ही रागादिक भाव के निमित्तपने की प्राप्ति होने पर सदा (नित्य) कर्त्तापनेका प्रसंग आयेगा उससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिए आत्मा के रागादिक भावों का निमित्त "परद्रव्य ही रहे" ऐसा होने पर आत्मा रागादिक भावोंका अकारक ही है यह सिद्ध हुआ। (समयसार गाथा २८३-८५ की टीका.)

शंका—सम्यग्दर्शन होनेमें अन्तरङ्ग हेतु स्व आत्मा

ही होता है ?

समाधान—यदि सम्यग्दर्शन होने में अन्तरंग हेतु स्व आत्मा ही होता है तो आत्मा तो अनादि का है अभी तक सम्यग्दर्शन क्यों नहीं हुआ ? सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का होता है-उपशम सम्यग्दर्शन. २-क्षयोपशम सम्यग्दर्शन. ३ क्षायक सम्यग्दर्शन। तीन प्रकार के सम्यग्दर्शन होने में एक ही आत्मा अन्तरङ्ग हेतु कैसे हो सकता है ? इससे सिद्ध होता है कि दर्शन मोहनीय कर्म का अभाव आदि सम्यक्त्व होने में अन्तरंग हेतु हैं। कहा भी है कि—

सम्मत्त पडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्त पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

—समयसार

अर्थ—सम्यक्त्व का रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है ऐसा जिनवर देवने कहा है, उस मिथ्यात्वके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। ऐसा जानना चाहिये। ज्ञान का रोकनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म है ऐसा जिनवर देवने

कहा है, उसके उदयसे यह जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना चाहिये। चारित्रका प्रतिबंधक (रोकने वाला) चारित्र मोहनीय नामाकर्म है ऐसा जिनदेवने कहा है उसके उदयसे यह जीव अचारित्री अर्थात् कषायी हो जाता है ऐसा जानना चाहिये।

सम्यक्त्व मोक्षका कारण स्वभाव है, उसको रोकने वाला मित्यात्व है सो आप स्वयं कर्म ही है उसके उदय से ही ज्ञानको मिथ्यादृष्टि पना है। ज्ञान जो कि मोक्ष का कारण स्वभाव है उसके रोकने वाला ज्ञानावरणीय है सो आप स्वयं कर्म ही है उसके उदयसे ज्ञानको अज्ञानीपना है। चारित्र भी मोक्ष का कारण स्वभाव है उसका प्रति-बंधक चारित्र मोहनीय है सो आप स्वयं कर्म ही है उसके उदयसे ही ज्ञानके अचारित्रपना है। कर्म के स्वयमेव मोक्षका कारण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र उनका तिरोधायिपना है इसी कारण कर्मका प्रतिषेध (निषेध) किया जाता है।

जिस समय में कर्मका उदय है उसी समयमें आत्मा के पुरुषार्थकी हीनता ही है। आत्माके पुरुषार्थकी हीनता नहीं होती तो सामने कर्मका उदय कभी भी नहीं होता। इसीका नाम तो निमित्तनैमित्तिक संबंध है।

एक समयकी पर्याय छद्मस्थके ज्ञानका विषय ही

नहीं है ऐसी ज्ञानकी पराधीन अवस्था में कहना कि मोह-नीय कर्म के उदय में राग करना कि नहीं करना आत्मा के हाथ की बात है यह तो मात्र मिथ्या बकवाद है। उदयमें पुरुषार्थ हो ही नहीं सकता है, क्योंकि उदय एक समय की पर्याय है और एक समय की पर्याय छद्मस्थ के ज्ञान में आती नहीं। पुरुषार्थ उदीरणा अर्थात् बुद्धिपूर्वक अपराध में यदि आत्मा चाहे तो कर सकता है। जैसे आप अपनी एक अंगुली अडोल स्थिर ऊंची कीजिये, अब वहां आपसे कोई प्रश्न करे कि यह अंगुली में जो आपकी आत्मा के प्रदेश हैं उसमें जो योग नामका गुण है वह विकारी है या शुद्ध है?

उत्तर—उस अंगुली में योग नामका आत्मा का गुण विकारी है, क्योंकि, यदि वह विकारी नहीं होता तो मेरे चौदहवाँ गुणस्थान होना चाहिये? परन्तु चौदहवां गुणस्थान नहीं है?

प्रश्न—उस गुणको आप शुद्ध कर दीजिये!

उत्तर—मेरे से यह शुद्ध नहीं होता है, मेरे में इतनी शक्ति वर्तमान में नहीं है।

प्रश्न—आप अपनी दूसरी अंगुली खडी कर। हिलाइये। अब कहो उस अंगुली में योग नामका आत्मा का गुण विकारी है या शुद्ध है?

उत्तर—इसी अंगुली में भी योग नामका गुण विकारी है ?

प्रश्न—अडोल अंगुली में और हिलती अंगुली में योग नामके गुण में जो विकार है उसमें क्या अन्तर है. क्योंकि एक अंगुली अडोल है जब दूसरी अंगुली बुद्धि पूर्वक हिलाई जाती है।

उत्तर—अडोल अंगुली में योग नामकी आत्मा का गुण उदयरूप विकारी है वह औदयिकभाव है। हिलती अंगुली में योग नाम की आत्मा का गुण भाव उदीरणा रूप विकारी है—यह क्षयोपशमभाव है। यह दोनों में अन्तर है।

प्रश्न—हिलती अंगुली में जो भाव उदीरणा रूप योग नाम का आत्माका गुण विकारी है उसको आप मिटा दीजिये।

उत्तर—यह तो मिट सकता है क्योंकि अंगुली में आत्म-प्रदेश है उसी को हिलाना या अडोल रखना यह वर्त्तमान मेरे बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ पर आश्रित है, जिसको क्षयोपशम भाव कहते हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि उदय में आत्मा का पुरुषार्थ कार्य कर ही नहीं सकता है, क्योंकि उदय एक ही समय की अवस्था है जब भाव उदीरणा में आत्मा का पुरुषार्थ

कार्य कर सकता है । भाव उदीरणाको रोकना यही आत्माका यथार्थ में पुरुपार्थ है ।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में किस जीवकी वाणी वाह्य निमित्त हो सकती है ?

उत्तर—जो जीव व्यवहार से सम्यग्दृष्टि है अर्थात् जिसको देवगुरुशास्त्र की श्रद्धा है और जिसको छः द्रव्य, नौतत्त्व, पंचास्तिकाय आदि का जैसा स्वरूप है—ऐसा जिस को ज्ञान है वह व्यवहार से सम्यग्दृष्टि है । दर्शन पाहुडमें कहा भी है कि—

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्ततत्त्व णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रुवं सो स्वदिट्ठि मुणेयव्वो ॥ १६ ॥

अर्थ—छह द्रव्य, नव पदार्थ, पञ्च अस्तिकाय, सप्त तत्त्व जिन वचन में कहे हैं, उनके स्वरूपका जो श्रद्धान करता है उसको मम्यग्दृष्टि जानना ।

ऐसा व्यवहार सम्यग्दृष्टि अभव्य जीव जिसको देशना-लब्धि प्राप्त हो चुकी है, ऐसे जीवों के मुख से वाणी सुनी जावे तो वही वाणी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में वाह्य निमित्त पड सकती है । नियमसार में कहा भी है कि—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरसा ।
अन्तर हेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खय पहुडी ॥ ५३ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन होने में वाह्य निमित्त जिनवाणी तथा जिनवाणी जानने वाला पुरुष है, और अन्तरङ्ग

निमित्त दर्शन मोहनीय नाम कर्म का क्षय, उपशम और क्षयोपशम है।

इति 'भेदज्ञान' शास्त्र मध्ये निमित्त अधिकार संपूर्ण हुआ।

गुरु का स्वरूप

अनादि काल से अपनी आत्मा ने कुगुरु की सेवा करने में अनन्त काल निकाला तो भी कल्याण हुआ नहीं। जो जीव अपना कल्याण करना चाहता है उसको प्रथम सुगुरु को पहिचान कर उसके चरणों में भक्ति करनी चाहिये। वह गुरु कैसा है? निर्ग्रन्थ अर्थात् जिसने अन्तरंग मिथ्यात्व कषाय आदि परिग्रह का त्याग किया है और बाह्य में सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर यथाजात रूप अर्थात् तुरन्त के जन्मे हुए बालक के माफिक नग्न तथा विकार रहित अवस्था धारण की है वही निस्पृही सच्चा गुरू है। वह गुरू कैसा है? जो २८ मूलगुणों का आगम अनुकूल पालन करता है। वह मूलगुण कौनसे हैं? ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियों की विजय, ६ आवश्यक क्रिया का पालन, नग्नता, भूमि शयन, स्नान का अभाव, दंत धावन का अभाव, केशलौंच करना, खड़े खड़े करपात्र में भोजन लेना तथा एक बार भोजन लेना।

इस प्रकार २८ मूलगुणों का पालन करने वाला है। वह गुरू कैसा है? त्रस तथा स्थावर जीवों की मन वचन काय से हिंसा करता नहीं है, दूसरे जीवों से हिंसा कराता नहीं है तथा जो हिंसा करता है उसकी अनुमोदना करता नहीं है। ऐसे अहिंसा महाव्रत युक्त है। वह मुनिराज हित मित आगम अनुकूल वचन बोलते हैं। जिनकी वाणी में न कटुता है न कठोरता है ऐसे सत्य महाव्रत युक्त हैं। वह मुनिराज पराई वस्तु लेने का भाव भी करते नहीं हैं ऐसे अचौर्य महाव्रत युक्त हैं। उन मुनिराज का संसार की सब ही स्त्रियों के प्रति माता, बहन, पुत्री जैसा व्यवहार है और अपने अन्तरंग में रत्ती भर काम वासना आने नहीं देते। अतः ब्रह्मचर्य महाव्रत सहित हैं। जिन मुनिराज के पास में एक सूत मात्र भी परिग्रह नहीं है एवं परिग्रह रखने का भाव भी नहीं है। इसी कारण से बाह्य तथा अभ्यंतर नग्न हैं। ऐसे अपरिग्रह महाव्रत संयुक्त हैं। वह मुनिराज चार हाथ भूमि शोधन कर, मेरे द्वारा कोई जीव का घात न हो जावे ऐसी ईर्या समिति सहित रक्षा रूप पुण्य भाव सहित मौन से गमन करते हैं, कभी भी गमन करते २ बात करते नहीं हैं क्योंकि एक साथ में दो उपयोग होते नहीं हैं। इस प्रकार ईर्यासमिति युक्त हैं। वह मुनिराज आगम अनुकूल ही सब जीवों के कल्याण

कारी वचन सहित भाषा समिति युक्त हैं। वह मुनिराज उद्दिष्ट आदि ४६ दोष रहित शुद्ध आहार ३२ अन्तराय और १४ मल दोष टाल कर व्रतपरिसंख्यान तप सहित लेते हैं। ऐसे ऐषणा समिति सहित हैं। वह मुनिराज कमण्डल, शास्त्र आदि जो भी उठाते रखते हैं वह दया सहित अर्थात् प्रथम पीछी से झाड़ कर बाद में ही उठाते रखते हैं ऐसे आदान निक्षेपण समिति सहित हैं। वह मुनिराज लघुशंका तथा दीर्घ शंका जहां जीव जन्तु न हो ऐसी प्रासुक भूमि में जंगलों में ही जाते हैं, परन्तु उनके लक्ष्य से बनाए हुए टट्टीघर में कभी जाते नहीं, ऐसे प्रतिष्ठापन समिति सहित हैं। मूलाचार में कहा भी है कि:—

वणदाहकिसिमसिकदे थंडिल्लेणुपरोधे वित्थिएणे।
अवगदजंतु विवित्ते, उच्चारादी विसज्जेज्जो ॥३२१॥

अर्थ—दावाग्नि से जला हुआ प्रदेश, हल कर जुता हुआ स्थान, श्मसान भूमि का प्रदेश, खार सहित भूमि, लोग जहां रोके नहीं ऐसी जगह, विशाल स्थान त्रस जीव रहित स्थान, जन रहित, ऐसी जगह में मल मूत्रादि का त्याग करे।

कैसा है वह निस्पृही मुनि? जिसने ५ इन्द्रियों तथा ५ इन्द्रियों के विषय के राग को जीत लिया है इस कारण वह जितेन्द्रिय कहा जाता है। संसार के किसी पदार्थ के

प्रति उसका राग द्वेष नहीं। वह मुनिराज छह आवश्यक क्रियाओं को प्रमाद रहित नियम से करते हैं। वे छह क्रियाएँ हैं:—(१) सामायिक (२) चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति (३) एक तीर्थंकर की स्तुति (४) दिन में दो बार प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग (६) अपने लगे हुए दोषो के निवारण के लिये प्रायश्चित लेना। वह मुनि अचेलक मूलगुण सहित है। कैसा है वह-अचेलक व्रत ? मूलाचार ग्रन्थ में गाथा ३० में कहा है कि:—

वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्तादिणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥३०॥

अर्थ—कपास, रेशम, रोम तिनके वने हुए वस्त्र, मृगछाला आदि चर्म, वृक्षादि की छाल से उत्पन्न सन आदि के टाट, अथवा पत्ते, तृण आदि इनसे शरीर का आच्छादान नहीं करना, कड़े आदि आभूषणों से भूषित न होना, संयम के विनाशक द्रव्यों कर रहित होना ऐसा तीन जगत कर पूज्य वस्त्रादि बाह्य परिग्रह रहित अचेलक व्रत मूलगुण है।

कैसे हैं वह निष्पृही मुनि ? जो २२ परीषहों को जीतते हैं। कौनसे हैं वे २२ परीषह—१ क्षुधा. २ तृषा. ३ शीत. ४ उष्ण. ५ दंसमशक. ६ नग्नता. ७ अरति ८ स्त्री. ९ चर्या. १० निषद्या. ११ शय्या. १२ आक्रोष १३ वध. १४ याचना. १५ अलाभ. १६ रोग. १७ तृण

स्पर्श. १८ मल. १६ सत्कार पुरस्कार. २० प्रज्ञा. २१ अज्ञान और २२ अदर्शन। इन परीषहों को आगम के अनुकूल जीतते हैं। परीषह को कैसे जीतना चाहिये वह दृष्टान्त से दिखाया जाता है। जैसे मुनिराज आहार ले रहे हैं इतने में अहार में से बाल निकल आया जिससे मुनिराज को अन्तराय आगया। आहार लेने की भावना तो है परन्तु अन्तराय आने से आहार का त्याग किया जाता है। यदि मुनिराज ऐसा विचार करें या मुखसे बोल देवे कि मुनिका एक दफे आहार पानी है आपको साव-धानी से आहार देना चाहिये। ये विकल्प क्षुधा परीषह नहीं है, ये तो आर्तध्यानहै। अहार लेने का जो भाव था वह तो पाप भाव ही है। परन्तु अन्तराय आने से उस भाव को छोड़कर ध्यान अध्ययन में भाव को लगा देना उसी का नाम परीषह जीतना है।

शंका—क्षुधा तो लगी है वहां ध्यान अध्ययन में उपयोग कैसे लगे ?

समाधान—जैसे एक व्यापारी को बहुत क्षुधा लगी है, समय भी भोजन लेने का हो चुका है तब वह दूकान से पगड़ी आदि पहन कर भोजन करने के लिए जाने को तैयार होता है। दूकान की सीढी भी उतर चुका है। इतने में एक ग्राहक आ जाता है और कहता है कि सेठजी,

थोड़ासा कपड़ा दिखलाइये। तब वह व्यापारी तुरन्त वापिस लौटता है और पगड़ी उतार कर माल दिखाने लग जाता है। माल दिखाते दिखाते दो घंटा चला गया तो भी वहां भूख की याद नहीं आती है क्योंकि भूख की जो इच्छा थी उससे प्रबल इच्छा धन कमाने की आजाने से भूख की इच्छा से उपयोग हट जाता है। इसी प्रकार धर्मात्मा जीव खाने की इच्छा मिटाकर उससे प्रबल इच्छा ध्यान अध्य-यन में लगा कर क्षुधा परीषह को जीतता है।

कैसे हैं वे मुनिराज ? जो व्यवहार रत्नत्रय युक्त हैं जो १० प्रकार का व्यवहार मुनिधर्म अर्थात् उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिं-चिन्य और ब्रह्मचर्यसे नित्य परिणाम सहित होते हैं। जो सुख दुख, तृण कंचन, लाभ अलाभ, शत्रु मित्र, निन्दा प्रशंसा और जीवन मरण में मध्यस्थ हैं अर्थात् जिनका समभाव रूप बर्ताव है, पूजा करने वाले के प्रति राग नहीं है और लाठी से प्रहार करने वाले के प्रति द्वेष नहीं है, इतना ही नहीं परन्तु मुख से इतना भी न बोले कि भैया! मुझको क्यों मारते हो ? ऐसे साम्य भाव सहित हैं। कैसे हैं वे मुनिराज ? उत्तम ज्ञान युक्त हैं तथा घोर तपश्चरण करने का जिसका स्वभाव है तो भी जिनकी आत्मा में ज्ञान तथा तपका मद नहीं है। कैसे हैं वह मुनिराज ? मन

में वक्रता का चिन्तवन नहीं करते हैं, काय से वक्रता नहीं करते हैं एवं वचन से भी वक्रतारूप बोलते नहीं हैं। जो अपने दोषों को छुपाते नहीं हैं। परन्तु गुरू के सामने अपना दोष प्रकट करते हैं ऐसे उत्तम आर्जव धर्म सहित हैं। जो मुनिराज समभाव अर्थात् रागद्वेष रहित और सन्तोषरूप परिणाम से तृष्णा और लोभ रूप मलको आने नहीं देते हैं वे मुनि भोजन की लालसा अर्थात् अतिचारों से रहित उत्तम शौच धर्म सहित हैं। वे मुनिराज जिन वचन के अनुकूल ही बोलते हैं परन्तु ऐसा प्रतिपादन कभी नहीं करते हैं कि समयसार ग्रन्थ गृहस्थों के पढ़ने योग्य नहीं है परन्तु सर्व जीवों का कैसे कल्याण हो ऐसे उत्तम सत्य धर्म सहित हैं। वह मुनिराज स्व तथा पर जीवों की रक्षा में तत्पर हैं। ऐसे उत्तम संयम धर्म सहित हैं। मूलाचार में भी कहा है कि सम्यक् चारित्र पालने की सामग्री कौनसी है?

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं,
जेमे हि मा वहू जंप।
दुःखं सह जिन णिद्दा,
मेत्तिं भावे हि सुट्ठु वेरग्गं ॥८९५॥

अर्थः—हे मुनि! सम्यक् चारित्र पालना है तो भिक्षा भोजन कर, वनमें रह, थोड़ा आहार कर, बहुत मत

बोल, दुख को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भाव का चिंतवन कर, अच्छी तरह वैराग्य परिणाम रख, यह चारित्र पालन करने की सामग्री है। यह सामग्री जिस मुनि के पास में नहीं है वह जीव मुनि पर्याय का पालन कर नहीं सकता है।

कैसे हैं वह निस्पृही गुरु ? जो इस लोक और परलोक की अपेक्षा रहित अनेक प्रकार के काय क्लेश करते हैं। शीतकाल में नदी के तटपर जाकर कायोत्सर्ग कर खड़े रहकर शीत परीषह को जीतते हैं। उष्ण काल में पर्वत के शिखर पर मध्यान्ह में खड़े रहकर आतापन योग में उष्ण परीषह को जीतते हैं। वर्षा ऋतु में पेड़ के नीचे बैठकर ध्यान मुद्रा धर डांस मच्छर आदि की परीषह जीतते हैं। ऐसे उत्तम तप सहित हैं। वह मुनिराज मिष्ठ भोजन आदि राग द्वेष के कारण जो बाह्य साधन हैं उनके त्यागी हैं तथा ममत्व के कारण रूप वसतिका के त्याग करने वाले उत्तम त्याग धर्म सहित हैं। जो मुनिराज गांव के बाहर वनमें वसतिका में रहते हैं तो भी उस वसतिका में उस मुनिराज की मूर्छा नहीं है। परन्तु कोई मुनिराज वसतिका के भीतर से सांकली लगा देवे तब वह निष्परिग्रही न रहकर परिग्रह धारी बन जाता है। जो मुनि वचन–काय मन और कृत–कारित–अनुमोदना पूर्वक सर्व चेतन परि-

ग्रह शिष्य आदि तथा अचेतन परिग्रह पीछी कमंडलु आदि में ममत्व का त्यागरूप उत्तम आकिंचिन्य धर्म सहित हैं। यदि शिष्यादिक में राग है तो मूलाचार ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि—

वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं।
विवाहे राग उप्पति गणो दोसाणमागरो ॥६८३॥

अर्थ—साधु कुल में शिष्यादिक में मोह करने की अपेक्षा विवाह में प्रवेश करना ठीक है क्योंकि विवाह में स्त्री आदि के ग्रहण से राग की उत्पति होती है और गण तो कषाय राग द्वेष आदि सब दोषों की खानि है। कैसे हैं वह मुनिराज, जो स्त्रियोंकी संगति नहीं करते, उनके साथ बात करते नहीं। क्योंकि उनके साथ बातें करना अपने ब्रह्मचर्य व्रत में बाधा आने का कारण है। मूलाचार ग्रन्थ में कहा भी है कि—

कण्णं विधवं अंतेउरियं तह सइरिणी सलिंगं वा।
अचिरेणल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥१८२॥

अर्थ—कन्या, विधवा, रानी, व विलासिनी, स्वेच्छारिणी, दीक्षा धारण करने वाली ऐसी स्त्रियों से क्षण मात्र भी वार्तालाप करते हुए मुनिराज लोक निंदा को पाते हैं। वह मुनिराज आर्यिका आदि से सात हाथ दूर बैठते हैं। आर्यिका को साधारण मुनि उपदेश दे नहीं

सकते हैं। उपदेश देने का अधिकार मात्र आचार्य को ही है। मूलाचार में कहा है कि—

गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइ गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होहि ॥१८४॥

अर्थ—गुणों कर अगाध हो, परवादियों से दबने वाला न हो, थोड़ा बोलने वाला हो, अल्प विस्मय हो, बहुतकाल का दीक्षित हो और आचार, प्रायश्चित आदि ग्रन्थों का जानने वाला हो, ऐसा आचार्य आर्यिकाओं को उपदेश दे सकता है।

कैसी है वह आर्यिका, जो शरीरका संस्कार करती नहीं है परन्तु अपने ज्ञान ध्यान में रमण करती है मूला चार में कहा भी है कि—

अविकारवत्थावेसा जल्लमलविलित्त चत्त देहाओ।
धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूपविशुद्धचरियाओ ॥१९०॥

अर्थ—जिनके वस्त्र विकार रहित होते हैं, शरीर आकार भी विकार रहित होता है, शरीर पसेव व मलकर लिप्त है तथा संस्कार (सजावट) रहित है, क्षमादि धर्म, गुरू आदि की संतान-रूप कुल, यश, व्रत, इनके समान जिनका शुद्ध आचरण है ऐसी आर्यिकायें होती हैं।

संसार की सभी स्त्रियों को देखकर जिनके भीतर में विकारभाव उत्पन्न होता नहीं है ऐसे उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

सहित हैं। इसी प्रकार दश प्रकार के मुनि धर्मका पालन करने वाले हैं।

कैसे हैं वह मुनिराज? जो शरीर का संस्कार, तेल-मालिश, शरीर के प्रति अनुराग से रहित हैं। मूलाचार में भी कहा है कि—

मुहणयणदंतधोयणमुव्वट्टण पादधोयणं चेव।
संवाहण परिमद्दण सरीरसंठावणं सव्वं॥ ८३७॥
धूवणवमण विरेयण अंजण अब्भंग लेवणं चेव।
णत्थुयवत्थियकम्मं सिरवेज्झं अप्पणो सव्वं॥८३८॥

अर्थ—मुख, नेत्र और दांतों का धोना, सोधना, पखालना, उवटना करना, पैर धोना, अंग मर्दन कराना, मूठी से शरीर का ताड़न करना, काठ के यन्त्र से शरीर का संस्कार करना, कंठ शुद्धि के लिए वमन करना, औषधादिक द्वारा दस्त लाना, नेत्रों में अंजन लगाना, सुगन्ध तेल मर्दन करना, चंदन कस्तूरी का लेप करना, सलाई बत्ती आदि से नासिका कर्म, बस्ती कर्म करना, नसों से लोहू का निकालना ये सब संस्कार अपने शरीर में साधुजन नहीं करते हैं।

नग्न दिगम्बर मुनियों में शक्ति की अपेक्षा से दो भेद किये गये हैं—१ जिन कल्पी, २ स्थविर कल्पी।

जिन कल्पी उसको कहते हैं जिसमें देव, मनुष्य

तिर्यञ्च कृत आये उपसर्ग को सहन करने की शक्ति प्राप्त होगई है। शरीर में रोग आजाने से भी जो अपने हाथ से भी अपनी वैयावृत्य करते नहीं हैं ऐसे मुनिराज को एकल विहार करने की आज्ञा है क्योंकि उनमें सिंह-वृत्ति जाग्रत हुई है। मूलाचार ग्रन्थ में गाथा १४६ में लिखा है कि—

तवसुत्तसत्तएगत्त भाव संघडणधिदिसमग्गो य।
पविआआगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो॥१४६॥

अर्थ—तप आगम शरीर बल अपने आत्मा में ही प्रेम, शुभ परिणाम, उत्तम संहनन और मनका बल, क्षुधादि न होना, इन गुणों कर संयुक्त हो तथा तप कर आचार सिद्धान्तों कर बलवान हो अर्थात् चतुर हो, वह एकल विहारी साधु कहा गया है। स्थविरकल्पी उसको कहते हैं जिस मुनिराज में देव, मनुष्य तिर्यंच द्वारा आए उपसर्ग को सहन करने की शक्ति नहीं है, रोगादिक आजाने से वैयावृत्य करने की भावना है ऐसे मुनियों को स्थविर कल्पी कहा जाता है। वह नियम से आचार्य के संघ में ही निवास करें। ऐसे मुनिको एकल विहार करने की आज्ञा नहीं है। परंतु कोई मुनि आज्ञा विरोध कर एकल विहार करे, ऐसे पाखंडी मुनि को आहारदान नहीं देना वही मुनि धर्म की रक्षा करने का उत्तम मार्ग है।

मूलाचार ग्रन्थ में भी गाथा ९५९ में कहा है कि—

आयरियकुलं मुच्चा विहरदि, समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु ॥९५९॥

अर्थ—जो श्रमण संघको छोड़कर संघ रहित अकेला विहार करता है और दिये उपदेश को ग्रहण नहीं करता वह पाप श्रमण कहा जाता है।

ऐसा पापी श्रमण यद्यपि आचार्य नाम धराता है तो वह भी स्वयं डूबता है और दूसरे जीवों को भी डुबाता है। ऐसे श्रमणों से दूर रहना ही कल्याण का मार्ग है। मूलाचार में भी गाथा ९६३ में कहा है कि—

आयरियत्तणमुवणायइ जो मुणी आगमं ण याणंतो।
अप्पाणंपि विणासिय अण्णेवि पुणो विणासेई ॥९६३॥

अर्थ—जो मुनि आगम को नहीं जानता, अपने को आचार्य मान लेता है वह अपना नाश कर दूसरों को भी नष्ट करता है।

निस्पृही गुरु नियम से भूमि में ही शयन करते हैं। क्योंकि घास, चटाई, आदि रखना परिग्रह है। और मुनिराज परिग्रह से रहित हैं। इस कारण नियम से भूमि में ही शयन करते हैं। मूलाचार में भी गाथा ३२ में कहा है कि—

फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे ।
दंडंधणुव्व सेज्ज खिदिसयणं एयपासेण ॥३२॥

अर्थ—जीव बाधा रहित, अल्प संस्तर रहित असं-जमी के गमन रहित, गुप्त भूमि के प्रदेशमें दंडे के समान अथवा धनुष के समान एक पसवाड़े से सोना भूमि शयन मूलगुण है ।

शंका—मुनिराज घास, चटाई, काठ के तख्ते पर शयन कर सकता है ऐसा विधान भगवती आराधना ग्रंथ में देखने में आता है वह किस अपेक्षा से लिखा है ?

समाधान—जिस मुनिराज ने समाधिमरण अंगीकार किया है, उसका शरीर जीर्ण, शक्तिहीन होगया है ऐसे मुनिराज को भूमि शयन करने से कंकर आदि के कारण विकल्प न होने पावे, इसी आशय से यह कथन किया है । यह कोई राजमार्ग नहीं है । यदि राजमार्ग होता तो मूलगुणों में भूमि शयन नामका अलग मूलगुण जिनेन्द्र-देव की दिव्य ध्वनि में क्यों आता ? इससे सिद्ध हुआ कि मुनिराज भूमि में ही शयन करते हैं । मुनिराज के शरीर आंगोपांग मोक्षमार्ग में साधक रहते हैं, तब तक ही मुनिराज शरीर को आहार देने का भाव करते हैं; परन्तु जब शरीर मोक्षमार्ग में साधकभूत नहीं रहता है तब मुनिराज नियम से समाधिमरण करते हैं । जैसे जब

मुनिराज की चक्षु इन्द्रिय यथार्थ कार्य नहीं करती है तो मुनिराज को चश्मारूप परिग्रह रखने का भाव होता नहीं है। परन्तु ऐसी अवस्था में मुनिराज नियम से समाधि-मरण अंगीकार करता है।

मुनिराज परिग्रहधारी की संगति नहीं करते क्योंकि परिग्रहधारी की संगति करना पाप है। परिग्रह धारी, रागी है जब कि मुनिराज वीतरागी है। इसी कारण परिग्रहधारी से दूर जंगलों में ही निवास करते हैं। भक्ति राग है जब कि मुनिराज रागसे उदासीन हैं। इस कारण दोनों का पथ अलग २ है।

शंका—मुनिराज को जंगल में ही रहना चाहिये ऐसा कोई मूलगुण तो है ही नहीं, फिर मुनिराज जंगल में ही रहे ऐसा क्यों कहा जाता है।

समाधान—मूलगुणों में ५ महाव्रत हैं, और वे महाव्रत भावना सहित पालन किये जाते हैं। भावना रहित महाव्रत कार्यकारी नहीं है। प्रथम भावना भायी जाती है बाद में भावना का फलरूप महाव्रत होता है। महाव्रत का तो पालन करे और भावना का पालन न करे तो महाव्रत का नाश हो जायगा। जैसे माता बिना बालक जिन्दा नहीं रह सकता, उसी प्रकार भावना बिना महाव्रत यथार्थ हो ही नहीं सकता। अचौर्य महाव्रत की भावना क्या है वह

विचारना चाहिये। चारित्र पाहुड की गाथा ३४ में कहा है कि—

सुण्णायारणिवासो त्रिमोचितावास जं परोधं च ।
एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसंविसंवादो ॥३४॥

अर्थ—शून्यागार कहिये गिरी, गुफा, तरु, कोटर आदि विषै निवास करना बहुरि विमोचितावास कहिये जो लोग कोई कारणसे छोड़ दिया है ऐसा उजड गृह ग्राम आदि विषै निवास करना, बहुरि परोपरोध पर का जहाँ उपरोध कहिये वस्तिकादिक को अपनाय पर को वर्जना ऐसा न करना। बहुरि ऐषणा शुद्धि कहिये अहार पानी ४६ दोष टाल कर शुद्ध लेना। बहुरि साधर्मी तैं विसंवाद न करना। ये पांच भावना तृतीय अचौर्य महाव्रत की हैं।

यदि मुनिराज, ग्राम, नगर में रहने लगे तो अचौर्य महाव्रत की भावना का नाश हो जाता है । इससे सिद्ध होता है कि मुनिराज नियम से जंगल में ही रहते हैं । बोध पाहुड की गाथा ४२,४३ में भगवन्त कुन्दकुन्द आचार्य ने लिखा है कि—

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तहमसाणवासे वा ।
गिरिगुहगिरि सिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥४२॥
सेवसासत्तं तित्थं वचचइ दाल त्तयं च वुत्ते हिं ।
जिण भवणं अह वेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति ॥४३॥

अर्थ—सूना घर, वृक्ष का मूल, उद्यान, कोटर, वन, मसान भूमि, गिरि की गुफा, गिरि का शिखर, भयानक वन अथवा बस्ती इन विषै दीक्षा सहित मुनि तिष्ठै हैं।

बहुरि स्ववशसक्त कहिये स्वाधीन मुनिराज करि आसक्त जे क्षेत्र तिनमें मुनि बसे। बहुरि जहाँ से मुक्ति पधारे ऐसे तीर्थ स्थान में मुनिराज बसे। बहुरि चैत्यालय, एवं जिन भवन कहिये अकृत्रिम चैत्यालय, मन्दिर ऐसे स्थान जिन मार्ग में जिनदेव ने दीक्षा सहित मुनिराज के ध्यानवे योग्य चिंतवन करने योग्य कहा है। इससे भी सिद्ध होता है कि मुनिराज प्रायः कर जंगल में ही रहते हैं। बोध पाहुड में प्रव्रज्या का स्वरूप का वर्णन करते भगवन्त कुंद कुंद आचार्य गाथा ५६ में लिखते हैं कि—

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसेहि णिच्च अत्थेइ।
सिलकट्ठे भूमितले सव्वे आरूहइ सव्वत्थ ॥५६॥

अर्थ—कैसी है मुनिराज की प्रव्रज्या—उपसर्ग कहिये देव मनुष्य, तिर्यंच, अचेतन कृत उपद्रव और परिषह कहिये कर्म योग ते आये २२ परिषह तिन्हें समभाव तें सहना। जो ऐसी प्रव्रज्या दीक्षा सहित मुनिराज हैं वे जहाँ अन्य जन नाहि ऐसे निर्जन वन आदिक प्रदेश तहां सदा निवास करें तहां भी शिला पर, काष्ठ भूमि तल विषै।

इन सबही प्रदेशों के आरोहण कर बैठें, सोवें। सर्वत्र कहने से वन में ही रहे और किंचित् काल नगर में रहें तो नगर के बाहर वन में रहे।

स्वामी कार्तिकेय 'अनुप्रेक्षा' में भी मुनिराज के स्वरूप का वर्णन करते हुए गाथा ४४७ में लिखा है कि—

जो णिवसेदि मसाणे वणगहणे णिज्जणे महा भीमे।
अण्णत्थ वि एयंते, तस्स वि एदं तवं होदि ॥४४७॥

अर्थ—श्मशान भूमि में, गहन वन में, जहां लोगों का आवागमन न हो ऐसे निर्जन स्थान में। महा भयानक उद्यान वनमें तथा ऐसे एकान्त स्थान में मुनिराज रहते हैं। वही मुनिराज निश्चय से विविक्तशय्यासन तप वाले हैं।

आदिनाथ पुराण में भी पर्व संख्या ३४ गाथा १७७ से १८६ में लिखा है कि "मुनिराज सिंहादि क्रूर जीवनि करि युक्त जे गिरि-शिखर, गिरि कन्दरा, वन, तिन विषै प्रतिदिन वसते भये। साधु का यही धर्म है जो एक स्थान न रहे, रमता रहे ॥१७७॥

सिंह, रींछ, सियालनी, सारदूल, चीता, इत्यादि दुष्ट जीवनि करि भयानक जो वन ता विषै मुनिराज वसैं हैं। कैसा है वह वन सिंहादि के शब्द करि भयंकर है ॥१७८॥ महा कठोर सारदूलनिका गर्जना ताकि प्रतिशब्द करि गूंजते पर्वत के शिखर अथवा तट विषै मुनिराज निर्भय तिष्ठते भये ॥१७९॥ सिंहनी के बच्चा, तिनके कठोर शब्द ता

करि शब्दायमान जो वन ता विषै भय रहित मुनिराज बसते भये ॥१८०॥ नाचै है बिना सिर के कवंद (धड़) अर आसपास बिचरे हैं डाकिन के समूह और महा प्रचण्ड घूघूनि के शब्द तिन करि भयंकर जो वन, तिन विषै मुनिराज निवास करते भये ॥१८१॥ और सियालिनि के अमगंलिक शब्द तिन करि शब्दायमान हो रही है सब दिशा जहां ऐसे मसान तिन विषै मुनिराज रात्रि व्यतीत करते भये ॥१८२॥ इत्यादि ॥

वरांग चरित्र में भी पर्व सं० ३० श्लोक सं० २६, २७ में लिखा है कि एक दिन मसान में सामायिक में लीन होते थे तो दूसरे दिन ही अत्यंत सघन दुर्गम वनों के पर्वतों की भीषण गुफाओं में ध्यानारूढ़ हो जाते थे। यदि कभी सुन्दर उद्यान में समावीष्ट होने का अवसर आता था तो वे मुनिराज प्रसन्न न होते थे इसी प्रकार वृक्ष के खोखल में बैठे रहने में भी उन्हें असुविधा न होती थी ॥२६॥ जिस दुर्गम स्थान पर सिंह, केशरी, हाथी, रीछ, जम्बुक घातक गीद आदि पक्षी भीषण विषैले सर्प तथा निशाचर रहते थे। जो स्थान मुनि के कर्ण कटु डरावने योग व्याप्त रहता था। उसी भयंकर स्थान पर हमारे श्रेष्ठ तपस्वी वरांग आदि मुनिराज वास करते थे ॥२७॥ मूलाचार ग्रन्थ में भी लिखा है कि मुनिराज कहां बसें।

एयाइणो अविहला वसंति गिरिकन्दरेसु सप्पुरिसा।
धीरा अदीणमणसा रममाणा वीरवयणम्मि ॥७८७॥

अर्थ--सहायता रहित, उत्साह सहित, धीर वीर, दीन वृत्ति-रहित महावीर स्वामी के वचनों में रमते हुए, ऐसे श्रेष्ठ मुनिराज, पहाड़ की गुफाओं में रहते हैं।

वसधिसु अप्पडिवद्धा ण ते ममत्तिं करेंति वसधीसु।
सुण्णागारमसाणे वसंति ते वीरवसदीसु ॥७८८॥

अर्थ--वेसतिकाओं में ममता रहित अभिप्रायवाले वे साधु वसतिकाओं में ममता नहीं करते और वीर पुरुषों के रहने के स्थान ऐसे शून्य स्थान, श्मशान भूमि आदि स्थान उनमें रहते हैं।

पब्भारकंदरेसु अ कापुरिसभयंकरेसु सप्पुरिसा।
वसधी अभिरोचंति य सावदबहुघोरगंभीरा ॥७८९॥

अर्थ--पर्वतों के निकुंजोंमें व जल कर विदारे, पर्वतों के दराड़ों में जो कि सत्वहीन पुरुषों को भय के उपजाने वाले हैं ऐसे स्थानों में सिंह व्याघ्र आदि कर अति गहन भयानक स्थानों में गम्भीर स्वभाव को धारने वाले श्रेष्ठ मुनि रहने की रुचि करते हैं।

एयंतम्मि वसंता वयवग्घतरच्छअच्छभल्लाणं।
आगुंजियमारासियं सुणंति सद्दं गिरिगुहासु॥७९०॥

अर्थ--एकांत में पर्वतों की गुफाओं में वसते साधु,

भेड़िया, वाघ, चीता, रींछ, इनके आगुञ्जित आरासित शब्द सुनते हैं, तो भी सत्व से चलायमान नहीं होते।

रत्तिंचरसउणाणं णाणा रुत्तसिदभीदसद्दालं।
उण्णावेंति वणंतं जत्थ वसंतो समणसीहा ॥७६१॥

अर्थ—रात्रि में विचरने वाले घू घू आदि पक्षियों के नाना प्रकार के रोने सहित भयंकर शब्द जिस वन के मध्य में गर्जना करते हैं उसी वनमें मुनिराज रहते हैं।

सीहा इव णरसीहा पव्वयतडकडयकंदरगुहासु।
जिणवयणमणुमणंता अणुविग्गमणा परिवसंति ॥७६२॥

अर्थ—सिंह के समान मनुष्यों में प्रधान ऐसे मुनिराज जिनागम का निश्चय श्रद्धान करते ऊद्वेग रहित स्थिर चितवाले हुए पर्वत के अधोभाग, ऊपर भाग, अथवा गुफा में रहते हैं।

सावदसय णुचरिये पडिभयभीमंधयारगंभीरे।
धम्माणु रायरत्ता वसंति रत्तिं गिरिगुहासु ॥ ७६३ ॥

अर्थ—वाघ आदि क्रूर जीवों कर सेवित चारों तरफ भयानक अति अंधकार कर गहन ऐसे वन के पर्वतों की गुफाओं में चारित्र के आचरण में तत्पर मुनिराज रात में निवास करते हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि निस्पृही दिगम्बर गुरु नियम से जंगलों में ही रहते हैं इसमें कोई शंका का स्थान नहीं

है। ऐसे निस्पृही गुरू विविक्त शय्यासन नामका तप जंगलों में ही कर सकते हैं नगरी के बीच में ऐसा तप होता नहीं। मूलाचार ग्रंथ में गाथा ३५७ में भी लिखा है कि—

तेरिंछ्खी माणुस्सिय सविकारिणिदेविगेहिंसंसत्ते।

वज्जेंति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे ॥३५७॥

अर्थ—गाय आदि तिर्याञ्चिनी कुशील स्त्री, भवन-वासिनी व्यंतरी देवी असंयमी गृहस्थ-इनके रहने के निवासों ये यत्नाचारी मुनि शयन, आसन और खड़ा रहना इन तीन कार्यों को छोड़े अर्थात् वहां शयनादि न करे।

इससे आपको सन्तोष हुआ होगा कि निस्पृही गुरू नियम से जंगल तथा पहाड़ों में ही रहते हैं।यही मुनियों का राजमार्ग है। इसके अलावा और कोई मार्ग है ही नहीं। मूलाचार ग्रन्थ में गाथा ६४६–६५० में लिखा है कि मुनि महाराज कहां वसे और कहां न वसे इससे भी सिद्ध होता है कि मुनि महाराज जंगल में ही रहते हैं।

जत्थ कसायुप्पत्तिरभत्तिदियदारइत्थिजण बहुलं।

दुक्खमुवसग्गबहुलं धीरो भिक्खू खेत्तं विवज्जेऊ ॥६४६॥

अर्थ—जिस क्षेत्र में कषायों की उत्पत्ति हो, आदर का अभाव हो मूर्खता अधिक हो जहां नेत्र आदि इंद्रियों के विषयों की अधिकता हो, जहां शृंगार आदि भावों

सहित स्त्रियां अधिक हों, क्लेश अधिक हो, उपसर्ग बहुत हों ऐसे स्थानों को मुनि अवश्य छोड़ दे।

गिरि कंदरं मसाण सुएणागारं रूक्खमूलं वा।
ठाणं विराग बहुलं धीरो भिक्खू णिसेवेऊ॥ ६५० ॥

अर्थ—पर्वत की गुफा, मसान भूमि, सूनाघर और वृक्षकी कोटर ऐसे वैराग्य के कारण स्थानों में धीर मुनि रहे।

इससे सिद्ध हुआ कि मुनि महाराज नगरी में बसते नहीं हैं परन्तु जंगलों में ही निवास करते हैं। जैनधर्म के सभी तीर्थक्षेत्र जंगलों में ही क्यों बनाये गये? इस पर विचार करने से सिद्ध होता है कि जैन दिगम्बर मुनिराज पहाड एवं जंगलों में ही बसते थे, जिस कारण से ऐसे मुनिराज के निवास स्थान क्षेत्र बन गये।

नगरियों में खास करके पांच इन्द्रियोंके विषयी पुरुष रहते हैं जहां फैशन की लहरों में समाज डूबी हुई है जिसका फैशनेबिल चटकीला पोशाक देखकर साधारण जीवों का वीर्यपात हो जावे। ऐसी विलासी नगरियों में वीतरागी मुनि का क्या काम है? आजकल बंबई दिल्ली जैसी विलासी नगरियों में बाह्य में तो नग्नरूप दिगम्बर मुनि बसने लगे वह अपने संयमभाव का क्या पालन करते होंगे वह विचारने की बात है। ऐसे जीवों को जैनागम में गुरू नहीं कहा है।

निस्पृही दिगम्बर मुनि जो जंगल तथा पहाड़ों में ही रहते हैं आगम अनुकूल जिनका आचरण है जो परिषहको जीतते हैं ऐसे गुरुओं की नवधा भक्ति होती है। नवधाभक्ति का नाम एक प्रतिगहन, दूसरा ऊँचा आसन, तीसरा पाद प्रक्षालन, चौथी पूजा, पाँचवाँ नमस्कार, छठी मनः शुद्धि, सातवीं वचन शुद्धि, आठवीं काय शुद्धि, नवमीं आहार पानी शुद्धि ये नो प्रकार की भक्ति मात्र छठवें गुणस्थान धारी मुनिराज की ही होती है।

जो मुनिराज बाह्य में तो नग्न दिगम्बर हैं परन्तु शीतकाल में शीत परिषह सहन न होने से घास ओढ़ते हैं, कोई कोई तम्बू सा बनवाकर भीतर में घुस जाते हैं, कोई कोई काठ का बक्सा बनवा करके ऊपरसे त्रिरपाल आदि डालकर भीतर सो जाते हैं तथा जो मुनिराज अपने निज के लिये बनाई हुई टट्टी आदि में शौच जाते हैं जो एकल विहार कर निरर्गल प्रवृत्ति करते हैं, साथ में २–४ चटाई, शास्त्र के बकस, घड़ी, लालटेन, चश्मा आदि के परिग्रह रखते हैं वह यथार्थ में गुरू नहीं हैं वास्तव में शास्त्रों में ऐसे जीवों को द्रव्य लिंगी भी नहीं कहा है परन्तु वह तो दिगम्बर अवस्था के मात्र वेषधारी हैं ऐसे जीवों की नवधा भक्ति होती नहीं है।

शंका—आगम अनुकूल चरिया करने वाले मुनिराज

देखने में न आवे तो ऐसे वेषधारी की भक्ति करने में क्या बाधा है ? वह हम से तो अच्छे हैं ?

समाधान—ऐसे वेषधारी को गुरू मानना मिथ्यात्व है। जिनेन्द्रदेवके कथन पर आपको एतबार नहीं है। जिन मुनिराज को गौतम गणधर नमस्कार करें वह मुनिराज कैसे होते होंगे ? गौतम गणधर जानते हैं कि सब मुनि-राजों में अचिंत्य शक्ति है, यह सोचकर गौतम गणधर नमस्कार करते हैं।

आज का नव दीक्षित मुनि यदि दो घड़ी स्वभाव में स्थिर हो जावे तो गौतम गणधर से पहिले उन्हीं का शिष्य भी केवलज्ञान की प्राप्ति कर सकता है। सब मुनिराज पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह समान हैं दूज तीज आदि के चन्द्रमा की तरह मुनिराज कलाहीन नहीं होते हैं। कला-हीन तो श्रावक का पद है। मुनिराज पूर्णिमा के चन्द्र की तरह हैं। यदि पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह सम्पूर्ण कलावान मुनिराज न मिलें तो श्रद्धा तो रक्खो कि मुनि-राज पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह ही होते, हैं कलाहीन होते नहीं हैं। जैसे वर्तमान में तीर्थंकर नहीं होते हैं तो क्या कोई वेषधारी को तीर्थंकर माना जावेगा ? भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी चारित्र पाहुड की गाथा २७ में लिखते हैं कि—

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।
सुद्धं संजमचरणं जईधम्मं णिकलं वोच्छे ॥२७॥

अर्थ—कैसा है श्रावकधर्म कला सहित है। एक देशको कला कहिये है। अब यतिधर्म का संयमाचरण है उसे कहूँगा। कैसा है यति धर्म, शुद्ध है निर्दोष है जामें पापाचरण का लेश नांही है बहुरि निकल कहिये कल तैं निःक्रांत है सम्पूर्ण है पूर्णिमा के चन्द्र की तरह हैं। श्रावक धर्म की तरह एक देश नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि सभी मुनिराज पूर्णिमा के चन्द्र की तरह हैं ऐसे गुरू पूजा करने योग्य, बन्दन करने योग तथा नवधाभक्ति करने योग्य हैं। ऐसी श्रद्धा रखना परन्तु हममें अच्छे हैं ऐसे मानकर ऐसे वेषधारी की सेवा भक्ति आदि करना योग्य मार्ग नहीं है परन्तु विपरीत मार्ग है।

जिन मुनिराज को आगमज्ञान नहीं है वह व्यवहार से भी सम्यग्दृष्टि नहीं है। जो व्यवहार से भी सम्यग्दृष्टि नहीं है उसका व्यवहार से चारित्र कैसे हो सकता है? ऐसा जीव बाह्यमें नग्न दिगम्बर है तो भी वह व्यवहार से गुरू नहीं है। प्रवचनसार ग्रन्थ में गाथा २३३ में लिखा है कि—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।

अवि जाणं तो अट्ठे खवेदि कम्माणिकिध भिक्खु ।२३३।

अर्थ—जो श्रमण आगमहीन है वह अपनी आत्मा को एवं पर पदार्थोंको नहीं जानता है। ऐसा श्रमण कर्मों का क्षय किस प्रकार करेगा ? अर्थात् कर नहीं सकता है। तथा इस ग्रन्थ की गाथा २६६ में लिखा है-कि—

आगम पुव्वा दिठी ण भवदिजस्सेह संजमोवस्स ।
णत्थीदि भणदिसुतं असंजदो होदि किध समणो ।२३६।

अर्थ—इस लोक में जिसकी आगम पूर्वक दृष्टि नहीं है उसके संयम नहीं है, इस प्रकार सूत्र-कहता है तो ऐसा आगम रहित असंयत वह श्रमण कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं कहा जा सकता है।

भगवान कुन्दकुन्द आचार्य दर्शन पाहुड की गाथा २ में लिखते हैं कि—

दंसणमूलो धम्मो उवइठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥२॥

अर्थ—जिनवर देव के शिष्य गणधर देव ने धर्म उपदेश्या है सो कैसा धर्म उपदेश्या है ? धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ताते आचार्य उपदेश करते हैं कि हे भव्य, जीवों सर्वज्ञ के कहे धर्म का मूल रूप सम्यग्दर्शन को धारण करो। जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वह वन्दन करने योगय नहीं हैं। गाथा नं० ३ में भी कहा है कि—

दंसण भट्टा भट्टा दंसण भट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरिय भट्टा दंसण भट्टा ण सिज्झंति ॥३॥

अर्थ—जो पुरुष दर्शन से भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है और जो दर्शन से भ्रष्ट है उसको निर्वाण नहीं होता है यह प्रसिद्ध है परन्तु जो चारित्र से भ्रष्ट है वह तो सिद्धि को प्राप्त हो सकता है । परन्तु जो दर्शन से भ्रष्ट है वह सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है । एवं गाथा नं० ॥८॥ में भी लिखा है कि—

जे दंसणेसु भट्टा णाण भट्टा चरित्त भट्ठा य ।
एदे भट्ट वि भट्ट सेसं पि जणं विणासंति ॥८॥

अर्थ—जो पुरुष सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है और ज्ञान चारित्र से भी भ्रष्ट है वह पुरुष भ्रष्टनि विषें भी विशेष भ्रष्ट है । आप तो भ्रष्ट है ही परन्तु और जीवों को भी भ्रष्ट करे है अर्थात् आप डूबे है औरों को डुबावे है । तथा गाथा १२ में भी लिखा है, कि—

जे दंसणेसु भट्टा पाए पाडंति दंसणधराणं ।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥१२॥

अर्थ—जो पुरुष सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है वह जीव अन्य सम्यग्दृष्टिको अपने पैर पड़ाने को चाहता है नमस्कारादि कराता है वह पुरुष पर भव विषें लूला मूका होता है अर्थात् निगोद में जाता है

और उस जीव को सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की प्राप्ति होना महा दुर्लभ है। और गाथा २६ में भी लिखा है कि–
अस्संजदं ण वंदे वच्छ विहीणोवि तो ण वदिज्ज।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥२६॥

असंयमी को नांही बंदिये है बहुरि भाव संयम नांही होय अर्थात् २८ (अट्ठाईस) मूलगुणों को आगम अनुकूल पालन करता नहीं है परन्तु बाह्य में नग्नता है दिगंबर वेश है वह भी बंदन करने योग्य नहीं है, क्योंकि यह दोनों संयम रहित समान हैं इनमें एक भी संयमी नहीं है।

इससे सिद्ध हुआ कि मोक्ष मार्ग में मात्र वेश बंदन करने योगय नहीं है परन्तु गुण पूज्य हैं। जिसमें गुण नहीं वह गुरू भी नहीं, वह बन्दन करने योग्य नहीं है।

जो मुनिराज आगम अनुकूल २८ मूलगुणों का पालन करते हैं २२ परिषह हो आगम अनुकूल जीतते हैं तथा देव मनुष्य तिर्यंच द्वारा आये उपसर्ग को सहन करते हैं वही मात्र गुरू हैं। ऐसे गुरू की पूजा भक्ति होती है वही गुरू मात्र नवधा भक्ति करने योग्य है। वही गुरू अष्टांग नमस्कार करने योग्य है।

ऐलक चुल्लक अर्जिका आदि के नवधा भक्ति में से पूजा छोड़कर आठ प्रकार की भक्ति होती है क्योंकि इनका पंचम गुणस्थान है। पंचम और छटा गुणस्थान

में भक्ति में यह ही अन्तर है। पंचमगुणस्थानक वर्ती जीवों को नमोस्तु कहने का व्यवहार भी नहीं है। क्योंकि वे तो अपने साधर्मी वन्धु हैं और ऐसे साधर्मी भाइयों को इच्छाकार करने का व्यवहार है। कुन्दकुन्द स्वामी ने भी सूत्र पाहुड की गाथा १३ वीं में लिखा है' कि—

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेणसम्मसंजुत्ता।

चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ॥१३॥

अर्थ—दिगम्बर मुद्रा सिवाय अवशेष जे लिंगी हैं भेषकरि संयुक्त हैं परन्तु जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान कर सहित हैं और वस्त्र सहित परिग्रही हैं वस्त्र राखे हैं वह जीव इच्छाकार करने योग्य है।

शंका—अर्जिका तथा ऐलक आदि की पूजा क्यों नहीं करनी चाहिये ?

समाधान—पूजा गुणों की होती है परन्तु वेश की नहीं होती है। वह तो श्रावक पदधारी है, उनकी पूजा कैसे करोगे। प्रथम प्रतिमाधारी का भी पंचम गुणस्थान है और अर्जिका का भी पंचम गुणस्थान है दोनों को संवर भी समान होता है तब उसकी पूजा कैसे हो सकती है।

श्री समयसार ग्रंथ में शिष्य ने प्रश्न किया है कि हे भगवन्त ! पूजा करने योग्य आत्मा में प्रथम गुण

कौनसा प्रकट होता है तब श्री समयसार ग्रंथ में गाथा ३१ में खुलासा किया है कि—

जो इन्दिये जिणत्ता णाणसहावाधि अं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३१॥

अर्थ—जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान स्वभाव कर अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानता है उसको नियम से जो निश्चयनय में स्थित साधु लोग हैं वे जितेन्द्रिय ऐसा कहते हैं।

जिस जीव ने पांच इन्द्रियों तथा पांच इन्द्रिय के विपय को जीत लिया है वही जीव भक्ति करने योग्य है। आर्यिका ऐलक आदि जीव पांच इन्द्रिय का विजेता नहीं है परन्तु वे तो अभी इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयों से जीते गये हैं ऐसे जीवों की पूजा कैसे हो सकतो है? पंचम तथा छठा गुणस्थान में भक्ति का यही अन्तर है। लाख वर्ष से अर्जिका अपने पद की रक्षा करती है, दीक्षा से बड़ी है तो भी आजके नव दीक्षित मुनिराज को नियम से नमस्कार करेगी। यह क्या दिखलाता है? अर्जिका के पद की हीनता और मुनिराज के पद की महिमा तो दिखलाता है।

समवशरण में भी मुनिराज के लिये अलग कोठा है, जब कि अर्जिका क्षुल्लिका आदि व्रती अव्रती श्राविका

एक ही कोठे में बैठती हैं तथा ऐलक क्षुल्लक आदि व्रती अव्रती श्रावक भी एक ही कोठे में बैठते हैं, इससे सिद्ध होता है कि पंचम गुणस्थानवर्ती जीव पूजा करने योग्य नहीं है। हमारे साधर्मी हैं। तभी तो समोशरण में अलग कोठा नहीं बना ? इससे सिद्ध हुआ कि पंचम गुणस्थान वाले उत्कृष्ट पद के धारी जीवों की भी पूजा होती नहीं है और जो पंचम गुणस्थान में निमंत्रण से भोजन लेते हैं ऐसे जीवों की मनःशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि नाम की भक्ति नहीं होती है क्योंकि उन्होंने निमंत्रण माना है अर्थात् अपने चोके में जो आरम्भ आदि हिंसा होती है उसमें उसकी अनुमोदना आजाती है जिस कारण से मन-शुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि नामकी भक्ति नहीं होती है परन्तु यह तीन भक्ति जो उद्दिष्ट आहार के त्यागी हैं उनकी ही होती है।

शंका—मनशुद्धि, वचनशुद्धि तथा कायशुद्धि का परमार्थ अर्थ क्या है ?

समाधान—हे नाथ ! यह चौका लगाने में मैंने मन से भी विकल्प नहीं किया है कि यह चौका मुनिराज के लिये लगाया है परन्तु यह चौका मैंने मेरे निजके लिये लगाया है जिससे आहार जल शुद्ध है। हे नाथ ! यह चौका लगाने में मैंने वचन से भी विकल्प नहीं किया है

कि यह चौका मुनिराज के लिये लगाया है परन्तु यह चौका मैंने अपने निज के लिये लगाया है जिससे आहार जल शुद्ध है। हे नाथ ! यह चौका लगाने में मैंने काय से भी ऐसी चेष्टा नहीं की है कि यह चौका मुनिराज के लिये लगाया है परन्तु यह चौका मैंने निज के लिये लगाया है जिससे आहार जल शुद्ध है।

आप विचार करिये कि प्रायः करके चौका आप मुनिराज के लिए ही लगाते हो और नवधाभक्ति में बोलते हो कि महाराज ! मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, इसमें आपको कितना दोष लगता होगा ? जो जीव अपने गुरुके सामने झूँठ बोलते हैं वह कितने पाप के भागीदार बनते होंगे, आप शांति से विचार कीजिये ? मुनिराज भी जानते हैं कि यह चौका मेरे लिए ही लगाया गया है तो भी ऐसा उद्दिष्ट आहार लेनेवाले मुनिराज कितने दोषी होंगे ? छोटी आखड़ी तोड़नेवाले को लोक में पापी कहा जाता है, जब इतनी बड़ी आखड़ी तोड़नेवाला किस गति का पात्र बनेगा यही शांति से विचारिये ?

उत्तममार्ग तो यह है कि जब कोई मुनिराज अपने ग्रामके वनमें पधारे तब से अपनी शक्ति अनुसार ऐसा नियम करो कि मैं इतने दिन तक, इतने पक्ष तक तथा इतने मास तक शुद्ध आहार लूंगा। बादमें अपने निजके

लिये आहार बनाइये और पात्र जीवों को दान दीजिये। तब आप उद्गम आदि दोषों से तथा मुनिराज भी उद्दिष्ट आहार आदि दोषों से बच सकते हैं और दोनों के धर्मकी बढ़वारी हो सकती है।

ऐसे पात्र जीवोंको चार प्रकारका दान देना चाहिए—१. आहारदान, २. औषधदान, ३. अभयदान, ४. शास्त्र-दान। इन चारों ही प्रकार के दानोंमें उत्तमदान ज्ञानदान ही है। क्योंकि आहार दान देनेसे पात्र जीव एक दिनकी क्षुधा नामके रोगसे मुक्त हो सकता है। औषधदान देनेसे पात्र जीव महीना दो महीना वर्ष आदि तक रोग से मुक्त हो सकता है। अभयदान देने से पात्र जीव एक आयु तक भय से मुक्त हो सकता है और ज्ञानदान देनेसे जीव अनंत भव का जन्म मरण नाश करके सिद्ध पद की प्राप्ति कर सकता है। इसलिये सब जीवों को ज्ञानदान नियम से देना चाहिये। भगवान के समवशरण में भी तो ज्ञानदान की ही महिमा है और किस बात की महिमा है? ज्ञानदान की ओर समाज की भावना नहीं है। उसका मूलकारण यह है कि पात्र जीवों को खुद को ज्ञान की महिमा आती नहीं है जिससे वह ज्ञानदान देने की प्रभावना कैसे करें? ज्ञान दान वही कर सकता है जिसको ज्ञान की महिमा है और उसी प्रकार ज्ञानदान आदि से निस्पृही गुरू की सेवा

करना वही सच्ची भक्ति है और वही भक्ति परम्परा मोक्ष का कारण बन सकती है।

शंका—पात्र जीवोंको जो अन्तराय आता है वह किसके दोषसे आता है?

समाधान—अन्तराय पात्र जीवों के पापका उदय से आता है किन्तु दातार के दोषसे पात्र जीवों को अन्तराय नहीं आता है। दातार को तो उसी समय में भी पुण्यका बन्ध पड़ता है, क्योंकि, दातार का तो आहार दान देने का ही भाव था! दातारके पुण्यका ही उदय है नहीं तो पात्र जीव उसके घर कैसे आते?

प्रश्न—मध्यम पात्र अपने चोके में पधारे हुए हैं, उनको तुरंत आहार न देकर दूसरे के चोके में मुनि महाराज आहार लेते हैं उन्हें पहले अपने चौकेकी सामग्री देने से विशेष पुण्य बन्ध होता है या नहीं?

उत्तर—इस प्रकार का व्यवहार उचित नहीं है। अपने चौकेमें पधारे हुए मध्यम पात्रका अनादर कर मुनि महाराजको प्रथम आहार दानमें मेरी सामग्री देऊं तो मुझे विशेष पुण्य बन्ध होगा यह मान्यता मिथ्यात्व गर्भित है, क्योंकि, पुण्य बन्ध का कारण आहार सामग्री नहीं है, परन्तु मंद कषायरूप भक्ति का भाव है। घरपर पधारे हुए पात्र जीवको भक्तिसे आहार दान देना, परन्तु

उसका अनादर नहीं करना यही, उत्तम पुण्य बन्ध का कारण है।

शंका—तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है कि, 'विधिद्रव्य दातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः। ७–३९। अर्थात् उत्तम पात्र का दान देने से उत्कृष्ट पुण्य बन्ध पडेगा तथा जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य पुण्य बन्ध पड़ेगा। यह क्यों कहा है?

समाधान—सूत्रका परमार्थ अर्थ आपके समझ में नहीं आया। इधर उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य पात्रका भेद लेनेका नहीं परन्तु पात्र कुपात्रादिकके भेद से पुण्य बन्ध में भी भेद पडता है यह सूत्रका परमार्थ अर्थ है।

शङ्का—पात्र कुपात्रादिक में कैसे पुण्य बन्ध में भेद पड़ता है, और पात्र कुपात्रका क्या स्वरूप है?

समाधान—जिसको देव गुरु और व्यवहार धर्मकी श्रद्धा है वही पात्र जीव है। जो क्षुधा तृषा रोगादि अठारह दोषों रहित वीतराग सर्वज्ञ है वही देव है। जो नग्न दिगम्बर मुद्राधारी चौदह अभ्यंतर तथा दश बाह्य परिग्रह रहित है वही गुरु निर्ग्रंथ है। और दयामयी धर्म है ऐसी जिन जीवोंकी श्रद्धा है ऐसे पात्र जीवों को दान देने से उसके फल में भोग भूमि एवं उत्तम स्वर्गों के सुखके साथ परम्परा मोक्ष मिलता है।

जिन जीवोंके देवकी श्रद्धा में विपरीतता है अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग देव तो मानते हैं परन्तु उनको अठारह दोषों सहित मानते हैं। गुरु निर्ग्रंथ मानते हैं परन्तु गुरु वस्त्र पात्रादि रखता है अर्थात् परिग्रहधारीको गुरु मानते हैं यह गुरु के स्वरूप में विपरीतता हुई। तथा धर्म का स्वरूप यथार्थ मानते हैं ऐसे जीव कुपात्र हैं। ऐसे कुपात्रों को पात्र मानकर जो दान देते हैं उन्हें उसके फल में भोग भूमि, तथा सुदेवों का पद मिलता है परन्तु परम्परा मोक्ष नहीं मिलती है यह फल में विपरीतता है।

जिन जीवोंको देवकी श्रद्धामें विपरीतता है अर्थात् देव भोगादिकी सामग्री रखता है। यह देवके स्वरूपमें विपरीतता है। जिसको गुरुके स्वरूपमें विपरीतता है, अर्थात् गुरू परिग्रह धारी है। यहाँ गुरुके स्वरूपमें विपरीतता है। जिसको धर्मके स्वरूपमें विपरीतता है देवोंको पशुका बलिदान देनेसे धर्म होता है, यज्ञमें पशु, नर, आदि की बलि देना धर्म है, पहाड़ से कूद कर मरना धर्म है, इत्यादि मान्यता धर्ममें विपरीतता है। ऐसी मान्यतावाले जीवोंको अपात्र कहा जाता है। ऐसे अपात्र जीवोंमें पात्र बुद्धि मानकर दान देने इसीके फलमें कुभोगभूमि तथा कुदेवादिकोंका पद मिलता है परन्तु सुदेवोंका पद और परम्परा मोक्ष नहीं मिलता है यह फलमें विपरीतता है।

इस प्रकार का पात्र कुपात्र और अपात्रका स्वरूप है।

कुपात्र और अपात्र जीवोंको पात्र मानकर दान देनेमें मिथ्यात्वका पोषण हो जाता है। परन्तु कुपात्र और अपात्र जीवोंको करुणा भावसे दान देनेका निषेध नहीं है। करुणा भाव तो प्राणीमात्र पर करना चाहिये। यह बात खास लक्ष्यमें रखनेकी है।

तीर्थयात्रा—

यात्रा प्रधानपने तीन उद्देश्यसे की जाती है। १ गुरुदर्शन, २ आकुलताका त्याग करना, ३ लोभ का त्याग करना।

गुरुदर्शन—दिगम्बर जैन मुनि जंगलमेंही बसते हैं। ग्रामोंमें, शहरोंमें, नगरोंमें मुनि महाराजोंके रहनेका धर्म नहीं है, क्योंकि शहरोंमें तो गृहस्थ परिग्रहधारी रहते हैं। जिसने परिग्रहका त्याग किया है, ऐसे जीवको परिग्रहधारी की संगति भी उचित नहीं। दोनोंकी दशा परस्पर विरोधी है। गृहस्थोंका धर्म भक्ति करना है, भक्ति राग है जब कि मुनि महाराज रागसे उदासीन हैं वह रागमें कैसे फँसे? इसही कारणसे जैन लोगोंके तीर्थक्षेत्र विशेषकर पहाड़ तथा जंगलोंमें ही हैं। वेदान्त मान्यताके धर्मगुरु विशेषकर नदी के तटपर ही रहते थे। इस कारणसे नदी स्नानकी महिमा दिखलाई गई है। जंगलोंमें तथा पहाडपर जानेकी एवं

नदीमें स्नान करनेकी महिमा नहीं है, परन्तु वहाँ यदि यथार्थ गुरुका दर्शन हो जावे तो कल्याणका मार्ग वही निस्पृही गुरु दिखा सकता है इसी उद्देश्यसे यथार्थमें तीर्थ-क्षेत्रोंकी उत्पत्ति हुई है, परन्तु जीवोंका इस तरफ लक्ष्य नहीं है और केवलमात्र\पहाड़को पूज्य मानने लगे हैं। पहाड़ पूज्य नहीं है, वह तो एकेन्द्रिय जीव पृथ्वीकायिक है, वह पूज्य कैसे हो सकते हैं। शिखरजी पूज्य नहीं है, परन्तु शिखरजी के ऊपरसे जो मुनि महाराज सिद्ध दशा को प्राप्त हुए उन मुनिराजोंके गुणोंकी महिमा है। जिस पहाड़ पर मुनिराज बसते हैं उस आवासकी अर्थात् पहाड़की महिमा नहीं है, परन्तु मुनि महाराजकी महिमा है। मुनि महाराज के गुणोंकी महिमा आती नहीं है, परन्तु पहाड़ शिखरजी की महिमा आती है। शिखरजी का कंकर २ पूज्य है! शिखरजी का कंकर पूज्य नहीं है। अमुक लोग शिखरजी आदि पहाड़ोंको इतना पूज्य मानते हैं, कि वहाँ लघु शंका आदि करनेमें पाप समझते हैं। परन्तु वे विचार नहीं करते हैं कि जिस पहाड़ पर हजारों मुनि महाराज बसते हैं, वे मुनि महाराज लघु शंका के लिये पहाड़से नीचे आते होंगे, तो उनका सारा दिन लघुशंका में ही चला जाता होगा? वे स्वाध्याय और ध्यान कब करते होंगे? वहीं पहाड़ पर हजारों जंगली जानवर भी रहते होंगे, वे सब लघुशंका और दीर्घशंका कहां करते होंगे?

यदि वहां ही लघुशंका करनेमें पाप लगता होगा, तो पहाड़ के सभी जानवर नियमसे मरकर नरकमें ही जाते होंगे ? परन्तु ऐसी बात नहीं, लघुशंका या दीर्घशंका होना आत्मा के हाथकी बात नहीं, यह तो कर्म जन्य अवस्था है। आप इच्छा करो तो भी लघुशंका या दीर्घशंका न होवे। और इच्छा न हो और प्रकृति विपरीत हो तो एक घंटेमें ५० पचास टट्टी हो जावें। क्या यह सब क्रिया आत्मा के हाथकी है ? इस कर्मजन्य क्रियाको आत्माकी क्रिया मानना मिथ्यात्व है ? भाव सुधारना या बिगाड़ना यह आत्मा के हाथ की बात है। वही शिखरजी पर आप भाव बिगाड़ो तो नियम से पापका ही बन्ध पड़ेगा। और भाव सुधारने से पुण्य का बंध पड़ेगा। शिखरजी क्या करें ? सारा ठाठ भाव पर है। शिखरजी की यात्रा वहांके डोलीवाले रोज करते हैं, तो क्या उन्हें पुण्य बंध पड़ेगा ? इसी मूर्खतासे तो हमने शिखरजीका पहाड़ गुमाया ? प्रीवी काउन्सिल में शिखरजीका मामला चला था जिसके फैसलेमें जज साहेबने लिखा है, कि जो मनुष्य शिखरजी पहाड़ पर लघुशंका करनेमें पाप समझते हैं वे मनुष्य उस पहाड़की रक्षा कैसे कर सकते हैं ? इस न्याय से तो वह पहाड़ श्वेतांबर भाइयोंको दिया गया। शिखरजी पहाड़ पर रहना, एवं पहाड़पर लघुशंका, दीर्घशंका जाना पाप

नहीं है पाप तो खराब भाव करनेसे ही लगेगा। इसलिये जो मिथ्या मान्यता रखी है कि शिखरजी पहाड़ पूज्य है यह मान्यता निकाल देनी चाहिये।

आकुलता का त्याग करना—गृहस्थाश्रम आकुलतामय है। व्यापारकी आकुलता महादुःखदायक है। इसी आकुलता से बचनेके लक्ष्यसे यात्रा करनेका भाव होता है। घर छोड़ते हैं, ग्राम छोड़ते हैं, और जंगलोंमें, पहाड़ोंमें जाते हैं, परन्तु आकुलता छोड़ने का लक्ष्य भूल जाते हैं। बड़े धनी लोग तीर्थक्षेत्रमें जायेंगे तो भी मुनीम आदिको आदेश देकर जाते हैं कि रोज व्यापारका समाचार हमको पोस्ट, तार द्वारा मिलना चाहिये। जिसको छोड़ना था वह तो छूटी नहीं, मात्र क्षेत्र छूटा। इससे क्या लाभ ? एक दिन पत्र और तार न आया तो आकुलताका पार नहीं, सारा दिन चिन्तामें ही जावेगा कि क्यों तार, पत्र न आया ?

पहाड़ चढ़नेमें भी आकुलता। जबसे पहाड़ चढ़ना शुरू किया तबसे आकुलता हुई झट चलो, जल्दी चलो, देरी हो जावेगी। लघुशंका की बाधा हो जावेगी। यह सब क्या है ? जो आकुलताको छोड़ना था वह तो साथ २ साथ चल रही है। शान्तिकी गन्ध आवे कहाँ से ? लघु-शंकाकी बाधा न हो जावे, जिसकी इतनी चिन्ता है कि पूरा श्लोक भी न बोले, शांतिसे अर्घ भी न चढ़ावे और

इसकी एवजमें तुरन्त चलो देरी होती है, यह सब क्या है? अपने लक्ष्य को भूला हुवा जीव तीर्थ यात्रा में भी शांतिका अनुभव नहीं कर सकता है। लघुशंकाकी बाधा होनेवाली होगी तो नियमसे होगी इसकी इतनी चिन्ताकरनेसे क्या लाभ। शान्ति से पाठ बोलो, अर्घ आदि चढाओ, एक घन्टा देरी हो जावे तो क्या हानि है। कौनसा व्यापार चला जाता है, परन्तु शान्ति रखने का भाव नहीं होता है। ऐसी यात्रा में शान्ति कहां से मिलेगी? शान्ति चाहते हो तो आकुलता छोडने की चिन्ता रखो। मेरेमें आकुलता न हो जावे। एक पूजा करो, परन्तु शान्तिसे करो। पीछे देखो की शान्ति आती है या नहीं? शान्ति का मार्ग छोड़ कर आकुलता का मार्ग लेना शान्ति का बाधक ही है। पहाड पर रात भर रहना पडे तो रहो परन्तु आकुलता मत करो। यही आकुलता छोड़नेका मार्ग है।

लोभका त्याग—दोसो, पांचसो रुपियों का लोभ छोड़े विना यात्रा कैसे होगी? जितना लोभ छूटा उतना ही शान्ति का मार्ग है। लोभ छोड़ना ही धर्म है, वही शान्ति है। लोभ छोड़नेसे शान्ति मिलेगी इस तरफ लक्ष्य नहीं रहता। अरे बहुत खर्च हो जाता है, बहुत खर्च हो जाता है, इसकी चिन्ता करते हैं। यह कहाँ का न्याय है यदि लोभ नहीं छूटता था तो यात्रा क्यों करनेको निकले

जितना लोभ छूटा है उतनी ही यात्रा शान्तिसे करो, परन्तु विशेष खर्च होता है, इसकी चिन्ता छोड़ना शान्तिका मार्ग है। शक्ति हो तो सभी तीर्थ क्षेत्र की यात्रा करो, और शक्ति न होवे तो एक ही तीर्थक्षेत्र पर जाकर जितना लोभ छूटा है उतना ही शान्तिका अनुभव करो। चिन्ता में सुख नहीं, चिन्ता करने से धन मिल नहीं जावेगा। शुभ कार्य में निकलते हुए चिन्ता क्यों करते हो। जितनी शक्ति है उतना खर्च करो और जहां तक बने वहां तक शान्ति मिलने की चेष्टा करना चाहिये, यही तीर्थयात्रा का फल है। तीर्थयात्रा की, और शान्ति नहीं रही तो तीर्थयात्रासे क्या फल निकला? धनका खर्च करो और शान्ति नहीं मिली तो धन खर्चनेसे क्या लाभ। जो काम करो पर अपना लक्ष्य चूको नहीं, तो आपकी तीर्थयात्रा सुखरूप ही मालूम होगी, यदि लक्ष्य चूकजावोगे तो वही तीर्थयात्रा दुखरूप मालूम होगी। इससे यह सिद्ध हुवा कि जो कार्य करो उसमें अपना लक्ष्य नहीं चूकना यही उत्तम मार्ग है।

निर्माल्य वस्तु

अरहन्त आदिकी भक्ति अष्ट द्रव्यों से जो की जाती है, इसमें प्रधान लोभ छोड़ने का ही है। जितना द्रव्य आप पूजा में लगावोगे उतना ही आपका लोभ छूटा। लोभ के त्याग विना द्रव्य कैसे लावोगे? लोभ छोड़नेके

हेतुसे ही खाली हाथ मंदिरादि शुभ स्थानों में नहीं जाने का रिवाज रखा गया है। जिस वस्तु परसे आपने लोभ छोड़ दिया, वह वस्तु आपके लिये निर्माल्य हो गई। यदि उस वस्तु पर आपकी मालिकी रही अर्थात् वह वस्तु अपने स्वार्थ के काममें लो तो उस वस्तु परसे आपका लोभ कहां छूटा? जिस पदार्थ पर से आपका लोभ छूट गया वही पदार्थ तो आपका वमन है। अर्थात् त्यागी हुई वस्तु है, ऐसी त्याग की हुई वस्तु अर्थात् ऐसे वमन में से काम निकालने का अथवा स्वार्थ साधने का भाव तो वमन खाने बरोबर है अर्थात् निर्माल्य खाने बरोबर है। उस सामग्री को देकर माली (सेवक) से काम लेना यह कहां का न्याय है? उस सामग्री परसे आपका लोभ हट जाने से अब आप उसके मालिक नहीं हो। वह सामग्री यथार्थ में बिना स्वार्थ से गरीब लोगों को बांट देना चाहिये अथवा मछलियों आदि को खिला देना चाहिये। यह मार्ग ग्रहण न कर उस सामग्री को माली (सेवक) को तनख्वाह (पगार) में देकर उसी की एवजमें मंदिरादिक का काम लेना वहां आपका लोभ कहां छूटा? माली-सेवक को चाकरी में रखते वक्त आप शर्त करते हो कि तनख्वाह (पगार) नहीं दिया जावेगा, परन्तु केवल मात्र पूजा में चढ़ी हुई सामग्री तुम्हारी महनतकी ऐवजी में (बदलमें) दिया जायगा। वह तो आपकी चीज नहीं है, क्योंकि

उसपरसे आपका लोभ छूट चुका है, अपना वमन दूसरेको खिलाना यह कहां का न्याय है? माली-सेवक तो महनत कर वह द्रव्य खाता है, तो भी आप उसको निर्माल्य वस्तु का खाने वाला कह कर, उसी को हीन दृष्टि से देखते हो, उसी का अपमान करते हो, उसीके हाथका पानी छूनेमें पाप समझते हो। उसीको जैन शास्त्र छूनेका अधिकार नहीं इतना ही नहीं परन्तु शास्त्रकी गद्दीको भी छूनेका अधिकार नहीं। इत्यादि दोष लगाना यह कहां का न्याय है? यथार्थ में माली-सेवक निर्माल्य वस्तु नहीं खाता है, वह तो अपना पसीना बहाकर खाता है, महनत कर खाता है। वह निर्माल्य का खानेवाला पापी है, कि आप निर्माल्य वस्तु को खिलाने वाले पापी हैं। जरा शान्त चित्त से सोचिये। जैसे एक सती स्त्री है, उसके ऊपर मिथ्या आरोप डाल कर, उसके सतीत्वपर बट्टा लगाने की चेष्टा में जितना दोष है, पाप है, इतना ही दोष पाप माली-सेवक निर्माल्य वस्तु खाता है, उसको छूने में पाप इत्यादि कहने में है। क्योंकि माली-सेवक निर्माल्य वस्तु खाता नहीं है, वह तो हक की खाता है, वह पापी नहीं है, परन्तु निर्माल्य जान कर खिलाने की अनुमोदना करनेवाले आप ही पापी हो। जिसको आप ज़हर समझते हो उसे आप दूसरे को क्यों खिलाते हो। माली-सेवक को पूरी तनख्वाह-पगार दो,

और बाद में माली वह वस्तु खावे तो माली नियम से पापी है। तनख्वाह पगार देना नहीं और इसकी एवजी में जो वस्तु आपके लिये निर्माल्य है, जिसका आपने लोभ छोड़ दिया है वही वस्तु माली-सेवकको देकर काम लेना, और ऊपर से कहना कि माली-सेवक निर्माल्य खाने वाला है, यह तो बहुत ही अन्याय है। आपको पूजा करने में शान्ति कहाँ से मिलेगी ? उत्तम तो यह है कि माली सेवक को पूरी तनख्वाह-पगार देकर मन्दिर में रखना चाहिये और निर्माल्य वस्तु गरीब लोगों को बिना स्वार्थ के बाँट देना चाहिये ? इतना ही नहीं परन्तु माली-सेवकको भी जैन बनाना चाहिये ? मालियोंको जैन बनवाना तो दूर रहा परन्तु उन्हें जिनशास्त्रको एवं जिन शास्त्र की गद्दी को छूनेका अधिकार नहीं कहना तो नियम से अन्याय एवं मिथ्यात्वका ही पोषण है।

इति 'भेदज्ञान' शास्त्र मध्ये गुरु भक्ति आदि अधिकार संपूर्ण हुआ।

द्रव्यकर्म का स्वरूप

प्रश्न—पौद्गलिक द्रव्य कर्म कितने प्रकार का है, तथा उसके उत्तर भेद क्या हैं ?

उत्तर—पौद्गलिक द्रव्यकर्म आठ प्रकार का है। १ ज्ञानावरणी, २ दर्शनावरणी, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय,

५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ अन्तराय।

ज्ञानावरणीकर्म—ज्ञानावरणीकर्म ज्ञान के विकास को रोकता है। ज्ञानावरणी कर्मके उत्तर भेद पांच हैं। १ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मनः पर्ययज्ञानावरण, ५ केवलज्ञानावरण।

दर्शनावरणीकर्म—दर्शनज्ञानावरणीकर्म दर्शनचेतना का विकास नहीं होने देता है। इसकी पेटा प्रकृति नौ हैं। १ चक्षुदर्शन, २ अचक्षुदर्शन, ३ अवधिदर्शन, ४ केवलदर्शन, ५ निद्रा, ६ निद्रानिद्रा, ७ प्रचला, ८ प्रचलाप्रचला, ९ स्त्यान गृद्धि। इसप्रकार चार तो दर्शनचेतना को रोकनेवाली हैं और पाँच प्रकार की निद्रा जो दर्शनचेतना प्रगट हुई है, उसे ही रोकनेवाली हैं।

शंका—पांच निद्रा नामकी प्रकृतियों को प्रथमकर्म ज्ञानावरणमें नहीं गिनकर दर्शनावरण कर्म में क्यों गिना जाता है?

समाधान—ज्ञान दर्शनपूर्वक ही होता है, इसी कारण जो दर्शन चेतनामें बाधा डालेगी वही ज्ञानमें भी बाधा डालेगी ही। इसी कारण उन प्रकृतियोंको दर्शनावरण कर्ममें गिना जाता है। यदि उन प्रकृतियोंको ज्ञानावरण कर्ममें शामिल किया जाता तो यह निद्रा नामकी प्रकृति मात्र ज्ञानको ही रोकती परन्तु दर्शनचेतना को वह रोक नहीं सकती।

निद्रामें न तो दर्शनचेतना काम करती है न ज्ञान चेतना काम करती है। दोनों चेतनाएँ लब्धिरूप रहती हैं। इसी कारण निद्रा नामकी प्रकृतियाँ दर्शनावरण कर्ममें ही गिनी जाती हैं। ये सर्वघाती प्रकृतियाँ हैं।

वेदनीयकर्म—वेदनीय कर्मका फल बाह्य सामग्री का संयोग वियोग कराना और यदि मोह हो तो उस सामग्री में सुख दुःखका वेदन कराना यही वेदनीय का कार्य है। वेदनीयकी पेटा प्रकृति दो हैं। १ साता वेदनीय, २ असाता वेदनीय।

शंका—बाह्य सामग्री लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से मिलती है ऐसा किसी २ आचार्य का मत है, तब मात्र वेदनीय कर्म से बाह्य सामग्री मिलती है इस बात में विरोध आता है?

समाधान—अन्तराय कर्म घाती कर्म है। उसके सद्भाव में आत्मा की वीर्यशक्ति का नाश होता है, और अन्तराय कर्म के अभाव में वीर्यशक्ति प्राप्त होती है, यह अन्तराय का फल है। अन्तरायकर्म के क्षयोपशमसे बाह्य सामग्री मिलती है यह मान्यता गलत है। अन्तरायकर्म पाप प्रकृति है, और पाप प्रकृति से बाह्य सामग्रीका मिलना मानना भी भूल है। इसलिये यही श्रद्धा रखनी कि बाह्य सामग्रीका संयोग वियोग होना वेदनीय कर्म का फल है।

बाह्य सामग्री कर्म के उदय में ही मिलती है, परन्तु कर्म के क्षयोपशममें नहीं मिलती है।

मोहनीयकर्म---मोहनीयकर्म के दो भेद हैं। १दर्शन मोहनीय २ चारित्र मोहनीय। दर्शनमोहनीयका कार्य तत्त्वार्थके सत्य श्रद्धान होनेमें विघ्न डालना है। २ चारित्र मोहनीय का वीतराग भाव होनेमें विघ्न डालना है।

दर्शनमोहनीय की उत्तर प्रकृति तीन हैं। १ मिथ्यात्व, २ सम्यक्मिथ्यात्व, ३ सम्यक्त्वप्रकृति।

चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं। १ कषाय वेदनीय २ नोकषायवेदनीय।

कषाय वेदनीय की १६ प्रकृति---अनंन्तानुबंधी ४, अप्रत्याख्यान ४, प्रत्याख्यान ४, संज्वलन ४, क्रोध मान माया लोभ इस तरह १६ कषायवेदनीय की हैं। नो कषायवेदनीयकी नौ प्रकृति हैं। १ हास्य २ रति ३ अरति ४ शोक ५ भय ६ जुगुप्सा ७ पुरुषवेद ८ स्त्रीवेद ९ नपुंसक वेद। इन्हें नोकषाय अर्थात् ईषत्कषाय कहते हैं।

तीव्र और मंद कषाय की अपेक्षासे अनंतानुबंधी आदि प्रकृति का भेद नहीं है परन्तु संयम भाव घातनेकी अपेक्षा से भेद हैं। अनंतानुबंधी के उदय में स्वरूपाचरण चारित्रकी प्राप्ति नहीं होती है। अप्रत्याख्यान कषायके उदय में देश संयम भी लेने का भाव नहीं होता है। प्रत्याख्यानकषाय के उदयमें सकल संयम लेनेका भाव नहीं

होता। संज्वलन कषायके उदयमें संपूर्ण वीतराग भावकी प्राप्ति नहीं होती है।

स्त्री पुरुष और दोनों के साथ रमण करने का भाव का नाम भाव वेद है और मोहनीयकर्म की पौद्‌गलिक कर्म् प्रकृतिका नाम द्रव्य वेद है, परन्तु शरीर रूपी ढांचे को द्रव्य वेद मानना भूल है। क्योंकि वह तो अंगोपांग नामा नामकर्मका फल है।

आयुकर्म—आयुकर्मका फल चतुर्गतियोंमें रोक रखना है। उसकी उत्तर प्रकृति चार हैं। १. देवायु २ मनुष्यायु ३ तिर्यगायु ४ नरकायु।

नामकर्म—नामकर्मका फल नरकादि नाम करावे। नामकर्मके उत्तर भेद ४२ हैं।

१. गति ४—तिर्यंचगति, नरकगति, देवगति, मनुष्यगति।

२. जाति ५—एकेन्द्रियजाति, दोइन्द्रियजाति, तेइन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति।

३. शरीर ५—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण शरीर।

४. अंगोपांग ३—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक अंगोपांग।

शंका—अंगोपांग किसको कहते हैं?

समाधान—अंगोपांग निम्न प्रकार है कहा है कि,

णलया बाहूअ तहा णियंब पुट्ठी उरो य सीसं च।
अट्ठेव दु अंगाई देहएणाइं उवंगाइं ॥ १० ॥

अर्थ—शरीरमें दो पैर, दो हाथ, नितम्ब (कमरके पीछे का भाग), पीठ, हृदय और मस्तक ये आठ अंग होते हैं। इनके सिवाय अन्य (नाक, कान–आंख) उपांग हैं। (ध. ६–५४)

५. निर्माण २–नेत्रादि १ यथास्थान, २ यथाप्रमाण बनानेवाला कर्म।

शंका—निर्माण नाम कर्म किसे कहते हैं?

समाधान—नियत मानको निर्माण कहते हैं। वह दो प्रकारका है—

१ प्रमाण निर्माण और २ संस्थान निर्माण।

जिस कर्मके उदय से जीवों के दोनों ही प्रकार के निर्माण होते हैं उस कर्मकी निर्माण संज्ञा है। यदि प्रमाण निर्माण नामकर्म न हो, तो जंघा–बाहु शिर नासिका आदि का विस्तार और आयाम लोकके अन्ततक फैलनेवाला हो जावेगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि उस प्रकार से पाया नहीं जाता। इसलिये कालको और जातिको आश्रय करके जीवों के प्रमाण को निर्माण करने वाला प्रमाणनिर्माण नाम कर्म है। यदि संस्थान निर्माण नाम कर्म न हो, तो अंग, उपांग और प्रत्यंग शंकर और व्यतिकर स्वरूप हो

जावेंगे। किन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि, ऐसा पाया नहीं जाता। इसलिये कान, आंख, नाक आदि अंगोंका अपनी जाति के अनुरूप अपने अपने स्थानपर जो नियामक कर्म है वह संस्थान नाम कर्म कहलाता है। (ध. ६-६६)

६. बंधन ५—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्माण बंधन।

७. संघात ५—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्माण संघात।

८. संस्थान ६—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वातिक, कुब्जक, वामन, हुंडक-संस्थान।

९. संहनन ६—वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन।

१०. स्पर्श ८—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण।

११. रस ५—तिक्त, कडुआ, खट्टा, मीठा, कषायला।

१२. गंध २—सुगंध, दुर्गंध।

१३. वर्ण ५—काला, नीला, लाल, पीला, स्वेत।

१४. आनुपूर्वी ४—नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी।

शंका—संस्थान नाम कर्म से आकार विशेष उत्पन्न होता है, इसलिये आनुपूर्वी की परिकल्पना निरर्थक है।

समाधान—नहीं, क्योंकि शरीर ग्रहण करनेसे प्रथम समय से ऊपर उदय में आने वाले उस संस्थान नाम कर्म का विग्रहगति के कालमें उदयका अभाव पाया जाता है। (ध. ६. ५६)

शंका—पूर्व शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको नहीं ग्रहण करके स्थित जीवका इच्छित गति में गमन किस कर्मसे होता है ?

समाधान—आनुपूर्वी नामकर्मसे इच्छित गति में गमन होता है।

शङ्का—विहायोगति नामकर्मसे इच्छित गति में क्यों गमन नहीं होता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि विहायोगति नामकर्म का औदारिकादि तीनों शरीरोंके उदय के विना उदय नहीं होता है।

शंका—आकार विशेषको बनाये रखने में व्यापार करने वाली आनुपूर्वी इच्छित गति में गमन का कारण कैसे होती है।

समाधान—नहीं, क्योंकि, आनुपूर्वीका दोनों ही कार्यों के व्यापार में विरोधका अभाव है। अर्थात् विग्रह गति में आकार विशेषको बनाये रखना और इच्छित गति

में गमन करना ये दोनों ही आनुपूर्वी नाम कर्म के कार्य हैं। (ध. ६. ६०)

१५. अगुरुलघु—जिसके उदय से शरीर हलका भारी न हो।

१६. उपघात—जिसके उदयसे स्वयं का घात हो।

१७. परघात—जिसके उदय से जीवका घात दूसरे के द्वारा हो।

१८. आताप—उष्णता सहित प्रकाशको आताप कहते हैं।

शंका—इस प्रकार आताप शब्दका अर्थ करने से तैजसकायिक जीवमें भी आताप कर्मका उदय प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि तैजसकायिक नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई उस अग्निकी उष्ण प्रभा में सकल प्रभाओं की अविनाभावी उष्णता का अभाव होनेसे उसका आतापके साथ समानताका अभाव है। (ध. ६. ६०)

१९. उद्योत—जिस कर्मके उदय से जीवके शरीर में उद्योत अर्थात् चमत्कार उत्पन्न होता है वह उद्योत नाम कर्म है। यदि उद्योत नामकर्म न हो तो चन्द्र, नक्षत्र, तारा, और जुगनू नामके कीडा आदिके शरीरों में उद्योत (प्रकाश) न होवेगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा पाया नहीं जाता है। (ध. ६. ६०)

२०. उच्छ्वास—जिसके उदयसे उच्छ्वास आवे।

२१ विहायोगति—जिसके उदय से आकाश में उड सके।

२२. प्रत्येक—जिसके उदयसे एक जीवके भोगने योग्य शरीर हो।

२३. साधारण—जिसके उदय से अनेक जीवोंके भोगनेयोग्य शरीर हो।

२४. त्रस—जिसके उदयसे दोइन्द्रियादि शरीर प्राप्त हो।

२५. स्थावर—जिसके उदय से एकेन्द्रिय शरीर मिले।

२६. सुभग—स्त्री और पुरुषों के सौभाग्यको उत्पन्न करनेवाला शरीर मिले।

२७. दुर्भग—स्त्री और पुरुषों के दुर्भाग्यको उत्पन्न करनेवाला शरीर मिले।

शंका—अव्यक्त चेष्टा वाले एकेन्द्रिय जीवों आदिमें सुभग भाव और दुर्भग भाव कैसे जाने जाते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि एकेन्द्रिय आदि में अव्यक्त रूप से विद्यमान उन भावों का अस्तित्व आगमसे सिद्ध है। (ध. ६–६५)

२८–२९ सुस्वर, दुस्वर ३०–३१ शुभ, अशुभ जिस कर्मके उदयसे अंगोपांग नाम कर्मोदय जनित अंगों और

उपांगोंके शुभपना (रमणीयत्व) होता है, वह शुभ नाम कर्म है। और अंग और उपांग के अशुभताका उत्पन्न करने वाला अशुभ नाम कर्म है। (ध. ६-६४)

३२ सूक्ष्म, ३३ बादर, ३४ पर्याप्त, ३५ अपर्याप्त, ३६-३७ स्थिर, अस्थिर जिस कर्म के उदयसे रस रुधिर मेदा मज्जा अस्थि, मांस और शुक्र इन सात धातुओंकी स्थिरता अर्थात् अविनाश व अगलन हो वह स्थिर नाम कर्म है। यदि स्थिर नामकर्म न हो तो इन धातुओं का स्थिरताके अभाव से गलनाही होगा किंतु ऐसा है नहीं। क्योंकि हानि और वृद्धि के विना इन धातुओंका अवस्थान देखा जाता है। जिस कर्म के उदय से रस, रुधिर, मांस, मेदा, मज्जा और शुक्र इन धातुओंका परिणमन होता है, वह अस्थिर नाम कर्म है कहा भी है (ध.६-६३)

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसांनमेदः प्रवर्तते।
मेद सोऽस्थि ततो मज्जा यज्ञ शुक्रं ततः प्रजा॥

अर्थ—रससे रक्त बनता है, रक्त से मांस उत्पन्न होता है, मांससे मेदा पैदा होता है, मेदा से हड्डी बनती है, हड्डी से मज्जा पैदा होती है, मज्जासे शुक्र उत्पन्न होता है और शुक्र से प्रजा (संतान) उत्पन्न होती है।

३८-३९ आदेय, अनादेय जिस कर्म के उदयसे जीवके बहुमान्यता उत्पन्न होती है वह आदेय नाम कर्म

है, और उससे अर्थात् बहुमान्यता से विपरीतता (अनादरणीयता) को उत्पन्न करनेवाला अनादेय नाम कर्म है। (ध. ६-६५)

४०-४१ यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति ४२ तीर्थंकरत्व।

गोत्रकर्म---जो फलमें ऊँच नीच संज्ञा दिलावे। गोत्र कर्मकी उत्तर प्रकृति दो हैं। १ उच्चगोत्र २ नीचगोत्र।

उच्चगोत्रमें नियमसे मनुष्य तथा देवगति मिलती है। और नीच गोत्रमें नियमसे तिर्यंच तथा नरक गति मिलती है। मनुष्योंमें नीचगोत्र व्यवहारसे कहा जाता है। यह तो कार्यकी अपेक्षासे भेद पड़ता है। कार्य छोड़ देनेसे नीच गोत्री उच्चगोत्री हो जाता है, एवं उच्चगोत्री नीचगोत्री हो जाता है, यह तो परिवर्त्तनशील गोत्र है।

अन्तराय कर्म---वीर्य शक्ति को रोके उसीका नाम अन्तराय कर्म है। अन्तरायकर्मकी पांच उत्तर प्रकृतियाँ हैं। १ दानान्तराय २ लाभान्तराय ३ भोगान्तराय ४ उपभोगान्तराय ६ वीर्यान्तराय।

दानान्तराय--दान देनेमें वीर्य शक्ति का अभाव।

लाभान्तराय--व्यापार (व्यवसाय) करनेमें वीर्य शक्ति का अभाव।

भोगान्तराय--भोग करने में वीर्य शक्तिका अभाव।

उपभोगान्तराय-- बढ़िया कपड़ा-गहना (जेवरात)

भोग करने में वीर्य शक्ति का अभाव।

वीर्यान्तराय–त्याग ग्रहण करने में वीर्य शक्ति का अभाव।

शङ्का–उदय और उदीरणा में क्या भेद है?

समाधान–जो कर्म स्कंध, अपकर्षण, उत्कर्षण आदि प्रयोंगों के बिना, स्थिति क्षय को प्राप्त होकर अपना अपना फल देते हैं उन कर्म स्कंधों की "उदय" यह संज्ञा है। जो महान स्थिति और अनुभागों में अवस्थित कर्म स्कंध अपकर्षण करके फल देनेवाले किये जाते हैं, उन कर्म स्कंधोंकी "उदीरणा" यह संज्ञा है, क्योंकि अपक्व कर्म स्कंधके पाचन करने को उदीरणा कहा गया है। (ध. ६–२१३)

शङ्का—उपशम, निधत्त, और निकांचितमें क्या अंतर है?

समाधान—जो कर्म उदयमें न दिया जा सके वह उपशम, जो संक्रमण और उदय दोनों में ही न दिया जा सके वह निधत्त, और जो उतकर्षण, संक्रमण, उदय, तथा अपकर्षण इन चारोंमें ही न दिया जा सके वह निकांचित करण है। कहा भी है कि–(ध. ६–२६५)

उदए संकम उदय चदुसु विदादु कमेण णो सक्क।
उवसतं च निधत्तं णिकाचिदं चारि जं कम्मं ॥१८॥

शङ्का–घाती और देशघाती किसे कहते हैं ?

समाधान–कर्म दो प्रकार के हैं, घातिया कर्म और अघातिया कर्म। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय यह चार घातिया कर्म हैं, तथा वेदनी, नाम, गोत्र, आयु ये चार अघातिया कर्म हैं।

शङ्का—ज्ञानावर्ण आदिको घातियां कर्म क्यों नाम दिया?

समाधान–क्योंकि केवलज्ञान, केवल दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य अर्थात् आत्मा की शक्तिरूप जो अनेक भेदों से भिन्न जीव गुण हैं उनके उक्त कर्म विरोधी अर्थात् घातक होते हैं, और इसलिये यह घातिया कर्म कहलाते हैं। (ध. ७–६२)

शंका–जीवके सुखको नष्ट करके दुख उत्पन्न करने वाला असातावेदनीय कर्मको घातिया कर्म नाम क्यों नहीं दिया ?

समाधान–नहीं दिया ! क्योंकि वह घातिया कर्मका सहायक मात्र ही है, और घातिया कर्मों के बिना अपना कार्य करनेमें असमर्थ तथा उसमें प्रवृत्ति रहित है, इसी बातको बतलानेके लिये असातावेदनीयको घातिया कर्म नहीं कहा। (ध. ७–६३)

प्रश्न–पहिले किन कर्म प्रकृतियोंका उदय विच्छेद

होता है बादमें बंध विच्छेद होता है ?

उत्तर—देवायु, देवचतुष्क, अर्थात् देवगति, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, देवगत्यानुपूर्वी, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग और अयशःकीर्ति इन आठ प्रकृतियोंका उदय विच्छेद होता है, पश्चात् बंध का विच्छेद होता है। कहाभी है कि (ध. ८–११)

देवाउ देवचउकाहारदुअं च अजसमटठण्हं।
पठम मुदओ विणस्सदि पच्छा बंधो मुणेयव्वो ॥

प्रश्न—बंध उदय दोनों ही साथ विच्छेद होनेवाली कर्म प्रकृतियाँ कौनसी है ?

उत्तर—मिथ्यात्व, चार अनन्तानुबंधी, चार अप्रत्याख्यानावरणीय, चार प्रत्याख्यानावरणीय, तीन संज्वलन, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, मनुष्यगति,प्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति और साधारण इन इकत्तीस प्रकृतियोंका बंध व उदय दोनों ही साथ व्युछिन्न होते हैं। (ध. ८–१२)

प्रश्न—पहले बंध बादमें उदय विच्छेद होनेवाली कर्म प्रकृतियाँ कौनसी है ?

उत्तर—पांच ज्ञानावरणीय, नौ दर्शनावरणीय, दो वेदनीय, संज्वलन लोभ, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, अरति, शोक,

नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु, नरकगति, तिर्यंचगति, पंचेन्द्रिय ज ति, औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर छह संस्थान, औदारिक अंगोपांग, छह संहनन, वर्णादिचार नारकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, अगुरुलघुकादि चार, उद्योत, दो विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुस्वर, आदेय अनादेय, यशःकीर्ति, निर्माण तीर्थंकर, नीचगोत्र, उच्चगोत्र और पांच अंतराय इन ८१ प्रकृतियोंका पहिले बंध नष्ट होता है बादमें उदय नष्ट होता है (ध. ८-१२)

प्रश्न-परोदयसे बंधनेवाली प्रकृतियोंका क्या नाम है?

उत्तर-तीर्थंकर, नरकायु, देवायु, नरकगति, देवगति, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अङ्गोपांग, नरकगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, आहारकशरीर, आहारकअंगोपांग इन ग्यारह प्रकृतियोंका बंध परोदयसे होता है। (ध. ८-१४)

प्रश्न-स्वोदयसे बंध होनेवाली कौनसी कर्म प्रकृतियाँ हैं?

उत्तर-पांच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, मिथ्यात्व, तैजस और कार्माणशरीर, वर्णादिक चार, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ निर्माण, पांच अंतराय ये २७ प्रकृतियां स्वोदयसे बंधती हैं। (ध. ८-१४)

प्रश्न-स्वोदय परोदयसे बंधनेवाली कौनसी कर्म

प्रकृतियाँ हैं ?

उत्तर—पाँच दर्शनावरणीय, दो वेदनीय, सोलह कषाय, नौ नोकषाय, तिर्यगायु मनुष्यायु, तिर्यग्गति मनुष्यगति, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, पंचेंद्रियजाति, औदारिक शरीर, छह संस्थान, औदारिक शरीर आंगोपांग, छह संहनन, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप उद्योत, दो विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, शूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक साधारण, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, नीचगोत्र, उच्चगोत्र, ये ८२ प्रकृतियाँ स्वोदय परोदय दोनों प्रकारसे बंधती हैं।

[ध. ८–१५]

प्रश्न—ध्रुव तथा निरन्तर बंध कौनसी कर्म प्रकृतियों का होता है ?

उत्तर—पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस कार्माण शरीर, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, पांच अन्तराय ये सैंतालीस ध्रुव प्रकृतियाँ हैं। ये सैंतालीस ध्रुवप्रकृतियाँ तथा तीर्थंकर, आहारकशरीर, आहारकअंगोपांग और चार आयु यह मिलकर, ५४ (चौवन) प्रकृतियाँ निरंतर बंधती हैं।

शंका–निरंतर बंध और ध्रुव बंध में क्या भेद है?

समाधान–जिस प्रकृतिका प्रत्यय जिस किसी भी जीवमें अनादि एवं ध्रुव भावसे पाया जाता है, वह ध्रुव बंध प्रकृति है। और जिस प्रकृतिका प्रत्यय नियम से सादी एवं अध्रुव तथा अन्तर्मुहूर्त्त कालतक अवस्थित रहनेवाला है यह निरंतर बंध प्रकृति है। (ध. ८–१६)

प्रश्न–सांतर बंध प्रकृतियाँ कौनसी हैं?

उत्तर–जिन जिन प्रकृतियोंका काल क्षयमें बंध व्युछेद संभव है वह सांतर बंध प्रकृति है। असाता वेद-नीय–स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, अरति,शोक, नरकगति, चार जाति, अधस्तन, पांच संस्थान, पाँच संहनन, नरकगतिप्रायो-ग्यानुपूर्वी, आतप–उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण अस्थिर, अशुभ-दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति यह चौंतीस प्रकृतियाँ सांतर हैं। (ध. ८–१७).

प्रश्न–सांतर निरंतर बंध प्रकृतियाँ कौनसी हैं?

उत्तर–सातावेदनीय, पुरुषवेद, हास्य,रति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर, समचतुरस्रसंस्थान औदारिक शरीर अंगो-पांग, वैक्रियकशरीर अंगोपांग वज्रवृषभनाराचसंहनन, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, परघात,

उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ-सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र, नीचगोत्र ये बत्तीस प्रकृतियाँ सांतर निरंतर रूपसे बंधनेवाली हैं। (ध. ८-१८)

प्रश्न—मिथ्यात्व के उदयसे कौन कौनसी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर—मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यात्व, नपुंसकवेद नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियजाति, हुंडक-संस्थान, असंप्राप्तासृपाटिकसंहनन, नरकगतिप्रायोग्यानु-पूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंका बन्ध होता है, क्योंकि मिथ्यात्व उदय के अन्वय और व्यतिरेकके साथ इन सोलह प्रकृतियोंके बन्धका अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है। (ध. ७-१०)

प्रश्न—अनन्तानुबंधीकषायके उदय में कौनसी प्रकृ-तियोंका बंध होता है ?

उत्तर—अनंन्तानुबंधी कषाय के उदयमें निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यंगायु, तिर्यंचगति, तिर्यंग्प्रायो-ग्यानुपूर्वी, न्यग्रोध, परिमण्डल, स्वातिक, कुब्जक, और वामन संस्थान, वज्रनारांच, नारांच अर्धनाराच, और कीलक

शरीर संहनन, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग-दुस्वर, अनादेय और नीच गोत्र इन पच्चीस प्रकृतियोंके बन्धका अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उदय कारण है, क्योंकि, उसके साथ उसका अन्वय व्यतिरेक है। (ध. ७-११)

प्रश्न—अप्रत्याख्यानावरणीय कषायके उदयमें कौन सी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर—अप्रत्याख्यानावरणीय कषायके उदयमें, अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिक शरीर, औदारिकशरीर आंगोपांग, वज्रवृषभसंहनन और मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी इन दश प्रकृतियोंके बन्धका अप्रत्याख्यानावरण चतुष्कका उदय कारण है। क्योंकि उसके साथ उसका अन्वय व्यतिरेक है। (ध. ७-११)

प्रश्न—प्रत्याख्यानवरणीय कषायके उदयमें कौनसी प्रकृतियोंका बन्ध होता है ?

उत्तर—प्रत्याख्यानावरणीय कषायके उदयमें, प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चार प्रकृतियों के बन्ध का कारण इन्हीं का उदय है। क्योंकि अपने उदयके बिना इनका बन्ध नहीं पाया जाता। (ध. ७-११)

प्रश्न—प्रमादमें कौनसी प्रकृतियोंका बन्ध पाया जाता है ?

उत्तर -असाता वेदनीय अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ, और अयशःकीर्ति इन छह प्रकृतियों के बन्धका कारण प्रमाद है। क्योंकि प्रमादके बिना इन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं पाया जाता है।

शंका--प्रमाद किसे कहते हैं?

समाधान--चार संज्वलन कषाय और नौ नोकषाय इन तेरह के तीव्र उदयका नाम प्रमाद है।

शंका--पूर्वोक्त चार बन्ध के कारणों में प्रमाद का अन्तर्भाव कहां होता है?

समाधान--कषायों में प्रमाद का अन्तर्भाव होता है, क्योंकि कषायों से पृथक् प्रमाद पाया नहीं जाता है। (ध. ७-११)

प्रश्न--संज्वलन कषाय के उदयमें कौनसी प्रकृतियों का बन्ध होता है?

समाधान-देवायु के बन्धका भी कषाय कारण है, क्योंकि प्रमाद के हेतुभूत कषाय के उदयके अभाव से अप्रमत्त होकर मन्द कषाय के उदयरूप से परिणत हुए जीव के देवायु के बन्ध का विनाश पाया जाता है। निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों के बन्ध का कारण कषायोदय है, क्योंकि अपूर्वकरण के काल के प्रथम सप्तम भाग में संज्वलन कषाय के उस काल के योग्य तीव्रोदय होने

पर इन प्रकृतियों का बन्ध पाया जाता है। देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्माण शरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियिक शरीरांगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगगति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ सुभग, सुस्वर आदेय, निर्माण और तीर्थंकर इन तीस प्रकृतियों के भी बन्धका कषायोदय ही कारण है, क्योंकि अपूर्वकरण कालके सात भागों में से प्रथम छह भागों के अन्तिम समय में मन्दतर कषायोदय के साथ इनका बन्ध पाया जाता है। हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार के बन्धका अधःप्रवृत और अपूर्वकरण सम्बन्धी कषायोदय कारण है, क्योंकि उन्हीं दोनों परिणामोंके काल संबंधी कषायोदय में ही इन प्रकृतियोंका बन्ध पाया जाता है। चार संज्वलनकषाय और पुरुष वेद इन पांच प्रकृतियों के बन्धका वादर कषाय कारण है, क्योंकि, सूक्ष्मकषाय गुणस्थान में इनका बन्ध नहीं पाया जाता है। पांच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनवरणीय, यशःकीर्ति उच्चगोत्र, और पांच अंतराय इन सोलह प्रकृतियों का सामान्य कषायोदय कारण है, क्योंकि कषायों के अभाव में इन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं पाया जाता है। साता वेदनीय के बन्धका योग

ही कारण है, क्योंकि मिथ्यात्व असंयम और कषाय इन का अभाव होने पर भी एक मात्र योग के साथ ही इस प्रकृतिका बन्ध पाया जाता है .और योगके अभाव में इस प्रकृतिका बन्ध नहीं पाया जाता है। (ध. ७-१२)

शंका--आत्मा में बन्ध समय समय में पडता है। छद्मस्थ जीवेका ज्ञानोपयोग असंख्यात समय में होता है, तब हमने जो बुद्धि पूर्वक कषाय किया उसमें तो असंख्यात समय चला गया, तब उस बुद्धि पूर्वक की हुई कषाय का बन्ध कौन समय में पडेगा ?

समाधान---बुद्धिपूर्वक किये गये अपराधका बन्ध समय में नहीं पडता है, परन्तु समय समयमें जो अबुद्धिपूर्वक बन्ध पड़ता है, उस बन्ध में बुद्धिपूर्वक रागके कारण से अपकर्षण, उत्कर्षण, और संक्रमण होता रहता है। और यही संसार की जड़ है। जिसको शास्त्रीय भाषामें भाव उदीरणा कहते हैं। भाव उदीरणा से बचने में ही पुरुषार्थ करना पडता है और इस पुरुषार्थ के अभाव में अनंत काल निकाला। उदयके साथ पुरुषार्थका तो दो घडी मात्रका काल है। उदयको जीतना कठिन नहीं है, परन्तु बुद्धिपूर्वक अपराध से (उदीरणासे) बचना बड़ी कठिन है।

शंका---चक्षु द्वारा जब मैं प्रतिमाजीका दर्शन करता हूँ

उस समय दर्शन करने में मुझको कोई बाधा नहीं है। उसी समय में मतिज्ञानवरण कर्मका भी उदय है, तब उस उदयने मुझको क्या फल दिया ? क्योंकि कर्म का फलतो नियमसे बाधा डालता है, और मुझको देखने में बाधा नहीं है ? तो कर्म ने क्या फल दिया ?

समाधान—जितने अंश में कर्मोंका क्षयोपशम है उतने अंश में संपूर्णआत्मा में देखने की शक्ति प्राप्त हुई है। तो भी आत्मा संपूर्ण प्रदेशोंसे नहीं देख सकता है, इसका यह कारण है कि वर्तमान कर्मके उदयने सर्व प्रदेशों से देखनेको रोक दिया और मात्र चक्षु इन्द्रिय द्वारा देखने दिया यही कर्म के उदयका फल है। यदि कर्मका उदय नहीं होता तो आप संपूर्ण प्रदेशोंसे देखते।

शंका—निकांचित और निधत्ति बन्ध किसको कहते हैं अर्थात् कौनसे बन्ध का नाम निकांचित और निधत्ति बन्ध है ?

समाधान—जिस समय आत्मा में आयु का बन्ध पडता है, उसी समय में जो गति एवं गोत्रका बन्ध पडता है, उस गति और गोत्रका नाम निकांचित एवं निधत्ति बन्ध है। जो गति और गोत्रका बन्ध पडता है उसी गति में और उसी गोत्रमें आत्मा को नियम से जाना ही पडेगा। इसको पलटने की आत्मा में भी शक्ति नहीं है। इसीका

नाम निकांचित है।

इति भेद ज्ञान शास्त्र मध्ये द्रव्य कर्म अधिकार संपूर्ण हुआ।

पर्याप्ति-प्राण अधिकार

प्रश्न—पर्याप्ति किसको कहते हैं और वह कितनी होती हैं?

उत्तर—पर्याप्ति छह होती हैं। १ आहार पर्याप्ति २ शरीरपर्याप्ति, ३ इन्द्रिय पर्याप्ति, ४ आनापान (उच्छ्वास) पर्याप्ति, ५ भाषापर्याप्ति, ६ मनःपर्याप्ति।

जीव में आहार, शरीर, इन्द्रियां, आनापान, भाषा, मनःरूप शक्तियों की पूर्णता के कारणको पर्याप्ति कहते हैं, और अपूर्णता को अपर्याप्ति कहते हैं।

एकेन्द्रियके चार पर्याप्ति होती है। दोइन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रियके पांच पर्याप्ति होती है। और संज्ञी पंचेन्द्रियकी छह पर्याप्ति होती हैं।

प्राण का स्वरूप—

प्रश्न–प्राण कितने होते हैं?

उत्तर–प्राण चार प्रकारका है। १ बलप्राण, २ इन्द्रिय-प्राण, ३ आयुप्राण, ४ स्वासोच्छ्वासप्राण। बलप्राण तीन प्रकारका होता है–१ कायबल, २ वचनबल, ३ मनःबल। इन्द्रियां पांच प्रकारकी होती हैं–१ स्पर्शेन्द्रिय, २ रसेंद्रिय,

३ घ्राणेन्द्रिय, ४ चक्षुरिन्द्रिय, ५ श्रोत्रेंद्रिय। इसप्रकार भेद अपेक्षासे प्राण १० दश प्रकार होता है।

इन्द्रिय, बल, आयु और स्वासोच्छ्वासप्राण इन चारोंही प्राणोंमें जो चैतन्यरूप परिणति है वह तो जीवकी ही अवस्था है, जिसको भावप्राण कहते है, और इनकी ही जो पुद्गलस्वरूप परिणति है वह पुद्गलकी ही अवस्था है उसे द्रव्यप्राण कहते हैं। समवाय संबंधसे आत्मा चैतन्य प्राणसे ही जीता है, और संयोगसंबंधसे संसारी जीव इन्हीं दशों प्राणों से जीता है। ये दोनों जाति के प्राण संसारी जीवके सदा अखंडित संतान कर प्रवर्तते हैं, इनही प्राणोंकर संसारमें जीना कहलाता है, और मोक्षावस्था में केवल शुद्ध चैतन्यादि गुणरूप भाव प्राणों से जीता है।

संयोगसम्बन्धसे एकेन्द्रिय जीव के चार प्राण होते हैं। १ कायप्राण, २ स्पर्शनइन्द्रियप्राण, ३ आयुप्राण, ४ स्वासोछ्वासप्राण। दोन्द्रियजीव के छह प्राण होते हैं। १ रसनेन्द्रियप्राण तथा २ वचनप्राण ये दो प्राण विशेष हैं। त्रीन्द्रियजीवके सात प्राण होते हैं। घ्राणेन्द्रियप्राण विशेष है। चतुरिन्द्रिय जीव के आठ प्राण हैं। चक्षुरिन्द्रियप्राण विशेष है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवके नौ प्राण हैं। १ श्रोत्रेन्द्रिय प्राण विशेष है। संज्ञी पचेन्द्रिय जीवके

दश प्राण हैं। १ मनः प्राण विशेष है। कहा भी है कि-

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वे।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदयमाउ उस्सासो॥

प्रश्न—पर्याप्ति और प्राणमें क्या भेद है?

उत्तर—दोनों में महान भेद है। आहार, शरीर इन्द्रिय, आनापान, भाषा, और मनःरूप शक्तियों की पूर्ण-ताके कारण को पर्याप्ति कहते हैं। और जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञाको प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं। यही उन दोनोंमें भेद है। वे प्राण पांच इन्द्रिय, मनोवल, वचनवल, कायवल, आनापान और आयुके भेदसे दश प्रकारका का है।

शंका—पर्याप्ति और प्राणके नाम में अर्थात् कहने मात्र में विवाद है, वस्तु में कोई विवाद नहीं। इसलिये दोनों का तात्पर्य एक ही मानना चाहिये।

समाधान—नहीं, क्योंकि, कार्य और कारणके भेद से उन दोनों में भेद पाया जाता है, तथा पर्याप्तिमें आयुके अभाव नहीं होने से और मनोबल, वचनबल और, उच्छ्-वास इन प्राणोंके अपर्याप्त अवस्था में नहीं पाया जानेसे पर्याप्त और प्राणमें भेद समझना चाहिये।

शंका—वे पर्याप्तियां भी अपर्याप्ति कालमें नहीं पाई जाती हैं, इसलिये अपर्याप्त कालमें उनका सद्भाव नहीं

रहेगा ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि अपर्याप्तकाल में अपर्याप्त रूप से उनका सद्भाव पाया जाता है ।

शंका—अपर्याप्तरूप क्या अर्थ है ?

समाधान—पर्याप्तियों की अपूर्णता को अपर्याप्ति कहते हैं। इसलिये पर्याप्ति अपर्याप्ति और प्राण इनमें भेद सिद्ध हो जाता है। अथवा इन्द्रियादि में विद्यमान जीवनके कारण पने की अपेक्षा न करके इन्द्रियादिकरूप शक्ति की पूर्णता मात्र को पर्याप्ति कहते हैं और जीवनके कारण हैं उन्हें प्राण कहते हैं। इस प्रकार दोनों में भेद समझना चाहिये। (ध. १–२५६)

कोई मूर्ख अज्ञानी जीव ऐसा प्रश्न करे कि जैन लोग अर्थात् विवेकी लोग बहुतसे एकेन्द्रिय जीवों का घात कर अपना पोषण करते हैं, जब हमने एक पंचेन्द्रिय जीव को घातकर अपना पोषण किया इसमें हमने तो एक जीव की घात की, जब कि उन्हें बहुतसे जीवों की घात की ? इसका समाधान यह है कि संसार में चार प्राणों से कमती प्राण वाले जीव होते नहीं, वही चार प्राण एकेन्द्रिय जीव के होता है। चार प्राणसे एक २ प्राणकी वृद्धि होना महान पुण्यका फल है। उन्होंने तो चार प्राणके धारी एकेन्द्रिय जीव की घात की, तब तुमने महान् पुण्यशाली पंचेन्द्रिय

दश प्राणके धारी जीवकी घात की, इससे तुम महापापी हो।

प्रश्न—पर्याप्ति पूर्ण होने से बाह्य पदार्थ का ज्ञान होता है। अर्थात् पर्याप्ति पूर्ण होनेसे तुरन्त आत्मा अपना ज्ञानोपयोग कर सकता है?

उत्तर—इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होजाने पर भी उसी समय बाह्य पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उस समय उसके उपकरण रूप पौद्गलिक द्रव्येन्द्रिय नहीं पाई जाती हैं (ध. १–२५५)

इति भेदज्ञान शास्त्र मध्ये प्राण अधिकार संपूर्ण हुआ।

गुणस्थान अधिकार

प्रश्न—गुणस्थान किसको कहते हैं?

उत्तर—आत्माका गुणों के अंश अंश में विशुद्ध होना सो गुणस्थान है। अथवा जिन कारणों से आत्मा अनादिकालसे बन्धन में रहा है उन कारणों की अथवा द्रव्य पौद्गलिक कर्मोंका अभाव होना उसीका नाम गुणस्थान है। गुणस्थान चौदह हैं। इनमें एक से चार गुणस्थान आत्मा के श्रद्धा नामके गुणकी अवस्था से होते हैं। पांच से दश गुणस्थान आत्माके चारित्र नामक गुणकी विकारी अवस्थासे होते हैं। ग्यारह बारह और तेरहवां गुणस्थान आत्माके योग नामक गुणकी विकारी अवस्थासे होता है। चौदवा गुणस्थान क्रियावती शक्ति के विकार से है। गुण

स्थानों के नाम इस प्रकार हैं। १ मिथ्यात्व गुणस्थान, २ सासादनगुणस्थान, ३ मिश्रगुणस्थान, ४ अव्रत सम्यग्दृष्टि, ५ संयतासंयत, ६ प्रमत्तसंयत, ७ अप्रमत्तसंयत, ८ अपूर्वकरण गुणस्थान, ६ अनिवृतिकरण गुणस्थान, १० सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान, ११ उपशान्तमोह गुणस्थान, १२ क्षीणमोह गुणस्थान, १३ सयोगकेवली गुणस्थान, १४ अयोगकेवली गुणस्थान।

मिथ्यात्व गुणस्थान—

यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व सेवन कर रहा है। इसके सेवन करने में निम्नलिखित प्रधान भेद हैं।

एकान्तमिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, वैनियिक मिथ्यात्व और संशयक मिथ्यात्वके भेदसे मिथ्यात्व पांच प्रकार का है। (ध. ८–२०)

प्रश्न—एकान्त मिथ्यात्व किसको कहते हैं?

उत्तर—एकान्त मिथ्यात्वमें सत् ही है, असत् ही है, एक ही है, अनेक ही है, सावयव ही है, निरवयव ही है, नित्य ही है, अनित्यही है, इत्यादिक एकान्त अभिनिवेश को एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं।

प्रश्न—अज्ञान मिथ्यात्व किसको कहते हैं?

उत्तर—अज्ञान मिथ्यात्व में नित्यानित्य विकल्पोंमें विचार करने पर जीवाजीवादि पदार्थ नहीं हैं, अत-

एव सब अज्ञान ही है, ज्ञान नहीं है, ऐसे अभिनिवेशको अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं।

प्रश्न—विपरीत मिथ्यात्व किसको कहते हैं ?

उत्तर—विपरीत मिथ्यात्व में हिंसा, अलीकवचन. चौर्य मैथुन, परिग्रह, राग, द्वेष, मोह, अज्ञान इनसे ही मुक्ति होती है ऐसा अभिनिवेश विपरीत मिथ्यात्व कहलाता है।

प्रश्न—वैनियिक मिथ्यात्व किसको कहते हैं ?

उत्तर—वैनियिक मिथ्यात्व में लौकिक एवं पारलौकिक सुख सभी विनयसे ही प्राप्त होते है, न कि ज्ञान, दर्शन, तप और उपवासजनित क्लेशों से ऐसे अभिनिवेश का नाम वैनियिक मिथ्यात्व है।

प्रश्न—संशय मिथ्यात्व किसको कहते हैं ?

उत्तर—संशय मिथ्यात्व में सर्वत्र संदेह ही है, निश्चय नहीं है, ऐसे अभिनिवेशको संशय मिथ्यात्व कहते हैं। इस प्रकार अनादि काल से जीव मिथ्यात्व का सेवन करता है। (ध. ८. २०)

एक्केक्कं तिण्णि जणा दो दो यण इच्छदे तिवग्गम्मि।
एक्को तिण्णि णइच्छइ सत्त वि पावेति मिच्छतं॥

अर्थ—तीन जने त्रिवर्ग अर्थात् पुन्य, अर्थ और काम में एक एकको इच्छा करते हैं, अथवा कोई पुण्यको, कोई कोई अर्थको, कोई कामको ही चाहता है। दूसरे तीन जने

उनमें दो दो की इच्छा करते हैं, अर्थात् कोई पुण्य और अर्थ को, कोई पुण्य और कामको, तथा कोई अर्थ और कामको ही चाहता है। कोई एक तीनोंकी इच्छा नहीं करता अर्थात् तीनों में से एकको भी नहीं चाहता है। (ध.६.२०८

अनादिकाल से यह जीव पुण्य भावमें ही मोक्ष मान रहा है, पुण्य भाव जो बंधन का ही कारण है, उस भावसे मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? जैसे कोई कांदा (प्याज) खाता खाता अमृत की डकार चाहता है वह कैसे मिल सकती है? नहीं मिल सकती है। उसी तरह भक्ति भाव पुण्य भाव है; ऐसे भक्ति भाव से मोक्ष की कल्पना करना मिथ्यात्व ही है।

प्रश्न—पुण्य भावको परंपरा मोक्षका कारण तो माना है?

उत्तर—पुण्य भावको परंपरा मोक्ष का कारण माना है, इसको आप परमार्थ अर्थ न समझें।

शंका—इसका परमार्थ अर्थ क्या है?

समाधान—जैसे पाप भाव छोडते छोडते पुण्य भाव होता है। परन्तु पाप भाव करते करते पुण्य भाव होता नहीं। इसी प्रकार पुण्य भाव छोडते छोडते धर्म भाव होता है, परन्तु पुण्य भाव करते करते धर्म भाव होता नहीं, ऐसा परंपरा का अर्थ करना चाहिये। कारण दो

प्रकारका होता है। १ सद्भाव कारण, २ अभाव कारण। जैसे ज्वर का सद्भाव निरोगताका कारण नहीं है, परन्तु ज्वर का अभाव वही निरोगता का कारण है। इसीप्रकार पुण्यभावरूप ज्वर निरोगतारूप मोक्षका कारण नहीं है, परन्तु पुण्य भाव रूप ज्वर का अभाव मोक्षका कारण है।

शंका——तब क्या पुण्य भाव करना छोड दें ?

समाधान——नहीं, जैसे पाप भावतो बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ से छोडा जाता है वैसे पुण्य भाव बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ से नहीं छोडा जाता। वह तो जैसे जैसे वीतराग भाव बढ़ता है, ऐसे ऐसे आप ही सहज छूट जाता है। अष्ट द्रव्य द्वारा देवकी पूजा करना, उपवासादि बाह्यतप करना इत्यादि पुण्य भाव है वह देखिये कैसे सहज छूट जाते हैं।

जीवका जब अष्टम प्रतिमारूप भाव होता है तब आरंभका भाव छूट जाने से पात्रादि जीवोंको दान देनेका भाव सहज होता ही नहीं है। जब नवमी परिग्रह त्याग प्रतिमारूप भाव होता है तब दानादि एवं अष्ट द्रव्य द्वारा अरंहत भक्ति के भावका अभाव सहज हो जाता है। जब जीवके सातवां गुणस्थानरूप भाव होता है तब सहज बाह्य और अभ्यंतर तप के विकल्प का अभाव हो जाता है। इसी प्रकार पुण्य भावका अभाव होता जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि पुण्य भावका अभाव मोक्षमार्ग में कारण

है परन्तु पुण्य भावका सद्भाव तो नियमसे मोक्षमार्गका घात करनेवाला है। इसीलिये तो पुण्य भावको आत्म शान्तिकी अपेक्षा व्यभिचारी भाव कहा है। इससे सिद्ध हुआ कि जो जीव पुण्य भाव में धर्मबुद्धि करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

पौद्गलिक द्रव्य कर्मों के फलसे मिली हुई वस्तु जैसे शरीर, पुत्र, स्त्री, माता, पिता, लक्ष्मी आदि मेरी है वह मान्यता मिथ्यात्वकी है। क्योंकि जिस शरीर को आप अपना मानते हो, जिसकी दिनरात वैयावृत्ति करते हो वह आपकी एक भी बात नहीं मानता। वह तो आप की इच्छा हो या न हो नियमसे कालके अनुकूल अपनी अवस्था धारण करता है। जैसे काले बालों का सफेद हो जाना, दांत टूट जाना, शरीर में कुडचली (झुर्रियाँ). पड़ जाना, जराकी अवस्था आजाना, यहतो होता ही रहता है, तो भी मूढ जीव समझता ही नहीं है कि यह मेरे आधीन नहीं है। और इसकी अवस्था में फेर फार देख कर दुखी होता है। यह मिथ्यात्वका ही भाव है।

संसारमें तीन प्रकार के प्रधान रोग हैं। १ शारीरिक रोग, २ क्षुधा रोग, ३ काम रोग।

शारीरिक रोगमें जीव औषधि खाता है परन्तु तब तो इस भाव से औषधि खाता है कि रोग कब मिट जावे।

औषधि खानेको चाहता नहीं है। तब तो यह भी विचार नहीं करता है कि यह औषधि कटुक है परन्तु रोग नाश की भावना के कारण कटुक औषधि खाने में ग्लानि नहीं करता है। क्षुधारोगकी औषधि अहार लेना है, वहां विपरीत भाव है। यह भोजन अच्छा नहीं है, यह अच्छा है। ऐसा मुझको बहुत पसंद है, ऐसा ही हर रोज मिले इस भावना से अहारादिकका सेवन करता है परन्तु। वहां क्षुधा रोग मिटाने का यदि भाव होता तो जो सामग्री भोजन में मिली उससे संतोष कर क्षुधा रोग मिटाने की चेष्टा करता। परन्तु बढिया सामग्रीकी चाहना करता है। इसका यह ही अर्थ हुआ कि मुझको क्षुधारोग हर रोज हो, और ऐसी उत्तम २ सामग्री हर रोज मिले, यही भावना मिथ्यात्वकी है। इसी प्रकार काम का भी रोग है इसको मिटाने के लिए स्त्री आदिका सेवन करता है परन्तु इसको औषधिकी रूपमें सेवन नहीं करता है, परन्तु भोगमें बडा ही आनन्द मानता है। यह सब क्या है ? यही तो मिथ्यात्व है ? रोगमें आनन्द मूर्ख के सिवाय और कौन मान सकता है। परन्तु ऐसा भाव नहीं है कि यह रोग कब मिट जावे और औषधिरूप स्त्री का सेवन कब छूट जावे इस भावना के न होने का कारण मात्र मिथ्यात्व भाव ही है।

पौद्‌गलिक द्रव्य कर्मके फलसे मिली हुई देव, मनुष्य

तिर्यञ्च नारकी रूप संयोग जनित अवस्था को यह आत्मा अज्ञानके कारण अपनी अवस्था मान रहा है । यही मिथ्यात्व भाव है । मैं बालक हूँ, मैं स्त्री हूँ. मैं पुरुष हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं देवाङ्गना हूँ, मैं हाथी, घोड़ा, बैल, कुत्ता, सिंह, कबूतर, मयूर, सांप, मगरमच्छ आदि जो जो पौद्गलिक संयोगी अवस्था मिली उसी को ही 'यह मैं हूँ,' ऐसा मानकर दुःखी हो रहा है। अपने स्वरूपका अपने को भान नहीं है। इसी कारण शराबी पागल मनुष्य की तरह बोलता है कि मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं तंदुरुस्त हूँ, इत्यादि मान दुःखी हो रहा है, यही सब मिथ्यात्व भाव है। इसी का नाम पर्याय मूढ जीव है। जो जो कर्म जनित अवस्था होती हैं, उसी को अपनी अवस्था मानता है । पुण्य के उदय से जैन कुल में उत्पन्न हुवा, सुगुरुओं की सेवा भक्ति करने का अवकाश भी मिला, देव दर्शन करने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ; परन्तु एक समय मात्र परमार्थ दर्शन किया नहीं। जैसे एक गड़रिये को जंगल में एक सिंह का दो दिन का बच्चा मिल गया। गड़रिये ने उस सिंह के बच्चे को अपनी बकरियों के टोले में रख दिया। सिंह का बच्चा बकरियों के टोले में रह कर अपने को भी बकरी मान कर रहने लगा ! उसको तो बकरियों का चेहरा

दिखता है, परन्तु अपने चेहेरे का भान नहीं है। बकरियों के साथ रह कर वह भी अपने को बकरी मानने लगा। बकरी का दूध पीता है और आनंद मान रहा है। एक दिन वही सिंह का बच्चा नदी में जल पीने को गया। नदी का जल शान्त बह रहा था। उसमें एक भी कल्लोल उठती नहीं थी। ऐसे शान्त बहते पानी में जल पीते पीते सिंह के बच्चे ने जलकी स्वच्छता में अपना चेहरा देखा। तब वह सोचने लगा कि मैं बकरी की जात का नहीं हूँ। परन्तु मैं किस जाति का हूं—यह उस को ज्ञान नहीं है। एक दिन जंगल का सिंह शिकारके निमित्त से उन बकरियों के टोले में आगया। उसने जैसे ही सिंह नाद किया कि सब बकरियां भागने लगीं। इसको देखकर सिह का बच्चा भी भागने लगा। भागते २ विचार करता है कि सब क्यों भागते हैं? तब उसने मुख मोड़कर देखा तो सामने एक सिंह को देखा। देखते ही वह सोचने लगा की यह तो मेरी जाति का है। मै क्यों भागूं? तब उसने भी सिंह नाद किया। यह नाद सुनकर जंगल का सिंह विचारने लगा कि यह तो मेरी जातिका है, इसलियं मैं अब शिकार कर नहीं सकता हूं, ऐसा सोचकर वापिस लौट गया। सिंह के बच्चे को ज्ञान हो गया कि मैं कौन हूं। यह सोचकर बकरियों का संग छोड़कर एकाकी जंगल में

रहने लगा। इसी प्रकार यह जीव अनादि से पौद्गलिक शरीर के साथ रहता है। परन्तु उसको मालूम नहीं है कि मै कौन हूं। उसने तो शरीर कोही अपना मान रखा है। शरीर की अवस्था बदलने से अपनी अवस्था बदली हुई मानता है। शरीर के नाशसे अपना नाश मानता है, शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति मानता है। देव दर्शन करने का फल यह था कि देवकी स्वच्छ मूर्ति में जो अनंत चतुष्टय रूप गुणका आरोप किया है उसको देखकर विचार करे कि, मैं मनुष्य नहीं हूं परंतु मैं तो सिद्ध की जाति का हूं, अर्थात् मैं पुद्गलकी अवस्था नहीं हूं, परंतु मैं तो चैतन्य जातिका हूं। यदि एक ही दफे जीवको विश्वास हो जावे, प्रतीति हो जावे, तो चार गतिरूप जीका मरण से बच कर अपने पदकी प्राप्ति कर सकता है। परंतु इस तरफ दृष्टि नहीं है। इसी कारण कर्म जनित जो जो अवस्था मिलती है उसी को अपनी मानता है, यह ही मिथ्यात्व है।

मैं पर जीवको मार सकता हूँ, मैं पर जीव को बचा सकता हूँ, मैं पर जीवको सुखी दुखी कर सकता हूँ एवं पर जीव मुझको मार सकता है, पर जीव मुझको बचा सकता है और पर जीव मुझको सुखी दुखी कर सकता है— यह जो विकल्प होता है वह सब मिथ्यात्वभाव है।

क्योंकि जीव अपने आयुकर्मके नाशसे ही मरता है, सब जीव अपनी २ आयु के उदय से ही जीवित रहते हैं। कोई जीव कोई जीव को आयु देसकता नहीं, एवं कोई जीव की आयु लूट सकता नहीं। आयु पूरी हो जावे तो भगवंत तीर्थङ्कर में भी ताकत नहीं है कि बचा सके। यदि जीवों की आयु बाकी है तो इन्द्र की भी ताकत नहीं कि वह किसी जीव को मार सके। इसी प्रकार सब जीवों को सुख और दुख का बाह्य संयोग अपने २ साता असाता कर्म के उदय से ही मिलता है। पापका उदय आने से चाहे जितनी संभाल करे तो भी बाह्य सामग्री का नियमसे वियोग होगा और पुण्यका उदय होगा तब ही बाह्य सामग्री मिल सकती है इसके विना चाहे कितनी ही महनत करे, एक कोडी भी मिलेगी नहीं।

शंका—गरीब भिक्षुजनोंको आहार आदि देकर हम सुखी तो कर सकते हैं, आप निषेध कैसे करते हो?

समाधान—आपके पास तीन भिक्षुक आये और कहने लगे कि बाबूजी भूखे हैं कृपाकर कुछ दीजिये। तब यदि आपमें करुणा बुद्धि न हुई तो आप जवाब तुरन्त दे देते हो कि माफ करो, माफ करो। बाद में एक भिक्षुक आया उसने भी कहा कि महाराज दुखी हूँ कृपा कर कुछ दीजिये। उस को देखकर आपके हृदय में करुणा हुई कि यह

दुखी है मैं कुछ देऊं। तब वही करुणाभाव जो आप में हुआ है उसी से आप दुखी हो, उस दुखके निवारण के लिए आपकी इच्छा दो पैसे उस भिक्षुक को देने की हुई जब जेब में हाथ डाला दब दो पैसे नहीं हैं, परन्तु दु-अन्नी थी। आपने दो आने उस को देदिये। अब सोचिये कि उस भिक्षुक को जो दो आना मिला वह आपने दिया कि उसके पुण्यके उदय से ही मिला है? यदि आपने ही उस को दिया तो प्रथम तीन भिक्षुकों को क्यों नहीं दिया?

शंका—हमें उनको देने की इच्छा नहीं हुई।

समाधान—आप अपनी इच्छाके करने वाले जरूर हो परन्तु दूसरे जीवों को आप सामग्री नहीं देते हो। दूसरे जीवों को सामग्री तो अपने २ पुण्यके उदयसे ही मिलती है।

जैसे सीताजी को उपसर्ग आया तब इन्द्रने सहायता कर अग्निका जल बना दिया और गजकुमार मुनिके सिर पर अग्नि जला दी तो भी इन्द्र वहां क्यों नहीं आया? सीताजी तो स्वर्ग जाने वाली थी और गजकुमार मुनि तो मोक्ष पधारे, वहाँ इन्द्र क्यों नहीं आया? इसका इतना ही जवाब है कि—सीताजी का पुण्य उदय था जिससे इन्द्रने आकर सहायता की। गजकुमार मुनिके तब पुण्यका उदय

नहीं था जिससे इन्द्रने सहायता न दी।

श्री आदिनाथ भगवान् तीर्थङ्कर जब माताके उदरमें आनेवाले थे इससे छह महिने पहले से रत्नवृष्टि इन्द्रने की और जब आदिनाथ भगवान मुनि होगये और छह महीना तक आहार न मिला तब इन्द्रने मदद क्यों नहीं दी, विचार करना चाहिये ? गर्भ के आनेके पहिले आदिनाथ भगवान के पुण्य का उदय था जिससे इन्द्रने सोना रत्नों, की वृष्टि की, जब मुनि अवस्था में आहार के लिए निकले फिर भी छह मास तक आहार न मिला। इससे सिद्ध होता है कि बाह्य सामग्री पुण्यके उदय में ही मिलती है। जीव ऐसा अभिमान करता है कि हमने सहायता की यह उसका मिथ्यात्व भाव है। इसी कारण से जीव दुखी हो रहा है।

शंका—गोली आदि से जीव का मरण देखा जाता है, फिर कोई हमें मार नहीं सकता, यह कहना उचित नहीं है ?

समाधान—आपने मारने की इच्छा की और दूसरे मनुष्य पर गोली भी छोड दी, यदि उस जीवका आयु बाकी है तो नियमसे गोलीसे वह बच ही जावेगा। आप मार नहीं सकते। मरण तो तब ही होगा कि जब उसकी आयु पूरी होगी। आयु पूरी हुए बिना कभी मर ही नहीं सकता है।

शंका—डाक्टर लोग ऑप्रेशन आदि क्रिया कर जीव को बचाते हैं फिर आप कैसे कहते हो कि जीव किसी को बचा नहीं सकता ?

समाधान—डाक्टर का अभिप्राय रक्षा का है, यह सोचकर वह ऑप्रेशन तो करते हैं, परन्तु यदि उस जीव की आयु पूर्ण होगई तो ऑप्रेशन करते भी मरण हो जावेगा। डाक्टर क्या करे ? यदि डाक्टर में बचाने की शक्ति है तो वे स्वयं क्यों मरते हैं ? इससे सिद्ध होता है कि सब जीव अपनी अपनी आयु से जीते हैं और अपनी२ आयु पूर्ण होने से ही मरण को प्राप्त होते हैं।

शंका—शास्त्रों में अकाल मृत्यु होने का विधान तो देखने में आता है। वह कैसे होती होगी ?

समाधान—शास्त्रों में अकाल मृत्यु होती है ऐसा जो लिखा है उसका आपने परमार्थ अर्थ नहीं समझा।

शंका—उस का परमार्थ अर्थ क्या है ?

समाधान—मरण दो प्रकारसे होता है। १ उदय से २ उदीरणासे। जैसे:—

१—एक मनुष्य जा रहा है और अकस्मात् मोटर से दब जाने से उस का मरण हो गया। इसमें तो उसका उदय ही ऐसा था और इस निमित्तसे ही मरण होनेवाला था। ऐसे मरण का नाम अकाल मृत्यु नहीं है, यह तो आयु

पूर्ण होने से ही मरण हुवा है। जहां २ अपने जीवित रहने की इच्छा हो और मरण हो जावे वहां २ उदय से ही मरण हुआ है। ऐसा जानना चाहिये।

२-एक मनुष्य स्वयं अपघात करे। स्वयं जहर खा जावे। गले में फांसी लगावे। स्वयं कुवेमें कूदकर मरण करे, ट्रेन की पटड़ी पर स्वयं सो कर मरण करे, ऐसे मरणका नाम अकाल मृत्यु है। क्योंकि अपने तीव्र क्रोधादि कषायरूप भावसेही आयुके निषेकोंका नाश किया जाता है। दूसरा आदमी कषाय करे और दूसरे आदमीकी आयुके निषेकोंका नाश कभी हो नहीं सकता। जैसे एक जीवके पासमें मोहनीय कर्म सत्तर कोड़ाकोड़ी स्थिति वाले हैं। वह अपने परिणाम निर्मलकर अन्तर्मुहूर्त्तमें उस कर्मकी स्थिति अंतः क्रोड़ाक्रोडीकी कर सकता है। परन्तु दूसरा जीव भाव करे और कर्मकी स्थिति घट जावे ऐसा संभव नहीं है। हरएक जीवके अपने २ कर्मों के साथ अपने २ भावका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जिस जीवका ऐसा भाव रहता है कि मैं मरही जाऊँ ऐसा परिणामों द्वारा अपघात किया जाता है, उसीका नाम अकाल मृत्यु है। और जिन जीवों को मैं बच जाऊँ, मैं बच जाऊं, ऐसे भावोंके साथ मरण होता है, ऐसे मरणका नाम अकाल मृत्यु नहीं है।

अनादिकालसे यह जीव परपदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि

करता है यही अनंत संसारका कारण मिथ्यात्व भाव है। संसारमें कोई पदार्थ अच्छा बुरा नहीं है, परन्तु मोहके वश होकर जीव अच्छे बुरेकी कल्पना करता है। धूपके दिनमें जिस मलमलको अच्छी मानते हो उसी मलमलको जाड़ेके दिनमें खराब मानते हो। जिस विष्टा को आप खराब मानते हो उसी विष्टाको शूकरादि अच्छा मानते हैं। जिस गाली को आप खराब मानते हैं उस गाली को अपनी ससुराल के घर में अच्छी मानते हैं। जिस देवकी मूर्तिको आप अच्छी मानते हो उसी देवकी मूर्तिका और लोग खण्डन करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि संसारमें कोई पदार्थ अच्छे बुरे नहीं हैं, परन्तु मोह-मात्रकी कल्पनासे जीव अच्छा बुरा मानकर सुखी दुःखी होता है यही जीवका मिथ्यात्व भाव है।

देव, गुरु, शास्त्र कल्याण कर सकता है। अच्छे देव मिलजावे तो मेरा कल्याण होजावे। यह सभी मिथ्यात्व भाव है। अच्छे गुरु मिलजावे तो कल्याण होजावे। यदि कोई गुरु धागा, डोरा बना देवे तो कल्याण होजावे, इत्यादि सब विकल्प मिथ्यात्व के ही हैं। महावीर धन देता है, पुत्र देता है, मुकदमा जिता देता है इस मान्यतासे महावीरजी जाना यह सब मिथ्यात्व भाव है। शिखरजी परसे अनन्त जीव मुक्ति में पधारे हैं। इस

कारण शिखरजी का कंकर कंकर पूज्य है ऐसी भावना मिथ्यात्व की है। शिखरजी पूज्य नहीं है, वह तो पृथ्वी-कायिक एकेन्द्रिय जीव है। वह अपने से पूज्य कैसे हो सकता है? परन्तु वहां से जो मुनि महाराज मोक्ष में पधारे हैं उन मुनि महाराज के गुणों की पूजा की जाती है, जिसका आरोप शिखरजी में मात्र उपचार से किया जाता है। जैसे समवशरण में श्री तीर्थङ्कर देव विराजमान हैं, इसी कारण समवसरणकी महिमा है, परन्तु वहां तीर्थ-ङ्कर की महिमा न मानकर मात्र समवशरण की महिमा मानना मिथ्यात्व भाव है। तीर्थङ्कर के गुणों की जय ध्यान में न आवे और मात्र समवशरण की जय बोलना वह तो मिथ्यात्व भाव है। हलवे की कढ़ाई की महिमा नहीं है महिमा तो कढ़ाई में जो हलवा है उसकी है। परन्तु कढ़ाई की महिमा आती है वही मिथ्मात्व है। देव गुरु शास्त्र हमारा कल्याण कभी कर नहीं सकते है। देव का तो आदेश है कि मेरी सेवा करना छोडकर, जो मैंने मार्ग दिखाया है उसपर चल! परन्तु हम जो स्वयं उस मोक्षमार्ग पर चले नहीं तो देवमें भी शक्ति नहीं है कि पर जीवोंका कल्याण कर सके, ऐसी धारणा न होय तब तक जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

प्रश्न—उपशम सम्यग्दृष्टि जीव कबसे कहा जाताहै?

उत्तर—अन्तःकरण समाप्त होने के समयसे लेकर वह जीव 'औपशमिक' कहलाता है।

शंका—यदि ऐसा है, अर्थात् अन्तःकरण समाप्त होनेके पश्चात् वह जीव औपशमिक कहलाता है तो इससे पूर्व अर्थात् अधःकरणादि परिणामों के प्रारम्भ होने से लेकर अन्तःकरण होने तक उस जीव के औपशमिकपने का अभाव प्राप्त होता है ?

समाधान—अन्तःकरण समाप्त होने के पूर्व भी वह जीव औपशमिक ही था किन्तु मध्य दीपक करके शिष्यों के प्रतिबोधनार्थ "यह दर्शन मोहनीय का औपशमिक है' या इस प्रकार यति वृषभाचार्य ने (अपनी कषाय पाहुड) चूर्णी के उपशम के अधिकारमें कहा है। इसलिये यह वचन अतीत भाग के औपशमिकता का प्रतिषेध नहीं करता है।

प्रथम स्थिति से और द्वितीय स्थिति से तब तक आगाल और प्रत्यागाल होते रहते हैं, जब तककी आवली और प्रत्यावली मात्र काल शेष रहजाता है। इसके पश्चात् अर्थात् आवली प्रत्यावली मात्र काल शेष रहने के समय से लेकर मिथ्यात्व की गुण श्रेणी नहीं होती है, क्योंकि उस समय में उदयावली से बाहिर कर्म प्रदेशों का निक्षेप नहीं होता है। किन्तु आयुकर्म को छोड़कर शेष समस्त कर्मों की गुणश्रेणी होती रहती है, उस समय प्रत्यावली से

ही मिथ्यात्व कर्मकी उदीरणा होती रहती है, किन्तु प्रत्यावली के शेष रह जाने पर मिथ्यात्व कर्म की उदीरणा नहीं होती है। तब यह जीव चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि हुआ कहलाता है। (ध. ६–२३३)

प्रश्न—दर्शनमोहनीय कर्म अनिवृत्तिकरण के पहले समय में उपशान्त रहता है या नहीं ?

उत्तर—अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करने के प्रथम समय में दर्शनमोहनीय का अपूर्व स्थिति काण्डक होता है, अपूर्व अनुभाग काण्डक होता है और अपूर्व स्थिति बन्ध होता है, किन्तु गुण श्रेणी उसी प्रकार की रहती है। अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में दर्शनमोहनीय कर्म अप्रशस्तोपशामना के अर्थात् देशोपसामनाके द्वारा अनुपशान्त रहता है। शेष कर्म उपशान्त भी रहते हैं और अनुपशान्त भी रहते हैं। (ध. ६–२५४)

प्रश्न—प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टि के स्थिति बन्ध और स्थिति सत्त्व चारित्रको प्राप्त मिथ्यादृष्टिके कितना रहता है ?

उत्तर—प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टिके स्थिति बंध और स्थिति सत्त्व की अपेक्षा चारित्रको प्राप्त होनेवाला जीव ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और अंतराय

इन सात कर्मोंकी अन्तः कोड़ाकोडी प्रमाण स्थितिको स्थापित करता है। (ध. ६–२६७)

प्रश्न–अपूर्वकरणके अन्तिम समयमें वर्तमान इस उपयुक्त मिथ्यादृष्टि जीवका स्थिति सत्व, प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें स्थित मिथ्यादृष्टिके स्थिति सत्त्वसे संख्यातगुणित हीन कैसे है ?

उत्तर–नहीं क्योंकि स्थिति सत्व अपवर्तन करके संयमासंयमको प्राप्त होनेवाला संयमासंयमके अभिमुख चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि के संख्यातगुणित हीन स्थिति सत्त्वके होनेमें कोई विरोध नहीं है। अथवा वहांके, अर्थात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टिके अनिवृत्तिकरणसे होनेवाले स्थिति घातकी अपेक्षा यहाँ के, अर्थात् संयमासंयमके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके, अपूर्वकरण से होनेवाला स्थिति घात बहुत अधिक होता है। तथा, यह अपूर्वकरण, प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यदृष्टिके अपूर्वकरण के साथ समान नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयम रूप फल वाले विभिन्न परिणामों की समानता होनेका विरोध है। तथा सर्व अपूर्वकरण परिणाम सर्व अनिवृतिकरण परणामोंसे अनंत गुणे हीन होते हैं, ऐसा कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि इस बातके प्रतिपादन करने वाले सूत्र का अभाव है।

शंका–इस उपरोक्त पक्की सिद्धि कैसे होती है ?

समाधान–इस प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख चरम समयवर्त्ती मिथ्यादृष्टिके स्थिति बंध और स्थिति सत्त्व की अपेक्षा चारित्रको प्राप्त होनेवाला जीव अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थितिको स्थापित करता है, इस सूत्रसे उपर्युक्त संख्यात गुणित हीन स्थितिको स्थापित करता है इस पक्ष की सिद्धि होती है। (ध. ६–२६६)

श्री समयसार आदि शास्त्र पढ़कर बहुत जीव अपने को सिद्ध समान मानकर पुण्यरूप व्यवहारसे सर्वथा मुख मोड़ कर मात्र निरर्गल प्रवृत्ति करते हैं। ऐसे जीव कहते हैं कि "निश्चयनयसे" मैं त्रिकाल शुद्ध हूं। परन्तु त्रिकाल शुद्ध का क्या अर्थ होता है ? इसका उन्हें ज्ञान नहीं है। त्रिकाल शुद्धका अर्थ वही अपनेको सिद्ध समान अर्थात् केवलज्ञान रूप, अनंत चतुष्टयमय जानता है, परन्तु इतना भी विवेक करता नहीं है कि वर्तमानमें आप दुखी तो हो तब अनंत सुखरूप कैसे हो ?

शंका—निश्चयनयसे आत्मा त्रिकाल शुद्ध है ऐसा शास्त्रोंमें तो लिखा है, तब वहाँ त्रिकाल शुद्धका क्या अर्थ करना चाहिये ?

समाधान—त्रिकाल शुद्धका अर्थ मैं तीनोंकाल ज्ञायक स्वभावी हूँ कोई भी काल में मैं जड़ स्वभावी नहीं होता हूँ,

यही अर्थ करना चाहिये परन्तु त्रिकाल शुद्धका अर्थमैं अनंत चतुष्टयमयी हूँ, यह करनेसे महा विपरीतता हो जाती है।

जितने २ अंशमें रागादिक की निवृत्ति होगी उतने ही अंशमें शांति सुख मिलेगा इसपर दृष्टि जाती ही नहीं है जिस कारण वह जीव शास्त्रके अर्थमें निरर्गल प्रवृत्ति कर रहा है। रागद्वेप की निवृत्ति पर लक्ष है नहीं और मिथ्या बकवाद करते हैं कि चारित्रकी प्राप्ति दृष्टिका जोरसे होती है। परन्तु दृष्टिमें जोर दिया जाता ही नहीं है, इतना भी उसको ज्ञान नहीं है। दृष्टि कहो, प्रतीति कहो, विश्वास कहो, ध्येय कहो, लक्ष्यविंदु कहो ये सब एक अर्थवाची हैं। जैसी दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानसे होती है, ऐसी ही दृष्टि केवली परमात्मा एवं सिद्ध परमात्माके भी होती है। दृष्टिमें कभी फर्क होता ही नहीं, क्योंकि, लक्ष्य बिन्दु तो एक ही होता है। दृष्टि श्रद्धा गुणकी पर्याय है, जब कि चारित्र, चारित्र गुणकी पर्याय है। यथार्थमें तो एक गुण दूसरे गुणका कार्य कर ही नहीं सकता है। एक गुणमें दूसरे गुणकी नास्ति है। चारित्र गुणकी वृद्धि नियमसे रागद्वेषकी निवृत्तिसे ही होती है और यही श्रद्धा कार्यकारी है। श्रद्धा के जोरसे चारित्रकी प्राप्ति होती है यह कहना मिथ्या है, क्योंकि श्रद्धाके जोरसे चारित्र गुणकी निर्मल पर्याय प्रगट हो जावे तो सर्वार्थ सिद्धिके देव तो श्रद्धावाले हैं, वहाँ

चारित्र क्यों प्रगट नहीं होता है ? इससे सिद्ध होता है कि चारित्रकी प्राप्ति रागद्वेषकी निवृत्ति से ही होती है।

प्रश्न—मिथ्याती अनंतानुबंधी आदि सात प्रकृतियों का क्या युगपत् नाश करता है या क्रमसे ?

समाधान—नहीं! क्योंकि तीन करण करके अनिवृत्ति करणके चरम समयमें पहले अनंतानुबंधी चारका एकसाथ क्षय करता है। तत्पश्चात् फिरसे तीन करण करके, उनमेंसे अधःकरण और अपूर्वकरण इन दोनोंका उल्लंघन करके अनिवृत्तिकरणके संख्यात भाग व्यतीत होजानेपर मिथ्यात्वका क्षय करता है। इसके अनंतर अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत कर सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करता है। तत्पश्चात् अंतर्मुहूर्त्त व्यतीतकर सम्यग्प्रकृतिका क्षय करता है।

(ध. १-२१६)

प्रश्न—मिथ्यात्वकर्मका तीन भाग कब होता है ?

उत्तर—"अन्तःकरणकरके" ऐसा कहने पर कांडकघातके बिना मिथ्यातत्व कर्मके अनुभाग को घात कर और उसे सम्यकत्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के अनुभाग रूप आकार से परिणमाकर प्रथम उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होने के प्रथम समय में ही मिथ्यात्वरूप एक कर्मके तीन कर्मांश अर्थात् भेद या खण्ड उत्पन्न करता है। (ध. ६-२३४)

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि जीव क्षेत्रसे अनन्त हैं वह बुद्धिसे कैसे मापा जाता है ?

उत्तर—लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक मिथ्यादृष्टि जीव को निक्षिप्त करके एक लोक हो गया, इसी प्रकार मनसे संकल्प करना चाहिये। इस प्रकार पुनः पुनः माप करने पर मिथ्यादृष्टि जीव राशि अनन्त लोक प्रमाण होती है। इस प्रकार बुद्धि से मिथ्यादृष्टि जीव राशि मापी जाती है। इस विषय की यहां पर उपसंहार रूप गाथा कहते हैं कि:—

लोकाकास पदेसे एक्केक्के णिक्खिवेत्ति तह दिट्ठं।
एवं गणिज्जमाणे हवंति लोगा अणंता दु ॥ २३ ॥

अर्थ—लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक मिथ्यादृष्टि जीवको निक्षेप करनेपर जैसा जिनेन्द्रदेवने देखा है उसी प्रकार पूर्वोक्त लोकप्रमाण के क्रमसे गणना करते जानेपर अनन्त लोक होता है। [ध. ३–३३]

शंका—लोक किसे कहते हैं ?

समाधान—जगच्छ्रेणीके घनको लोक कहते हैं।

शंका—जगच्छ्रेणी किसे कहते हैं ?

समाधान—सात राजू प्रमाण आकाश प्रदेशोंकी लंबाईको जगच्छ्रेणी कहते हैं।

शंका—राजू किसे कहते हैं ?

समाधान—तिर्यग्लोकके मध्यम विस्तारको राजू कहते हैं। (ध. ३-३३)

प्रश्न—नौग्रैवेयक विमानवासी देवोंके सम्यक्त्व उत्पन्न होनेमें क्या कारण पड़ता है ?

उत्तर—नौग्रैवेयक विमानवासी मिथ्यादृष्टि देव दो कारणोंसे प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं। कितने ही जातिस्मरणसे और कितनेही धर्मोपदेश सुनकर।

नौग्रैवेयकोंमें महर्द्धिदर्शन नहीं है, क्योंकि यहाँ ऊपरके देवोंके आगमनका अभाव है। यहाँ जिनमहिमा दर्शन भी नहीं है, क्योंकि ग्रैवेयक विमानवासी देव नंदीश्वरादिके महोत्सव देखने नहीं जाते।

शंका—ग्रैवेयक देव अपने विमानोंमें रहते हुए ही अवधिज्ञानसे जिन महिमाओंको देखते तो है, अतएव जिन महिमाका दर्शन भी उनके सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें निमित्त होता है, ऐसा क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं। क्योंकि ग्रैवेयक विमानवासी देव वीत राग होते हैं, (अर्थात् बुद्धिपूर्वक रागादिक बहुत ही कम है) अतएव जिन महिमाके दर्शन से उन्हें विस्मय उत्पन्न नहीं होता।

शंका—ग्रैवेयक विमानवासी देवों के धर्म-श्रवण किस प्रकार संभव होता है ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि उनमें परस्पर संलाप होने से अहमिंद्रतामें विरोध नहीं आता । अतएव वह संलाप ही धर्मोपदेश रूपसे सम्यक्त्वोत्पत्तिका कारण हो जाता है ।

(ध. ६–४३६)

प्रश्न—मिथ्यादृष्टिको जघन्य व उत्कृष्ट बंध का कितना प्रत्यय है ?

उत्तर—पांच मिथ्यात्वमें से एक प्रत्यय, मिथ्यादृष्टि एक इन्द्रियसे एक कायकी जघन्य विराधना करता है इस प्रकार दो असंयम प्रत्यय, अनन्तानुबन्धी, चतुष्टय का विसंयोजन करके मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीवके आंवली मात्र काल तक अनन्तानुबन्धी चतुष्टय का उदय नहीं रहने से बारह कषायों में तीन कषाय प्रत्यय, तीन वेदों में एक, हास्य रति, अरति शोक, यह दो युगलों में से एक युगल तथा दस योगोंमें से एक योग, इस प्रकार जघन्य १० प्रकारके प्रत्यय होते हैं । पांच मिथ्यात्वमें से एक, एक इन्द्रिय से छह कायों की विराधना करता है, अतः सात असंयम प्रत्यय, सोलह कषायमें से चार कषाय प्रत्यय, तीन वेदोमें से एक वेद, हास्य रति, अरति शोक इन दो युगलों में से एक युगल, भय व जुगुप्सा और तेरह योग प्रत्ययोंमें से एक योग इस प्रकार ये सभी अठारह उत्कृष्ट प्रत्यय होते हैं । (ध. ८–२५)"

सासादन गुणस्थान

जो जीव सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व में जाता है उसके बीचके अन्तरकाल का नाम सासादन गुणस्थान है। सासादन सम्यग्दृष्टि का जघन्यकाल एक समय है और उत्कृष्टकाल छह आवली काल है। यह काल इतना सूक्ष्म है कि छद्मस्थ जीवों के ज्ञानगोचर नहीं है।

प्रश्न—संख्यात वर्षायुषवाले मनुष्य सम्यक्त्व व सासादन में मरकर सासादन गुणस्थान में आसकता है या नहीं ?

उत्तर—इसके विषय में दो मत हैं। अन्तर प्ररूपणा के सूत्र ७ में बताया है कि सासादन सम्यग्दृष्टि का जघन्य अन्तर काल पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है। इसका कारण धवलाकार ने यह बतलाया है कि सासादनसे मिथ्यात्व में आये हुए जीवके जब तक सम्यक्त्व और सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृतियों की उद्वेलन घात द्वारा सागरोपम या सागरोपम पृथक्त्व मात्र स्थिति नहीं रह जाती है तब तक वह जीव पुनः उपशम सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता, जहां से कि सासादन भाव की पुनः उत्पत्ति हो सके। और उद्वेलन घात द्वारा उक्त क्रिया के होनेमें कमसे कम पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण काल लगता ही है। प्रस्तुत प्रकरण में सूत्र

७३ गतियोगति चूलिका में प्रश्न यह है कि जो जीव देव या नरक गतिसे मनुष्यभवमें सासादन गुणस्थान सहित आया है वह सासादन गुणस्थान सहित मनुष्यगतिसे किस प्रकार निर्गमन कर सकता है ? धवलाकार ने यह इस प्रकार बतलाया है कि देवगति से सासादन गुणस्थान सहित मनुष्यगतिमें आकर व पल्योपमके असंख्यातवें भागका अन्तरकाल समाप्तकर उपशम सम्यक्त्वी हो सासादन गुणस्थानमें आकर मरण करनेवाले जीवके उक्त बात घटित हो जाती है। पर वह बनेगा केवल असंख्यात वर्षकी आयु वाले मनुष्योंमें, क्योंकि संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्यों में उक्त उद्वेलन घात के लिये आवश्यक पल्योपमका असंख्यातवां भागकाल प्राप्त ही नहीं हो सकेगा। यह व्यवस्था भूतबली आचार्य के मत के अनुसार है। किन्तु कषाय प्राभृत के चूर्णी सूत्रोंके कर्ता यतिवृषभाचार्यके मतानुसार, सासादन सम्यक्त्व सहित मनुष्यगतिमें आया हुआ जीव मिथ्यादृष्टि होकर पुनः द्वीतियोपशम सम्यक्त्वी हो उपशमश्रेणी चढ पुनः सासादन होकर मर सकता है, और इसलिये यह बात संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्योंमें भी घटित हो सकती है, किन्तु उपशम श्रेणीसे उतर कर सासादन गुणस्थानमें जाना "भूतबली आचार्य" नहीं मानते और इसलिये उनके मतसे सम्यक्त्व सहित आकर

सासादन सहित व सासादन रहित आकर सासादन सहित मनुष्यगतिसे निर्गमन करना संख्यात वर्षायुष्कोंमें संभव नहीं है (ध. ६-४४४)

शंका—दूसरे सासादन गुणस्थानमें पारिणामिकभाव क्यों और किस प्रकारसे माना गया है ?

समाधान—दूसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्वकर्मका उदय नहीं है। गुण कूटस्थ रहते ही नहीं हैं, इससे श्रद्धा गुणने पारिणामिक रूपसे मिथ्यात्वरूप परिणमन किया है इससे दूसरे गुणस्थानमें पारिणामिकभाव माना गया है।

प्रश्न—सासादन सम्यग्दृष्टि संख्यात वर्षायुष्क मनुष्य मरणकर कितनी गतिमें जाता है।

उत्तर—सासादन सम्यग्दृष्टि संख्यातवर्षायुष्क मनुष्य मरण करके तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमें जाता है। तिर्यंचोंमें जानेवाला मनुष्य एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव में जाता है, परन्तु विकलेन्द्रिय जीवोंमें नहीं जाता है। एकेन्द्रियोंमें जानेवाला मनुष्य बादर पृथ्वीकायिक, बादर जलकायिक और बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर पर्याप्तकोंमें जाता है, अपर्याप्तकोंमें नहीं जाता है।

शंका—यदि एकेन्द्रियोंमें सासादन सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होता है तो एकेन्द्रियोंमें दो गुणस्थान होने चाहिये ? यदि कहाजाय कि एकेन्द्रियोंमें दो ही गुणस्थान

होने दो, सो भी नहीं बनता क्योंकि द्रव्यानुयोगद्वारमें सासादन एकेंद्रिय गुणस्थानवर्त्ती जीवोंके द्रव्यका प्रमाण नहीं बतलाया गया है।

समाधान—एकेन्द्रियोमें उत्पन्न होनेवाले सासादन सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आयुके अंतिम समयमें सासादन परिणाम सहित होकर उससे ऊपरके समयमें मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है। इसलिये एकेन्द्रियोंमें दो गुणस्थान नहीं होते, केवल एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें जानेवाले सासादन सम्यग्दृष्टि जीव संज्ञी एवं गर्भोपक्रांतिकोंमें ही जाता है असंज्ञी और सम्मूर्च्छनोंमें नहीं जाता है। (ध. ६–४७०)

शंका—जिन जीवोंने पहले नरकायुका बंध किया है, और पीछेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ ऐसे बद्ध-आयुष्क सम्यग्दृष्टियोंकी नरक में उत्पत्ति होती है, इसलिये नरकमें असंयत सम्यग्दृष्टि भले ही पाये जावें, परन्तु सासादन गुणस्थान वालों की (मरकर) नरक में उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि सासादन गुणस्थान का नरक में उत्पत्ति के साथ विरोध है। इसलिए सासादन गुणस्थान वालोंका नरकमें सद्भाव कैसे पाया जाता है ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि जिस प्रकार नरक गति में अपर्याप्त अवस्था के साथ सासादन गुणस्थान का विरोध

है, उस प्रकार पर्याप्त अवस्था सहित नरक गति के साथ सासादन गुणस्थान का विरोध नहीं है। यदि कहो कि नरकगति में अपर्याप्त अवस्था के साथ दूसरे गुणस्थानका विरोध क्यों है ? तो उसका यह उत्तर है कि यह नारकियों का स्वभाव है और स्वभाव दूसरे के प्रश्न के योग्य नहीं होता।

शंका—यदि ऐसा है तो अन्य गतियों के अपर्याप्त कालमें भी सासादन गुणस्थानका सद्भाव मत हो, क्योंकि अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थान का विरोध है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस तरह नारकियों के अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थान का विरोध है, उस तरह शेष गतियों के अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थान का विरोध नहीं है।

(ध. १–२०५)

सासादन गुणस्थानवर्ती सप्तम पृथ्वीका नारकी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चमें देवोंके समान मारणान्तिक समुद्घात करता नहीं है।

शंका—जहांपर सासादन सम्यग्दृष्टियोंका उत्पाद नहीं है, वहांपर भी यदि सासादन सम्यग्दृष्टि देव मारणान्तिक समुद्घात को करते हैं, तो सातवीं पृथिवी के नारकियोंको सासादन गुणस्थान के साथ पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों

में मरणान्तिक समुद्घात करना चाहिये, क्योंकि सासादन गुणस्थान की अपेक्षा दोनों में कोई विशेषता नहीं है अर्थात् समान हैं ?

समाधान–यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि देव और नारकी इन दोनोंकी भिन्न जाति है। सातवीं पृथ्वीके नारकी गर्भजन्म वाले पंचेन्द्रियों में ही उपजने के स्वभाव वाले हैं, और देव पंचेन्द्रियों में और एकेन्द्रियों में उत्पन्न होने रूप स्वभाव वाले हैं, इसलिए दोनों समान जातिवाले नहीं हैं। जो जिस जाति में प्रतिपन्न है, अर्थात् स्वीकृत है, वह उसी जाति का माना जाता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा अनवस्था दोषका प्रसंग आ जायेगा। इसलिये सातवीं पृथवी के नारकी सासादन गुणस्थान के साथ देवोंके समान मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते, यह बात सिद्ध हुई। (ध. ४–१६३)

सुमेरुपर्वत के मूल भागसे नीचे तिर्यञ्च सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते हैं।

शंका—यदि सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मेरु तलमें नीचे मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते हैं, तो मेरु तलसे स्थित भवनवासी देवोंमें उनकी उत्पत्ति भी नहीं होनी चाहिये ?

समाधान–यह कोई दोष नहीं है! क्योंकि मेरु तलसे

नीचे सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंका मारणान्तिक समुद्घात नहीं होता है, यह सामान्य अर्थात् द्रव्यार्थिक नयका वचन है। किन्तु पर्यायार्थिक नयकी विवक्षासे कथन करने पर तो वे नारकियोंमें अथवा मेरुतलमें अधोभागवर्ती एकेंद्रिय जीवोंमें मारणांतिक समुद्घात नहीं करते हैं यह परमार्थ है। (ध. ४-२०४)

एकेंद्रिय जीवोंके मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

शंका—एकेंद्रिय जीवोंमें सासादन गुणस्थान भी सुननेमें आता है इसलिये उनके केवल एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है यह कैसे बन सकेगा ? (सू. नं. ३६-१)

समाधान—नहीं ! क्योंकि षट्खंडागम सूत्रमें एकेंद्रियादिकोंके सासादन गुणस्थान का निषेध किया है।

शंका—दोनों वचनोंमें यह वचन सूत्ररूप है और यह सूत्ररूप नहीं है यह कैसे जाना जायेगा ?

समाधान—उपदेशके विना दोनोंमेंसे कौन वचन सूत्ररूप है यह नहीं जाना जा सकता है। इसलिये दोनों वचनोंका संग्रह करना चाहिये।

शंका—दोनों वचनोंको संग्रह करनेवाला संशय मिथ्यादृष्टि हो जावेगा।

समाधान—नहीं ! क्योंकि संग्रह करनेवालेके 'यह सूत्र कथित ही है' इस प्रकारका श्रद्धान पाया जाता है,

अतएव उसके संदेह नहीं हो सकता है। कहा भी है कि–

सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंत जदा ण सद्दहदि।
सो चेय हवदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पहुडि जीवो ॥१४३॥

अर्थ—सूत्रसे आचार्यादिके द्वारा भले प्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव विपरीत अर्थको छोड़कर समीचीन अर्थका श्रद्धान नहीं करता है, तो उसी समयमें वह सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। (ध. १-२६१)

प्रश्न—एकेंद्रियमें जानेवाला सासादन सम्यग्दृष्टि कौन कौन कायमें जाता है?

उत्तर—एकेंद्रियमें जानेवाला संख्यात वर्ष आयुष्क सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच, बादर पृथ्वीकायिक, बादर जलकायिक, बादर वनस्पतिकायिक, प्रत्येक शरीर पर्याप्तकोंमें ही जाता है, अपर्याप्तकोंमें नहीं जाता। (सूत्र १२१-६)

इसके विषयमें अनेक मत हैं। (ध. ६-४६०)

'पूज्यपाद स्वामी' ने सर्वार्थ सिद्धिमें लिखा है कि कृष्ण, नील, और कापोत लेश्यावाले सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंका स्पर्शन प्रमाण बताते हुए लिखा है कि सासादन सम्यग्दृष्टि जीव एकेंद्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं। देखो स. सि. १-८ स्पर्शन प्ररूपणा।

किन्तु उन्होंने तिर्यञ्च, मनुष्य, व देवगति वाले सासादन सम्यग्दृष्टियोंके स्पर्शनका जो प्रमाण बताया

है उससे स्पष्ट होता है कि, उन्हें सासादन सम्यग्दृष्टियों का एकेन्द्रियमें उत्पन्न होना स्वीकार था। (देखो श्रुत सागर टीका से लिये गये टिप्पण) तत्त्वार्थ राजवार्तिक और गोमट्टसार जीवकाण्ड में लिखा है कि, पंचेन्द्रियों को छोडकर शेष समस्त एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका ही विधान पाया जाता है (त. रा. ६–७ गो. जी. ६७७) किन्तु कर्मकाण्ड में एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय जीवों की अपर्याप्त अवस्था में सासादन सम्यक्त्वका विधान किया गया है। परन्तु लब्धि–अपर्याप्तक, साधारण, सूक्ष्म तथा तेज और वायुकायिक जीवोंमें उसका निषेध है। (गा. ११३–११५)

,अमितगति आचार्य ने पंचसंग्रहमें पृष्ठ ७५ में सातों अपर्याप्त और संज्ञी पर्याप्त इन आठ जीव समासों में सासादन सम्यक्त्व का विधान किया है, जिसके अनुसार विकलेन्द्रिय तथा सूक्ष्म जीवों में भी सासादन सम्यक्त्व का उत्पन्न होना संभव है।

भगवती पन्नापना व जीवाभिगम आदि श्वेताम्बर आगम ग्रन्थोंके मतानुसार एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान नहीं होता है, परन्तु द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रियों में होता है। इसके विपरीत श्वेताम्बर कर्म ग्रन्थों में एकेन्द्रिय व द्वीन्द्रिय आदि बादर अपर्याप्तकों में सासादन

गुणस्थान का विधान पाया जाता है। परन्तु तेज वायुकायिक जीवों में सासादन गुणस्थान का यहां भी निषेध है। (देखो कर्मग्रन्थ ४ गाथा ३-४५-४६ व पंचसंग्रहद्वार १ गा. २८-२६) (ध. ६-४६०)

लेखक का अभिमत—

'दूसरे गुणस्थान में पारिणामिक भाव माना है। और और पारिणामिक भाव उस को कहते हैं जिसमें कर्म का सद्भाव तथा अभाव कारण न पडे ऐसे भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं। पारिणामिक भाव द्रव्यानुयोग का विषय है और द्रव्यानुयोग कर्म प्रकृतियों को स्वीकार नहीं करता है" जिससे द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से एकेन्द्रियादि सभी जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। करणानुयोग की अपेक्षा से एकेन्द्रियादि जीवों के कर्मकी अपेक्षासे सासादन गुणस्थान नहीं होता है परन्तु मात्र प्रथम गुणस्थान होता है।

प्रश्न—सासादन गुणस्थानमें जघन्य व उत्कृष्ट बंध का कितना प्रत्यय है?

उत्तर—एकेंद्रियसे एक कायकी विराधना ऐसे दो असंयम प्रत्यय, सोलह कषायोंमेंसे चार कषाय, तीनों वेदोंमेंसे एक वेद, हास्य रति और अरति शोक इन दो

युगलोंमेंसे एकयुगल, १३ योगोंमेंसे एक योग, इस प्रकार जघन्यसे १० प्रत्यय और उत्कृष्टसे १७ प्रत्यय होते हैं, क्योंकि उसके मिथ्यात्वका उदय नहीं है।
[ध. ८–२५]

मिश्र गुणस्थान

मिश्र गुणस्थानमें आत्मामें न मिथ्यात्वरूप भाव होता है न सम्यक्त्वरूप भाव होता है परंतु मिश्ररूप भाव होता है। दही और शक्कर मिलाहुआ श्रीखण्डकी तरह मिश्र स्वाद आता है। मिश्र गुणस्थानका काल सासादन गुणस्थानके कालसे विशेष काल है तो भी वह इतना सूक्ष्म काल है कि वह छद्मस्थके ज्ञान गोचर नहीं है। मिश्र गुणस्थानमें मरण नहीं होता है।

प्रश्न—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव अपने गुणस्थान से पीछे संयम को अथवा संयमासंयम को क्यों नहीं प्राप्त होता ?

उत्तर—नहीं। क्योंकि उस सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवका मिथ्यात्व सहित मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को अथवा सम्यक्त्व सहित असंयत गुणस्थान को छोड़कर दूसरे गुणस्थान में गमन का अभाव है।

शंका—अन्य गुणस्थान में नहीं जानने का क्या कारण है ?

समाधान—ऐसा स्वभाव ही है। और स्वभाव दूसरे के प्रश्न के योग्य नहीं, क्योंकि उसमें विरोध आता है। (ध. ४-३४३) कहा भी है कि—

ण य मरइ णय संजममुवेइ तह देशसंजम वावि।
सम्मामिच्छादिट्ठी ण उ मरणंतं समुग्घाओ॥

अर्थ—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव न तो मरता है, न संयम को प्राप्त होता है, न देशसंयम को ही प्राप्त होता है, तथा उसके मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता है। (ध. ४-३४९)

प्रश्न—मिश्रगुणस्थान में बन्धका जघन्य, उत्कृष्ट कितना प्रत्यय है?

उत्तर—एक इन्द्रिय से एक काय की विराधना ऐसे दो असंयम प्रत्यय, बारह कषाय में। तीन कषाय, तीन वेदों में एक वेद, हास्य रति, और अरति शोक इन दो युगलों में एक युगल और दस योगों में १ योग ऐसे जघन्य नौ प्रत्यय होते हैं। उत्कृष्ट से अनंतानुबंधीकषाय या प्रत्यय छोड़कर शेष सोलह प्रत्यय हैं। (ध. ८-२९)

अव्रतसम्यग्दृष्टि

इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। इस गुणस्थान में उपशम सम्यग्दर्शन, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन, और क्षायक सम्यग्दर्शन होता है। अव्रत सम्य-

ग्दृष्टि बुद्धिपूर्वक त्रस तथा स्थावर जीवों के मारने के भावका त्याग नहीं कर सकता है। अव्रत सम्यग्दृष्टि से संकल्पी हिंसा हो जाती है। जैसे विभीषणने निरपराधी दशरथ राजा तथा जनक राजा पर अपने बन्धु रावण के प्रति रागके कारण शस्त्र चलाकर घात किया यह घात संकल्पी हिंसा है। जैसे भरत महाराज तीन लडाईमें हार गये तब कषायके आवेश में आकर अपने भाई बाहुबलीजी जो, निरपराधी हैं उन पर चक्र चलादिया, यह संकल्पी हिंसा है। सम्यग्दृष्टि जीवों को श्रद्धा की अपेक्षा सात भय नहीं है, परन्तु चारित्रकी अपेक्षा उसके भय है।

अव्रत सम्यग्दृष्टि जीव संपूर्ण रीति से सप्त व्यसन का त्याग कर नहीं सकता है। संपूर्ण त्याग तो पंचम गुण स्थानमें ही होता है। जैसे युधिष्ठिर ने जुवां खेला। इस प्रकारका रागका संपूर्ण रीति से त्याग नहीं होता है। यह आत्माके पुरुषार्थकी कमजोरी है। अव्रत सम्यग्दृष्टि आत्मा के मद्य-मांस-मदिरा और पंच उदंबर फलका संपूर्ण रीतिसे त्याग हो जाता है, परन्तु विलायती दवा, बाजारकी मिठाई और अमर्यादित खाद्य पदार्थका सम्पूर्ण रीतिसे त्याग कर नहीं सकता है। अष्टमूल गुणोंका अतिचार सहित पालन करता है। और अष्टमूल गुणोंका अतिचार रहित पालन पंचमगुणस्थानमें ही होता है। नारकी अव्रती सम्यग्दृष्टिमें

विशेषकर संकल्पी हिंसा ही होती है। अप्रत्याख्यानकषाय में भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद है। अव्रत सम्यग्दृष्टि में तीव्र कृष्ण लेश्या भी रह सकती है एवं परम शुक्ल लेश्या भी रह सकती है। मध्यम भेद असंख्यात लोक प्रमाण है। अव्रत सम्यग्दृष्टिसे मायाचारीका सेवन भी हो सकता है, जैसे रामचन्द्रजीने सीताजीको कहा कि आप तीर्थक्षेत्रके दर्शनके लिये पधारो और इस आडमें सीताजी को एकाकी जंगलमें छोड़ देनेका आदेश अपने सेनापति को दिया यह भी तो मायाचारी है।

जिस मनुष्य ने सम्यग्दर्शन होने के पहले मिथ्यात्व अवस्था में मनुष्य, तिर्यंच या नरकायु को बांध लिया है, वही जीव पीछे सम्यक्त्वको ग्रहणकरे, यदि मनुष्य और तिर्यंचायुका बंध किया है, तो नियमसे भोगभूमि में ही जावेगा, परन्तु विदेह क्षेत्रमें नहीं जाता है। मनुष्य मिथ्यात्व अवस्था में ही मरणकर विदेह क्षेत्र में मनुष्य उत्पन्न हो सकता है, सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरणकर सीधा विदेह में मनुष्य रूप में उत्पन्न नहीं होता है। और जिस जीवने नरकायुका बंध किया है बाद में सम्यक्त्वकी प्राप्ति की है वह पहले नरकमें ही जावेगा इससे आगे नहीं जाता है।

सम्यग्दृष्टिको ही धर्मध्यान होता है मिथ्यादृष्टिको

कभी भी धर्मध्यान नहीं होता है। धर्म ध्यान का चार पाया दिखाया है। १ आज्ञाविचय, २ अपायविचय, ३ विपाक विचय और ४ संस्थान विचय। यह धर्म ध्यान नहीं है, यह तो व्यवहार धर्म ध्यान अर्थात् पुण्य भाव है, वह तो अभव्य मिथ्यादृष्टि के भी होता है। यथार्थमें धर्म ध्यान तो वीतराग भाव का नाम है। चौथे गुणस्थान में पहलापाया, पंचमगुणस्थानमें दूसरा पाया, छट्ठेगुणस्थान में तीसरा पाया, और सातवें गुणस्थानमें चौथा पाया आगम ग्रन्थों में लिखा है। इसका परमार्थ अर्थ यह है कि अनंतानुबंधी कषाय का अभाव होना पहला पाया, अप्रत्याख्यान कषाय का अभाव होना दूसरा पाया, प्रत्याख्यान कषाय का अभाव होना तीसरा पाया तथा प्रमाद का अभाव होना चौथा पाया है। इस प्रकार परमार्थ अर्थ समझना चाहिये।

शंका—धर्मध्यान पांच भावोंमेंसे कौनसे भावोंमें होता है?

समाधान—धर्म ध्यान उपशम तथा क्षायक भावमें ही होता है।

शंका—धर्मध्यान तो सातवें गुणस्थान तक ही होता है और क्षपक श्रेणी सातवें गुणस्थान बाद में ही माँडी जाती है तो वहां क्षायक भाव कैसे होता होगा?

समाधान—क्षायक सम्यग्दर्शन होवे तो अनन्तानु-

बंधी कषाय के अभाव रूप चायक भाव है। क्योंकि वीतराग भाव अर्थात् धर्म भाव चायक भाव तथा उपशम भाव में ही होता है।

शंका—आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान पांच भावों में से कौन २ से भाव में होता है।

समाधान—आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान चायोपशमकि भाव में ही होता है। यदि औदयिक भाव में ही आर्तध्यान रौद्रध्यान माना जावे तो औदयिक भाव तो कषाय की अपेचा से दसवें गुणस्थान तक होता है जब आर्तध्यान छठे गुणस्थान बाद होता ही नहीं है जिससे सिद्ध हुआ कि आर्तध्यान चायोपशमिक भाव में ही होता है। भाव उदीरणा चायोपशमिक भाव में ही होती है।

चतुर्थगुणस्थानवाला सर्वार्थ सिद्धिका देव आत्म चिंतवनादि कार्य करे वहाँ भी निर्जरा नहीं बंध घना होय, और पंचमगुणस्थानवाला विषय सेवनादि कार्य करे वहाँ भी उसके निर्जरा घनी और बंध थोड़ा होय। तथा छट्टा गुणस्थानवाला आहार विहारादि क्रिया करे तिसकाल विषे भी उसके निर्जरा पंचमगुणस्थान वालों से विशेष कही है। यह कथन उदय की अपेचा से कहा है, अर्थात् चौथे गुणस्थान वाले के तीन कषायका बंध पडता है, पंचम गुणस्थान वाले के दो कषाय का बन्ध

पडता है, छह गुणस्थान वाले के मात्र एक संज्वलन कषाय का बंध पडता है, यह तो उदय की अपेक्षा से कथन है, परन्तु उदीरणा की अर्थात् वर्तमान बुद्धि पूर्वक अपराध की अपेक्षा से कथन किया जावे तो सर्वार्थ सिद्धि देवके परम शुक्ल लेश्या है और पंचम तथा छठे गुण-स्थानवर्ती जीवों के उत्कृष्ट पीत लेश्या होजाती है।

प्रश्न—मनुष्य प्रथमोशम सम्यक्त्व की प्राप्ति कब कर सकता है ?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि मनुष्य पर्याप्तक प्रथम सम्य-क्त्वको उत्पन्न करनेवाले गर्भोपक्रान्तिक मिथ्यादृष्टि मनुष्य आठ वर्ष से लेकर ऊपर किसी समय भी उत्पन्न कर सकते हैं इससे नीचे के काल में नहीं कर सकते हैं। (ध.६४२६)

प्रश्न—देवोंमें प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति कब होती है ?

उत्तर—पर्याप्तकों में प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले देव अन्तर्मुहूर्त्त कालसे लेकर ऊपर उत्पन्न कर सकते हैं, उससे नीचेके कालमें नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पर्याप्त-कालके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त काल तक तीन प्रकार के करणपरिणामों का अभाव पाया जाता है।

(ध. ६-४३१)

प्रश्न—संज्ञी तिर्यञ्चों में प्रथम सम्यक्त्व कौन प्राप्त

कर सकता है ?

उत्तर—संज्ञी तिर्यञ्चों में भी प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले जीव गर्भोपक्रान्तिक जीवों में ही उत्पन्न होते हैं, सम्मूर्च्छिनोमें उत्पन्न नहीं होते हैं।

सब द्वीप समुद्रों में तिर्यञ्च प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं।

शंका—भोगभूमि के प्रतिभागी समुद्रों में मत्स्य या मगर नहीं हैं ऐसा वहां त्रस जीवों का प्रतिषेध किया गया है, इसलिए उन समुद्रों में प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति मानना उपयुक्त नहीं है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि पूर्वभवके वैरी देवों के द्वारा उन समुद्रों में डाले गये पंचेन्द्रिय तिर्यचोंकी संभावना हो सकती है। (ध. ६–४२५)

प्रश्न—नरक गति में सम्यक्त्व की प्राप्ति कब होती है ?

उत्तर—पर्याप्त होने के प्रथम समय से लगाकर तत्प्रायोग्य अन्तर्मुहूर्त तक निश्चय से जीव प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त कालके बिना प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने योग्य वि_द्धि की उत्पत्ति का अभाव है।

शंका—आयु के अन्तर्मुहुर्त शेष रहने पर भी नारकी

की जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करते हैं, इसलिये उस कालमें भी सम्यक्त्वोत्पत्तिका अभाव कहना चाहिये ?

समाधान—नहीं ! पर्यायार्थिक नय के अवलम्बन से प्रत्येक समय प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने पर जीवन के द्वीचरम समय तक भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति का प्रतिपेध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्म के उदय के बिना उत्पन्न होने वाले चरम समयवर्ती सासादन भाव की भी उपचार से प्रथम सम्यक्त्व संज्ञा मानी जाती है। अथवा ऐसा सूत्र दशामर्षक है जिससे जीवनके अवसान कालमें भी प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण का प्रतिपेध नहीं है ऐसा सिद्ध हो जाता है। (ध. ६–४२०)

प्रश्न—प्रथमोपशम सम्यक्त्व कब और कौन प्राप्त कर सकता है ?

उत्तर—दर्शन मोहनीय कर्मको उपशमाता हुआ, यह जीव चारों ही गतियों में उपशमाता है। पंचेन्द्रियों में उपशमाता हुआ संज्ञियोंमें ही उपशमाता है, असंज्ञियोंमें नहीं उपशमाता है। संज्ञियों में उपशमाता हुआ गर्भोपक्रान्तिकों में, अर्थात् गर्भज जीवोंमें उपशमाता है, सम्मूर्च्छनो में नहीं उपशमाता। गर्भोपक्रान्तिकों में उपशमाता पर्याप्त कों में उपशमाता हैं, अपर्याप्तकों नहीं, पर्याप्तकों में उपशमता हुआ संख्यात वर्षकी आयु वाले जीवों में भी उप-

शमाता है, और असंख्यातवर्ष की आयुवाले में भी उपशमाता है। कहा भी है कि—

सायारे पट्ठवओ णिट्ठवओ मज्झिमो य भयणिज्जो।
जोगे अण्णदरम्मि दु जहण्णए तेउलेस्साए ॥

अर्थ—साकार अर्थात् ज्ञानोपयोग की अवस्था में जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वका प्रस्थापक, अर्थात् प्रारंभ करने वाला होता है। किन्तु निष्ठापक अर्थात् उसे सम्पन्न करने वाला, मध्य अवस्थावर्ती जीव भजनीय है। अर्थात् वह साकार उपयोगी भी हो सकता है, और अनाकार उपयोगी भी हो सकता है। मनोयोग आदि तीनों योगों में से किसी भी एक योग में वर्त्तमान जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त कर सकता है। तथा तेजो लेश्या के जघन्य अंश में वर्तमान जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। (ध. ६–२३९)

नोट—इस गाथामें सम्यक्त्व की प्राप्ति तेजोलेश्यादि जघन्य अंश में वर्तमान जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है ऐसा कहते हैं परन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सप्तमनरक में भी जीव सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकता है किन्तु वहां उत्कृष्ट कृष्ण लेश्याही है। जो बात नीचे की शंका से स्वयं सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न—कौनसी लेश्या में प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—कृष्णादि छहों लेश्याओं में से किसी एक लेश्या वाला हो, किन्तु यदि अशुभ लेश्या हो तो हीय माय होना चाहिये, और यदि शुभ लेश्या हो तो वर्धमान होना चाहिये। (ध. ६-२०७)

प्रश्न—औदारिक मिश्र काय योगी जीवों में उपशम भाव क्यों नहीं होता है ?

उत्तर—नहीं क्योंकि चारो गतियों । के उपशम सम्यग्दृष्टि जीवों का मरण नहीं होने से औदारिक मिश्र काययोग में उपशम सम्यक्त्वका सद्भाव नहीं पाया जाता है।

शंका—उपशम श्रेणी पर चढ़ते और उतरते हुए संयत जीवों के उपशम सम्यक्त्व के साथ तो मरण पाया जाता है ?

समाधान—यह कथन सत्य है। किन्तु उपशम श्रेणी में मरनेवाले जीव उपशम सम्यक्त्व के साथ औदारिक मिश्र काय योगी नहीं होते हैं, क्योंकि देवगति को छोड़कर उनकी अन्यत्र उत्पत्तिका अभाव है। (ध.५–२१६

प्रश्न—उपशम सम्यक्त्व के साथ मनःपर्यय ज्ञान कैसे रहता है ?

उत्तर—उपशम सम्यग्दृष्टि के मनःपर्यय ज्ञान होता है इसका कारण यह है कि मनःपर्यय ज्ञान के साथ उप-

शम श्रेणी से उतरकर प्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त हुए जीव के उपशम सम्यक्त्वके साथ मनःपर्यय ज्ञान पाया जाता है। किंतु मिथ्यात्वसे पीछे आये हुए उपशम सम्यग्दृष्टिके प्रमत्त संयत के मनःपर्यय ज्ञान नहीं पाया जाता है, क्यों कि, प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि प्रमत्त संयत के मनःपर्यय ज्ञानकी उत्पत्ति संभव नहीं है। (ध. २-८२२)

प्रश्न—दर्शन मोह के क्षपण करनेका आरंभ कहां होता है ?

उत्तर—अढाई द्वीपमें स्थित पन्द्रह कर्म भूमियोंमें जहां जिस काल में जिन केवली और तीर्थंकर होते हैं वहां उस काल में आरम्भ करता है।

शंका—पन्द्रह कर्म भूमियों में ऐसा सामान्यपद कहने पर कर्मभूमियों में स्थित देव, मनुष्य और तिर्यंच इन सभीका ग्रहण क्यों नहीं प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं प्राप्त होता है! क्योंकि कर्म भूमियों में उत्पन्न हुए मनुष्य की उपचार से कर्मभूमि यह संज्ञा की गई है।

शंका—यदि कर्म भूमियों में उत्पन्न हुए जीवोंकी 'कर्म भूमि' यह संज्ञा हो तो भी तिर्यंचोंका 'ग्रहण प्राप्त होता है, क्योंकि उनकी भी कर्म भूमियों में उत्पत्ति संभव है ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि जिनकी वहां पर ही उत्पत्ति होती है और अन्यत्र उत्पत्ति संभव नहीं है उन्हीं मनुष्यों के पन्द्रह कर्म भूमिमों का व्यपदेश किया गया है, न कि स्वयंप्रभ पर्वत के पर भाग में उत्पन्न होने से व्यभिचार को प्राप्त तिर्यंचो के। कहां भी है कि—

दंसण मोहक्खवणापट्ठवओ कम्मभूमिजादो दु।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवओ चावि सव्वत्थ ॥१७॥

अर्थ—कर्म भूमिमें उत्पन्न हुआ, और मनुष्यगतिमें वर्त्तमान जीव ही नियमसे दर्शन मोहकी क्षपणाका प्रस्थापक, अर्थात् प्रारंभ करनेवाला होता है किन्तु उसका निष्ठापक अर्थात् पूर्ण करनेवाला सर्वत्र अर्थात् चारों गतिमें होता है।

शंका—मनुष्योंमें उत्पन्न हुए जीव समुद्रों में दर्शन मोहनीय की क्षपणा का कैसे प्रस्थापन करते हैं।

समाधान—क्योंकि विद्या आदिकके वश से समुद्रों में आये हुए जीवों के दर्शन मोहका क्षपणा होना संभव है। (ध. ६–२४५)

प्रश्न—किस कालमें दर्शन मोहकी क्षपणा हो सकती है ?

उत्तर—दुषमा, दुषमादुषमा, सुषमासुषमा और सुषमा कालमें उत्पन्न हुए जीवोंके ही दर्शन मोहनीयकी क्षपणा नहीं होती है, अवशिष्ट दोनों कालोंमें उत्पन्न हुए जीवो

के दर्शन मोहनीय कर्मकी क्षपणा होती है। इसका कारण यह है कि, एकेंद्रिय पर्यायसे आकर (इस अवसर्पिणीके) तीसरे कालमें उत्पन्न हुए वर्द्धनकुमार आदिकोंके दर्शन मोहकी क्षपणा देखी जाती है।

जो इसी भवमें तीर्थंकर या जिन होनेवाले हैं वे तीर्थ-करादिककी अनुपस्थितिमें तथा सुषमादुषमा कालमें भी दर्शन मोहका क्षपण करते हैं। उदाहरणार्थ कृष्णादि।

(ध. ६–२४७)

प्रश्न–सम्यग्दृष्टि जीवोंकी उत्पत्ति कहाँ नहीं होती और दर्शन मोहकी क्षपणा कहाँ होती है?

उत्तर–भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क देव, द्वितीयादि छहों पृथ्वीके नारकी, सर्व विकलेन्द्रिय, सर्वलब्धपर्याप्तक और स्त्री वेदियोंमें सम्यग्दृष्टि जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, तथा मनुष्यगतिके अतिरिक्त अन्य गतियोंमें दर्शन मोहनीय कर्मकी क्षपणाका अभाव है (ध. ५–२१५)

प्रश्न–असंयत सम्यग्दृष्टि देवोंके अपर्याप्तकाल में औपशमिक सम्यक्त्व कैसे पाया जाता है?

समाधान–वेदक सम्यक्त्वको उपशमाकरके और उपशम श्रेणी पर चढ़कर फिर वहाँ से उतरकर प्रमत्त संयत, अप्रमत्तसंयत, असंयत और संयतासंयत उपशम सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंसे मध्यम तेजो लेश्याको परिणित होकर और

मरण करके सौधर्म ईशान कल्पवासी देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंके अपर्याप्त कालमें औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है। तथा उपर्युक्त गुणस्थानवर्ती जीव उत्कृष्ट तेजो-लेश्याको अथवा जघन्य पद्मलेश्याको परिणित होकर यदि मरण करते हैं, तो औपशमिक सम्यक्त्वके साथ सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें उत्पन्न होते हैं। वेही उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मध्यम पद्मलेश्यामें परिणित होकर यदि मरण करे तो ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव, कापिष्ठ शुक्र महाशुक्र कल्पोंमें उत्पन्न होते हैं। तथा वेही उपशम सम्यग्दृष्टि जीव उत्कृष्ट पद्मलेश्याको अथवा जघन्य शुक्ल लेश्यामें परिणित होकर मरण करे, तो औपशमिक सम्यक्त्वके साथ सतार, सहस्रार कल्पवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। तथा वे ही सम्यग्दृष्टि जीव मध्यम शुक्ल लेश्यासे परिणित होते हुए यदि मरण करे तो उपशम सम्यक्त्वके साथ आनत प्राणत, आरण, अच्युत नौग्रैवेयक विमानवासी देवों में उन्पन्न होते हैं। तथा पूर्वोक्त उपशम सम्यग्दृष्टि जीव उत्कृष्ट शुक्ललेश्यामें परिणत होकर यदि मरण करे, तो उपशम सम्यक्त्वके साथ नौअनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। इस कारण सौधर्म स्वर्ग से लेकर ऊपर के सभी असंयत सम्यग्दृष्टि देवोंके अपर्याप्तकालमें औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है।

(ध. २-५५६)

नोट—यहां शुभ लेश्या के कारण ऊपर २ स्वर्ग मिलने का कारण कहा है परन्तु यह योग्य नहीं है मात्र उपचार कथन है। क्योंकि लेश्या क्रिया गुणकी पर्याय है और क्रिया से प्रदेश तथा प्रकृति बन्ध पडता है जब स्थिति बन्ध तथा अनुभाग बन्ध कषायसे ही पडता है इससे लेश्या की मंदता न मानकर कषाय की मंदता के अनुकूल ऊपर ऊपर के स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जैसे सप्तम नरक में उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या ही है तो भी वे सभी जीव नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय ही बनते हैं। जब कि प्रथम व दूसरे के स्वर्ग देवोंकी पीत लेश्या है तो भी जीवे मरण कर एकेन्द्रिय होजाते हैं इससे सिद्ध हुवा की शुभ लेश्या से देव पर्याय नहीं मिलती हैं परन्तु मंदतर कषाय के कारण से ही उत्तम २ देव पर्याय मिलती है।

प्रश्न—नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानों के पर्याप्त कालमें औपशमिक सम्यक्त्व किस कारण से नहीं होता है ?

समाधान—नौअनुदिश और पांच अनुत्तर विमानों में विद्यमान देव तो औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त होते नहीं है, क्योंकि, वहांपर, मिथ्यादृष्टि जीवों का अभाव है ?

शंका—भलेही वहां मिथ्यादृष्टि जीवों का अभाव

रहा आवे, किन्तु यदि वहां रहनेवाले देव औशमिक सम्य-क्त्व को प्राप्त करे, तो इसमें क्या विरोध आता है ?

समाधान—ऐसा कहना भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्यों कि औपशमिक सम्यक्त्व के अनंतर ही औपशमिक सम्यक्त्वका पुनः ग्रहण करना स्वीकार करने पर अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति के अनंतर-पश्चात् अवस्थामें ही मिथ्यात्वका उदय नियमसे होता है। किन्तु जिसके द्वितीय-तृतीयादि वार उपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति हुई है, उसके औपशमिक सम्यक्त्व के पश्चात् अवस्था में मिथ्यात्वका उदय भाज्य है, अर्थात् कदाचित् मिथ्यादृष्टि होकर के वेदक सम्य-क्त्व या उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है कदाचित् सम्यग्मिथ्यादृष्टि होकर के वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त होता है इत्यादि। इस कषाय प्राभृत के गाथासूत्रके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है। यदि कहा जाय कि अनुदिश और अनुत्तर विमानों में रहनेवाला वेदक सम्यग्दृष्टि देव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि मनुष्यगतिके सिवाय अन्य तीन गतियों में रहने वाले वेदक सम्यग्दृष्टि जीवों के दर्शन मोहनीय के उपशमन करने के कारण भूत परिणामों का अभाव ही है। यदि कहा जावे कि वेदक सम्यग्दृष्टि के प्रति मनुष्यों से

अनुदिशादि विमानवासी देवोंके कोई विशेषता नहीं है, अतएव जो दर्शन मोहनीय के उपशमन योग्य परिणाम मनुष्यों के पाये जाते हैं वे अनुदिश और अनुत्तर विमान वासी देवों में नियम से होना चाहिये, सो भी कहना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि संयम को धारण करने की तथा उपशम श्रेणी के समारोहण आदि की योग्यता मनुष्यों के ही होनेके कारण अनुदिश और अनुत्तर विमानवासीदेवों में और मनुष्यों में भेद देखा जाता है। तथा उपशम श्रेणी में मरण करके औपशमिक सम्यक्त्व के साथ देवोंमें उत्पन्न होनेवाले जीव औपशमिक सम्यक्त्वके साथ छह पर्याप्तियाँको नहीं समाप्त कर पाता है, क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में होनेवाले उपशम सम्यक्त्वके कालसे छः पर्याप्तियोंके समाप्त होनेका काल अधिक पाया जाता है, इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देवोंके पर्याप्त कालमें औपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता है। (ध. २–५६६)

प्रश्न—जैसे ज्ञान चेतना और दर्शन चेतना लब्धि और उपयोग रूप रहती है तैसे श्रद्धागुण लब्धि और उपयोग रूप रहता है या नहीं ?

उत्तर—ज्ञानचेतना और दर्शन चेतना को जानने के लिये पांच इन्द्रियाँ और मन निमित्त है। इसलिए जिस इन्द्रियमें वह कार्य करता है उस इन्द्रिय में तो ज्ञानचेतना

उपयोगरूप है और बाकीकी इन्द्रियोंमें उस समय ज्ञानचेतना लब्धि रूप है, परन्तु श्रद्धादि अनन्त गुणों में ऐसी बात नहीं है, कारण कि उसका कार्य देखना जानना नहीं, इस लिये और गुणों में लब्धि और उपयोग का भेद पडता नहीं है। अतः प्रत्येक गुण परिणमनशील है। ज्ञान उपयोगरूप हो या नहीं परन्तु उस समय में सब गुण अपना अपना कार्य करते हैं।

शंका—चतुर्थ गुणस्थान में चायक सम्यग्दर्शन हुवे बाद जैसे २ गुणस्थान बढता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन में शुद्धता बढती है या नहीं?

समाधान—चायक सम्यग्दर्शन हुवे बाद उसमें शुद्धता बढती नहीं है। शुद्धता कब बढे कि जब प्रतिपच्ची कर्मोंका सद्भाव हो? परन्तु चायक सम्यग्दर्शन में तो प्रतिपच्ची मिथ्यात्वादि प्रकृतियों का सर्वथा नाश हुए बाद ही चायक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, इसलिये उसमें शुद्धता का अंश भी बढता नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में जैसा चायक सम्यग्दर्शन है ऐसा ही चायक सम्यग्दर्शन तीर्थकरादिकों के एवं सिद्ध परमात्मा में समान है। चायक सम्यग्दर्शन में किंचित् अन्तर नहीं है।

प्रश्न—पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चपयोनिमतिमें चायक सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं होता है?

उत्तर—क्योंकि बद्धायुष्क क्षायक सम्यग्दृष्टि जीवों की स्त्रीवेद में उत्पत्ति नहीं होती है, तथा मनुष्यगतिके अतिरिक्त शेष गतियों में दर्शन मोहनीय कर्मकी क्षपणाका अभाव है, इसलिये पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिमतियों में क्षायक सम्यग्दृष्टि जीव नहीं होता है। (ध. ५-२१३)

प्रश्न—नपुंसक वेदमें असंयत सम्यग्दृष्टि जीवका अल्पबहुत्व किस प्रकार है ?

उत्तर—नपुंसक वेदी उपशम सम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम हैं, उनसे नपुंसक वेदी क्षायक सम्यग्दृष्टि जीव असंख्यात गुणे हैं। गुणाकार क्या है ? आवलीके असंख्यातवां भाग गुणाकार है। क्योंकि यहां पर प्रथम पृथ्वी के क्षायक सम्यग्दृष्टि नारकी जीवों की प्रधानता है। नपुंसक वेदी क्षायक सम्यग्दृष्टि से, वेदक सम्यग्दृष्टि असंख्यात गुणे हैं। संयतासंयत नपुंसक वेदी क्षायक सम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम हैं, क्योंकि मनुष्य पर्याप्तक नपुंसक वेदी जीवों को छोडकर उनका अन्यत्र अभाव है।

प्रश्न—क्षायक सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य व उत्कृष्ट कितने काल तक संसार में रहते हैं।

उत्तर—क्षायक सम्यग्दृष्टि जीव कमसे कम अन्तर्मुहूर्त कालतक और अधिकसेअधिक सातिरेक तेतीस सागरोपम प्रमाण काल तक जीव क्षायक सम्यग्दृष्टि रहते हैं। क्योंकि

वेदक सम्यग्दृष्टि जीवके दर्शन मोहनीयका क्षपण करके क्षायक सम्यक्त्व को उत्पन्न कर जघन्य कालसे अवन्धक भावको प्राप्त होनेपर अन्तर्मुहूर्त काल पाया जाता है। (ध. ७-१७६)

प्रश्न—असंयत सम्यग्दृष्टिके अपर्याप्त कालमें कौनसा वेद और सम्यक्त्व रहता है ?

उत्तर—असंयत सम्यग्दृष्टिके अपर्याप्त कालमें स्त्रीवेद के विना दो वेद और तीनों सम्यक्त्व होते हैं, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव और सादि मिथ्यादृष्टि जीव चारों ही गतियोंमें उपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करते पाये जाते हैं किन्तु मरणको प्राप्त नहीं होते हैं।

शंका—यह कैसे जाना जाता है कि उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरण नहीं करते ?

समाधान—आचार्यों के वचनसे और सूत्र व्याख्यान से जाना जाता है कि उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरते नहीं हैं। किन्तु चारित्र मोह के उपशम करनेवाले जीव मरते हैं, और देवोंमें उत्पन्न होते हैं। अतः उनकी अपेक्षा अपर्याप्त कालमें उपशम सम्यक्त्व पाया जाता है।

प्रश्न—असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्योंके अपर्याप्त कालमें कौनसा वेद रहता है ?

उत्तर—एक पुरुष वेद होता है। केवल एक पुरुष

वेद होनेका यह कारण है कि देव नारकी और मनुष्य असंयत सम्यग्दृष्टि जीव मरकर यदि मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं तो नियमसे पुरुष वेदी मनुष्योंमें ही उत्पन्न होते हैं, अन्य वेदवाले मनुष्योंमें नहीं होते हैं। (ध. २-५१०)

प्रश्न—असंयत सम्यग्दृष्टि जीवोंके औदारिक मिश्र काययोगमें भावसे छहों लेश्या कैसे होती हैं?

उत्तर—भावसे छहों लेश्या होनेका यह कारण है कि जिस प्रकार तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यामें वर्त्तमान मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देव, तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न होते समय नष्ट लेश्या हो करके अर्थात् अपनी अपनी पूर्व शुभ लेश्याको छोड़कर तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही कृष्ण, नील और कापोत लेश्यारूपसे नहीं परिणत होते हैं, किन्तु तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयसे लगाकर अन्तर्मुहूर्त्त तक पूर्वभवकी लेश्याओंके साथ रहकर पीछे अन्य लेश्याओंको प्राप्त होते हैं, अतएव यहांपर छहों लेश्यायें बन जाती हैं। (ध. २-६५७)

'धवलाकारने सम्यक्त्व मार्गणाके अपर्याप्त कालमें छहों लेश्या मानी है-जब गोमट्टसार जीव काण्डमें आलापाधिकार में सम्यक्त्व मार्गणाके अपर्याप्त आलाप बतलाते हुए एक कापोत और तीन शुभ लेश्या इस प्रकार चार लेश्यायें ही

बतलाई हैं, परन्तु गोम्मट्टसारमें वेदक सम्यक्त्व मार्गणाके अपर्याप्त आलाप में छहों लेश्या कही हैं।

प्रश्न—तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दृष्टि देव अन्तर्मुहूर्त तक अपनी पहली लेश्याओं को क्यों नहीं छोडते हैं, इसका क्या कारण है?

उत्तर—इसका कारण यह है कि बुद्धि में स्थित हैं परमेष्ठी जिनके ऐसे सम्यग्दृष्टि देवों के मरणकाल में मिथ्यादृष्टि देवों के समान संक्लेश नहीं पाया जाता है। इसलिये अपर्याप्त काल में उनकी पहले की शुभ लेश्याएँ ज्योंकि त्यों बनी रहती हैं। (ध. २–६५७)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि नारकी जीव मरते समय अपनी पुरानी कृष्णादि अशुभ लेश्याओं को क्यों नहीं छोडते हैं।

उत्तर—इसका कारण यह है कि नारकी जीवोंके जाति विशेषसे ही स्वभावतः संक्लेशकी अधिकता होती है इस कारण मरण काल में भी उन्हें नहीं छोडते हैं। (ध. २–६५८)

प्रश्न—असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यंचके अपर्याप्त अवस्थामें क्षायक सम्यग्दर्शन कैसे होता है?

उत्तर—जिन मनुष्यों ने सम्यग्दर्शन होने के पहले तिर्यंच आयु को बांध लिया है वे पीछे सम्यक्त्वको ग्रहण कर, और दर्शन मोहनीयको क्षपण करके क्षायक सम्यग्-

दृष्टि होकर असंख्यात वर्षकी आयु वाले भोगभूमि के तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं अन्यत्र नहीं। इस कारण भोग भूमि के तिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले जीवोंकी अपेक्षासे असंयत तिर्यंच सम्यग्दृष्टि के अपर्याप्त काल में क्षायक सम्यक्त्व पाया जाता है। (ध. २-४८०)

प्रश्न—सम्यक्त्व सहित नरक में जानेवाले जीव सम्यक्त्व सहित ही वापिस आते हैं, या कैसे आते हैं?

उत्तर—सम्यक्त्व सहित नरकमें जानेवाले जीव सम्यक्त्व सहित ही वहां से निकलते हैं। क्योंकि नरकमें उत्पन्न हुए क्षायक सम्यग्दृष्टियों के अथवा कृतकृत वेदक सम्यग्दृष्टियों के अन्य गुणस्थान में संक्रमण नहीं होता है। और सासादन सम्यग्दृष्टियों का नरक गति में प्रवेश नहीं है।

उसी प्रकार सम्यक्त्व सहित तिर्यंचगति में जानेवाले जीव सम्यक्त्व के साथ ही वहां से निकलते हैं। क्योंकि क्षायक सम्यग्दृष्टियोंका, व वेदक सम्यग्दृष्टियोंका तिर्यंच गति में जाने पर अन्य गुणस्थान में संक्रमण नहीं होता हैं। (ध. ६-४४१)

प्रश्न—सातों नरक में सम्यग्दृष्टि जीव सर्वकाल रहते हैं?

उत्तर—सातों पृथ्वीमें असंयत सम्यग्दृष्टि जीव नाना

जीवोंकी अपेक्षा सर्वकाल होते हैं। वहकाल इस प्रकार संभव है कि सातों पृथ्वियां किसी भी काल में असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों से रहित नहीं पाई जातीं। कहा भी है कि—असंजद सम्मादिट्ठी कवचिरं कालादो होंति, णाणा जीव पडुच्च सव्वद्धा ॥४४॥ (ध. ४—३६१)

प्रश्न—असंयत सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च मरण कर देवों में कहां तक जा सकता है।

उत्तर—देवों में जानेवाले असंयत सम्यग्दृष्टि संख्यातवर्षायुष्क तिर्यञ्च सौधर्म-ईशान स्वर्गसे लगाकर आरण-अच्युत तक के कल्पवासी देवों में जाते हैं।

(ध. ६—४६५)

प्रश्न—असंयत सम्यग्दृष्टि को बंधका जघन्य उत्कृष्ट प्रत्यय कितना है ?

उत्तर—एकेन्द्रिय से एक काय की विराधना ऐसे दो असंयम भाव, बारह कषाय में से तीन कषाय, तीनों वेदों में एक वेद, हास्य रति और अरति शोक इन दो युगलोंमेंसे एक युगल और दश योगों में से १ योग ऐसे नौ जघन्य प्रत्यय है। और उत्कृष्ट एक अनन्तानुबंधी कषाय छोडकर शेष १६ सोलह प्रत्यय हैं। (ध.८—२६)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि आत्मा को नरक जाना पडता है तो आत्मा को उस समय में किस गुणके दोष से नरक

में जाना पडता है ? क्या दर्शनगुण के दोष से, ज्ञान गुणके दोष से, या चारित्र गुणके दोष से नरक में जाना पडता है ?

उत्तर—दर्शन गुणके दोष से या ज्ञानगुणके दोष से एवं चारित्र गुणके दोष से नरक में नहीं जाना पड़ता है क्योंकि इन गुणोंका दोष तो स्वर्ग में भी मिथ्यादृष्टि जीवों के इससे विशेष है। परन्तु सम्यग्दृष्टि के नरक में जाने में प्रधान दोष क्रियावती शक्ति का है जिसने स्वर्ग की ओर गमन न कर नरक की ओर गमन किया।

शंका—आत्माने क्रियावती शक्ति को सुधार क्यों न ली ?

समाधान—यह आत्माके हाथ की बात नहीं है, क्योंकि सब शक्तियाँ अर्थात् सर्वगुण स्वतन्त्र हैं, कोई गुण किसी गुणके आधीन नहीं है।

संयतासंयत गुणस्थान

संयतासंयत गुणस्थान में अष्ट मूल गुणों का अतिचार रहित पालन होता है। सप्त व्यसन का संपूर्ण रीति से त्याग हो जाता है। इस गुणस्थान में त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग हो जाता है, परन्तु स्थावर जीवों की विवेक पूर्वक हिंसा होजाती है। इस गुणस्थान के

ग्यारह भेद हैं जिनको प्रतिमा कहा जाता है। १ दर्शन प्रतिमा. २ व्रत प्रतिमा, ३ सामायिक प्रतिमा, ४ प्रोषध प्रतिमा, ५ सचित्त त्याग प्रतिमा, ६ पुरुषों के लिए रात्रि भुक्ति अनुमोदना त्याग प्रतिमा और स्त्री के लिये दिवस मैथुन सेवन त्याग प्रतिमा।

शंका—यह छटवीं प्रतिमा में दो भेद कैसे है ?

समाधान—इस प्रतिमामें अब्रह्मका त्याग नहीं हुआ है। स्त्री रात्रिमें भोजनकी अनुमोदना का त्याग नहीं कर सकती है, क्योंकि अपने बच्चे को रात्रि में दूध, जल पिलावेगी इस सबबसे स्त्री रात्रि भोजन अनुमोदनाका संपूर्ण रीति से त्याग नहीं कर सकती है। इस कारण दो भेद हैं।

७ ब्रह्मचर्य प्रतिमा ८ आरंभ त्याग प्रतिमा ९ परिग्रह त्याग प्रतिमा १० अनुमति त्याग प्रतिमा ११ उद्दिष्ट आहार त्याग प्रतिमा। पहली प्रतिमासे छट्ठी प्रतिमा तक जघन्य श्रावक पद है। सप्तम प्रतिमासे नौवीं प्रतिमा तक मध्यम श्रावक पद है। और दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमा वाले उतकृष्ट श्रावक पद कहे जाते हैं।

प्रश्न—क्षायक सम्यग्दृष्टि जीव संयतासंयत भावको प्राप्त होता है या नहीं ?

उत्तर—संयतासंयत गुणस्थान में क्षायक सम्यग्दृष्टी

जीव सबसे कम है, क्योंकि अणुव्रत सहित क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का होना अत्यन्त दुर्लभ है तथा तिर्यंचों में क्षायक सम्यक्त्व के साथ संयमासंयम भाव पाया नहीं जाता है, क्योंकि तिर्यंचों में दर्शन मोहनीय कर्मकी क्षपणा का अभाव है। (ध. ५-२५६)

प्रश्न—संज्ञी संमूर्च्छन पर्याप्तकोंमें संयमासंयम के समान अवधिज्ञान और उपशम सम्यक्त्व होता है या नहीं ?

उत्तर—संज्ञी समूर्च्छन पर्याप्तकों में संयमासंयमके समान अवधिज्ञान और उपशम सम्यक्त्वकी संभावनाका अभाव है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है कि संज्ञी समूर्च्छन पर्याप्तक जीवोंमें अवधिज्ञान और उपशम सम्यक्त्व का अभाव है ?

समाधान—पंचेन्द्रियोंमें दर्शन मोहका उपशम करता हुआ गर्भोत्पन्न जीवों में ही उपशमन करता है, समूर्च्छनों में नहीं, इस प्रकार के चूर्णिका सूत्र से जाना जाता है।

शंका—संज्ञी सम्मूर्च्छन जीवों में अवधिज्ञानका अभाव कैसे जाना जाता है ?

समाधान—किसी भी आचार्य ने संज्ञी समूर्च्छन जीवोंमें अवधिज्ञान होता है ऐसी प्ररूपणा नहीं की।

(ध ५-११८)

प्रश्न—संज्ञी सम्मूर्च्छन तिर्यंच संयतासंयत भाव को प्राप्त हो सकता है या नहीं ?

उत्तर—मोह कर्मकी २८ अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता रखने वाला एक तिर्यंच अथवा मनुष्य मिथ्यादृष्टि जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय संमूर्च्छन तिर्यंच पर्याप्तक मच्छ, कच्छप, मेंढ़कादिकों में उत्पन्न हुआ सर्व लघु काल द्वारा सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्तपनेको प्राप्त हुआ (१) पुनः विश्राम लेता हुआ (२) विशुद्ध होकर के (३) संयमासंयमको प्राप्त हुआ वहां पर पूर्व कोटी काल तक संयमा संयमको पालन करके मरा और देवों में उत्पन्न हो सकता है। (ध. ४–३६६)

शंका—जिन जीवोंने पहले तिर्यंचायुका बंध कर लिया है, ऐसे जीव सम्यक्त्वको ग्रहण करके और दर्शन मोहनीयका क्षय करके तिर्यंचों में उत्पन्न होते हुए पाये जाते हैं इसलिये संयतासंयत क्षायक सम्यग्दृष्टि जीव तिर्यंच में भी होना संभव है ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि जिन्होंने पहले तिर्यंचायुका बंध कर लिया है ऐसे तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुए क्षायक सम्यग्दृष्टियोंके संयतासंयत गुणस्थान नहीं पाया जाता है, क्योंकि भोगभूमि के बिना अन्यत्र उनकी उत्पत्ति संभव नहीं है। दर्शन मोहनीय कर्मकी क्षपणा नियमसे मनुष्यगतिमें

ही होती है ऐसा आगम वचन है। (ध. ३-४७५)

प्रश्न-संयतासंयतोंके वैक्रयिक समुद्घात होता है ?

उत्तर-संयतासंयतोंके वैक्रयिक समुद्घात होता है क्योंकि विष्णुकुमार आदिमें विक्रियात्मक औदारिक शरीर देखा जाता है। (ध. ४-४४)

प्रश्न-मानुषोत्तर पर्वतसे परभागवर्ती और स्वयंभाचल से पूर्वभागवर्ती शेष द्वीप समुद्रोंमें संयतासंयत जीव हो सकता है या नहीं ?

उत्तर-हो सकता है। क्योंकि पूर्वभवके वैरी देवोंके द्वारा वहां लेजाये गये तिर्यंच संयतासंयतकी सम्भावना हो सकती है, इसमें कोई विरोध नहीं हैं। (ध. ४-१६६)

प्रश्न-संयतासंयत सम्यग्दृष्टि को बन्ध का कितना प्रत्यय जघन्य व उत्कृष्ट है ?

उत्तर-एकेंद्रियसे एक कायकी विराधना करता है ऐसे दो असंयम भाव-आठ कषायोंमें दो कषाय, तीनवेदोंमें एक वेद, हास्य रति और शोक अरति इन दो युगलोंमें से एक युगल, नौयोगोंमें से एक योग, इस प्रकार ८ जघन्य प्रत्यय हैं। और उत्कृष्ट एकेंद्रिय से पांच स्थावरकायोंकी विराधना करता है, इस प्रकार छह असंयम, दो कषाय प्रत्यय, एक वेद, हास्य रति और अरति शोक ये दो युगलोंमेंसे एक युगल, भय और जुगुप्सा तथा नौयोगोंमेंसे

एक योग, ऐसे मिलकर चौदह प्रत्यय होते हैं।

(घ. ८-२६)

प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थान

छट्ठे गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक उदीरणा होती है और सातवें गुणस्थानमें ध्यान अवस्था है इस गुणस्थानमें अनंतानुवंधी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषायका अभाव रूपतो सामायिक संयम है और जितने अंश में रागादिक परणति है वह छेदोपस्थानां संयम है। जब मुनि ध्यान में स्थिर नहीं रहते तब २८ अठाईस मूल-गुणोंके विकल्प में स्थिर रहते हैं। अठाईस मूलगुणका पालन करने का भाव है वह छेदोपस्थापना संयम है। संज्वलनके तीव्र कषाय में ही आहारादिकी क्रिया होती है। छठे गुणस्थानवाले मुनि महाराज जितेन्द्रिय होते हैं। वे पांचइन्द्रिय और पांच इन्द्रिय के विषय के आधीन नहीं हैं परन्तु इनको मुनिमहाराज ने जीत लिया है। जिस मुनिका सांसारिक वातोंमें दिल लगता है उस मुनिने कर्ण इन्द्रियको जीता नहीं है, जिस मुनिके भौतिक वस्तु देखने का भाव है उस मुनिने चक्षु इन्द्रियको जीता नहीं है। जिस वस्ती में मुनि ठहरे हैं और धूपके दिन में उसमें हवा नहीं आती है। ऐसी हालत में मुनि महाराज मुखसे वोले कि वस्तिकामें हवा नहीं आती तो समझना चाहिये कि मुनिने

स्पर्शइन्द्रियको जीता नहीं। छहों आवश्यक कर्म मुनि महाराजको नियमितरूपसे दिनमें दो दफे करना ही चाहिये उसमें प्रमाद का सेवन करे तो वह मुनि नहीं है। विहार में बातें करते करते चले और भूमि पर दृष्टि नहीं है तो मुनि ने ईर्या समितिका यथार्थ पालन नहीं किया। मेरे द्वारा जीवोंका घात न हो जावे ऐसे भाव सहित चार हाथ प्रमाण भूमि शोध कर चलना, यही ईर्या समिति है, यह पुण्यभाव है। वर्षाऋतु में सब जगह पर हरितकायिक जीव पैदा होगये हैं वहां दीर्घशंकाके लिये जाऊँगा तो हरितकायिक जीवोंका नाश होजावेगा यह सोचकर मुनि अपने डेरेमें शौचादि क्रिया करे तो वह मुनि नहीं है। शूद्रके हाथका जल पीनेवाले के हाथसे मैं आहार नहीं लेऊंगा ऐसा कहनेवाले मुनिको अव्रत अवस्थाका ज्ञान नहीं है। जहां अव्रत अवस्था का ज्ञान नहीं है वहां मुनि अवस्थाका ज्ञान कैसे हो सकता है? मुनि पदमें जंत्र मंत्र डोरा धागा आदि बनाने का भाव होता ही नहीं है। यदि ऐसा भाव मुनि महाराजमें हो जावे तो वह मुनि नहीं है। जैसे श्रावक अष्ट मूल गुणों में से एक मूलगुणको न पालन करने से श्रावक नहीं कहा जाता, ऐसे मुनि महाराज भी २८ मूलगुणोंमेंसे एक मूल गुणको नहीं पालन करनेसे मुनि नहीं कहे जाते। संयम का लक्षण निम्नप्रकार है।

व्रतरक्षण, समितिपालन, कषायनिग्रह, दण्डत्याग और इन्द्रियसंयमका नाम संयम है। अथवा सम्यक् प्रकार से आत्म नियंत्रण को संयम कहा है।

मुनि महाराज का प्रधान कार्य ध्यान और अध्ययन है। यदि मुनि महाराज का अध्ययन में दिल नहीं लगता और ध्यान की गन्ध भी नहीं है तो वहाँ मुनिपना नहीं है। मुनि महाराज शास्त्र ज्ञान के उपकरण के लिये रख सकते हैं। विशेष रूप से शास्त्र रक्खे तो मुनि परिग्रह धारी है। एक सूत मात्र पास में परिग्रह रखने से चरणानुयोग की अपेक्षा वह मुनि नहीं है। मुनि तो नग्न दिगम्बर सर्वथा निर्ग्रन्थ होना चाहिये। स्त्रियों के भावसे सप्तम गुणस्थान रूप परिणाम हो सकता है, परन्तु वस्त्र का त्याग न कर सकने से चरणानुयोग की विधि से स्त्रीका पंचम ही गुण-स्थान माना जाता है। छठा नहीं माना जाता।

मुनि महाराज आदि संयम धारी जीवों को अषाढ शुक्ला चौदस से कार्त्तिक शुक्ला १४ तक एक स्थानमें चातु-र्मास रहना चाहिये, क्योंकि इन दिनोंमें एकेन्द्रिय तथा त्रस जीवों की विशेष रूप में उत्पत्ति होती है। ऐसे जीवोंकी रक्षा के निमित्त से चातुर्मास के लिए जंगल में ही ठहरना चाहिये।

दुःखकी बात है कि वर्त्तमान में मुनि महाराज ग्रामके

बीचमें चातुर्मास करने लग गये। यह आगम से विपरीत मार्ग है। पानी गिरने के पश्चात् सब जगह पर वनस्पति-कायिक जीवों की उत्पत्ति हो जाती है यह देखकर मुनि महाराज ऐसा कहे या दूसरों के द्वारा कहलावे कि अब जंगल में शौच जाने से एकेन्द्रिय वनस्पति आदि जीवोंका बहुत घात होजावेगा इसलिये हमारे डेराके पासमें ही टट्टी घरका प्रबन्ध करदेना चाहिये, यह ठीक नहीं।

श्रावक–महाराज का कहना ठीक है। अब मुनि महाराज आदि जंगल में शौच कैसे जा सकते हैं, क्योंकि सब जगह पर वनस्पतिकायिक जीवोंकी उत्पत्ति हो गई है, इसलिये टट्टी घरका प्रबन्ध कर देना चाहिये।

ऐसा कहनेवाले मुनि तथा श्रावक दोनों मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि उनके अभिप्राय में यह बात है कि मुनि महाराज जंगल में शौच न जाने से वनस्पतिकायिक जीव बच जायेंगे। यह कहनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि वनस्पतिकायिक जीवों को बचना उसके आयुकर्मके अधीन हैं, मुनिके गमन अथवा न गमन के अधीन नहीं है।

शंका–तब मुनि महाराजके जङ्गल में जाने से वनस्पतिकायिक जीवोंके घातसे मुनि महाराज को पाप का बन्ध पडेगा या नहीं ?

समाधान—मुनि महाराज का अभिप्राय त्रस जीवों

की रक्षाका है परन्तु एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक जीव मारने का नहीं है। मात्र जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञा का पालन करना है। इसलिये एकेन्द्रिय आदि जीवोंके घात होते हुए मुनि को पापको बन्ध नहीं है। जैसे एक श्रावक की गाय के गले में घाव हो जाने से उसमें कीडा पड गया है। श्रावक जाता है कि गाय के गले में दवा डालने से कीडा मर जायगा परन्तु श्रावकका भाव कीडा मारनेका नहीं है परन्तु गायकी रक्षा का भाव है, इसलिये गायके गले में दवा डालने से कीडा मरते हुए श्रावकको पुण्यका ही आश्रव होता है। इस प्रकार मुनि महाराज का अभि-प्राय त्रस जीवों की रक्षा का है। जंगल में शौच जाने से टट्टी में त्रस जीव उत्पन्न होनेका कारण नहीं होता क्योंकि जंगलमें शौच जाने से टट्टी सूख जावेगी अथवा कोई तिर्यंच जीव इसको खा जावेगा जिससे उसमें त्रस जीवों की उत्पत्ति का कारण नहीं है, इस अभिप्राय से जानेसे वनस्पतिकायिक जीवोंका घात होते हुए मुनिको पापका बन्ध नहीं है। मुनि जो जंगलमें जाते हैं वे भी ईर्या समिति से ही गमन करते हैं। जहां प्रमाद है वहां ही हिंसा है। इसलिये टट्टी घर में जानेवाले मुनि तथा मुनि पर्यायका जिसको ज्ञान नहीं है ऐसा टट्टी घर बनादेनेवाले श्रावक दोनों ही मिथ्यादृष्टि ही हैं, क्योंकि जीव मरो या

मत मरो बंध का कारण मात्र अभिप्राय ही है, इसका ज्ञान नहीं है, कहा भी है कि—

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
ऐसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २६२ ॥

—समयसार

अर्थ—निश्चयनय का यह पक्ष है कि जीवों को मारो अथवा मत मारो यह जीवों के कर्म बंध अध्यवसायकर ही होता है। यह बंधका संक्षेप है।

यदि वनस्पतिकायिक जीवों की रक्षा के लिये टट्टीघर वनवा दिया जावे तो भी वनस्पतिकायिक जीवों की आयु बढ़ नहीं जावेगी। वर्षा (पानी) गिरने से जमीन में दो घडी में त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है तब भोजन के लिये भी ऐसे पानी कीचड के ऊपर से मुनिके जाने से वहां भी त्रस जीवों की हिंसा हो रही है। ऐसी अवस्था में मुनि के डेरे में ही भोजन पहुँचाना चाहिये, परन्तु यह मार्ग नहीं है। कादे में त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है यह मुनि आगमद्वारा जानता है तो भी मुनिका अभिप्राय त्रस जीव मारने का नहीं है, परन्तु उद्दिष्ट आहार नहीं लेने का अभिप्राय है। इसलिए मुनिको पाप का बंध नहीं है। क्रिया से कर्म बन्ध नहीं होता है कर्म वन्धका कारण अभिप्राय ही है जैसे—

एक मुनि महाराज ध्यान अवस्था में जंगल में बेठे हैं। उस समय एक जंगल का सिंह मुनि महाराज की शान्त मुद्रा देखकर मुनि के नजदीक में बैठ गया। इसी समय एक वाघ आगया। उसने मुनिको देखकर मुनिको खाजाने का भाव कर मुनि के ऊपर छलांग मारी, तुरन्त वही सिंह वाघ के सामने हो गया और कहा कि हे दुष्ट! मेरे में जान है तब तक तू मुनि को नहीं खासकता है। दोनों आपसमें लडने लगे। लड़ते२ दोनों ही मर गये। सिंह मरके स्वर्ग को गया, क्योंकि उसका अभिप्राय मुनि की रक्षा का था। वाघ मरके नरक में गया, क्योंकि उसका अभिप्राय मुनिकी हिंसा करने का था। यद्यपि क्रिया दोनों में समान हुई तो भी अलग २ भावों से दोनों अलग २ गति में गये। इसलिये मुनि महाराज टट्टीघर में शौच जावें तो वे मुनि नहीं हैं एवं मुनिके लिए टट्टीघर बना देनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है।

जो श्रावक ऐसा अभिप्राय करे कि शीत बहुत पड़ रही है मुनि भी मनुष्य है। अपनेको शीत लगती है इस प्रकार मुनिको भी शीत से दुःख होता है यह सोचकर मुनि को ओढ़ने के लिये वह श्रावक घास, पराल आदि दे और शीत से बचने के अभिप्राय से मुनि इसे स्वीकार करे तो वे दोनों जीव मिथ्यादृष्टि हैं क्योंकि श्रावक को मुनि

पर्याय का यथार्थ ज्ञान नहीं है। यदि शीत का परीषह सहन करने की शक्ति न थी तो मुनि क्यों हुवा? श्रावक अवस्था में ही रह कर धर्म की साधना करता, परन्तु उच्च पद का नाम धारी नीची क्रिया करे तो वह जीव मिथ्यादृष्टि ही है। ऐसे मुनि को द्रव्यलिंगी मुनि भी नहीं कहा जाता है, वहतो मात्र वेषधारी है। द्रव्यलिंगी मुनि का शास्त्रों में वर्णन है वह भी यथार्थ में अट्ठाईस मुलगुणोंका पालन करता है। बाईसपरीषहका यथार्थ विजयी होता है। देव, मनुष्य, तिर्यंच द्वारा आये उपसर्गको समता भावसे सहन करता है परन्तु अभ्यंतर सूक्ष्म मिथ्यात्वका भाव रह जाने से उसे द्रव्य लिंगी कहा है। जो टट्टीघर में शौच जावे और शीतकालमें एक बैलगाडी जितना घास ओढ़े वह तो मात्र दिगम्बर अवस्थामें वेषधारी है। ऐसे मुनिका तो यहां वर्णन भी नहीं है। यहां तो भावलिंगी मुनिकी बात है, उस मुनिके प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान होता है।

जिस दातारने मुनि महाराजको ठहरनेके लिये ग्रामके बाहर वस्ती अर्थात् घर-मकान बगीची आदिका दान दिया है अर्थात् ऐसे स्थानमें ठहरनेकी आज्ञा दी है, ऐसे दातारके घर मुनि को आहार लेने का आगम में निषेध किया हुआ है। क्योंकि ऐसे दातार के घर आहार लेने से मुनि महा राज का स्वभावतः उस दातार में राग बढ़ जाता है, और

राग बढ़ने से मुनि महाराज स्वतः अपने पद से गिर जाते हैं। इस कारण आगममें निषेध किया है। परन्तु वर्तमान में यह बात विशेष रूप से मुनि महाराजों में देखने में नहीं आती, क्योंकि मुनि महाराजको आगम ज्ञान नहीं है, वहां आत्म-ज्ञान कैसे हो सकता है। और जहां आत्म-ज्ञान नहीं है वहां मुनिपना अर्थात् संयमपना कैसे रह सकता है? जिन जीवोंकी आगमपूर्वक दृष्टि नहीं है। वहां संयम नहीं है ऐसा आगम भी कहता है।

जो मुनि महाराज बाईस परीषह का पालन उत्कृष्ट रीति से कर नहीं सकता है, जो देव, मनुष्य एवं तिर्यंच द्वारा आये हुए उपसर्गको उत्कृष्टपनेसे सहन करनेके लिए शक्तिशाली नहीं है ऐसे मुनि महाराजको अपने पदसे उत्तम पदधारी आचार्योंके संघमें ही रहना चाहिये, एकल विहारी रहने की आज्ञा नहीं है। एकलविहारी रहने से नियम से वह अपने पदसे गिर जायगा। स्वेच्छाचारी संयमका पालन नहीं कर सकता है। जहां स्वेच्छाचार है वहां मुनिपना भी नहीं है। अपने पद की रक्षा के लिये अपने पदसे उत्तम पदके धारी अथवा अपने पद के धारी संयतो के साथ मुनि महाराज को रहना चाहिये किन्तु अपने पद से हीन पदके धारी का संग करने से मुनि अपने पदसे नियम से भ्रष्ट हो जाता है। इसी कारण

मोक्षमार्गी जीवों को उत्तम संग तथा आचरण रखना चाहिये।

जिन मुनि महाराजको गणधर देव, पंच परमेष्ठी की भक्ति में नमस्कार करते हैं वह मुनि पद कैसा होता है। सो विचारना चाहिये। क्या वह वेषधारी मुनियों को वंदन करता है? गणधर देव महान् ऋद्धियोंके धारी एवं चार ज्ञानके धारी होते हैं। मुनि पर्यायमें कौनसी शक्तियां हैं वे अच्छी तरह से जानते है। वे जानते हैं कि साधारण ज्ञानके धारी मुनिराज, यदि दो घडी ध्यानावस्था में स्थिर रह जावें, तो केवल ज्ञानकी प्राप्ति कर सकते हैं। गणधर देवके आगे उनका आजकाही बना हुवा शिष्य प्रथम केवल ज्ञान एवं मोक्षपद की प्राप्ति कर सकता है। यह शक्ति देखकर गणधर देवभी मुनि महाराजों को नमस्कार करते हैं। गणधर देवको निम्न प्रकारकी ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

ऋद्धियां सात प्रकार की कही गई हैं। बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण। इनमें से गणधर देवों के चार निर्मल बुद्धियाँ देखी जाती हैं। गणधर देवों के चार बुद्धि होती हैं, क्योंकि उनके बिना बारह अंगोंकी उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसंग आता है।

शंका—बारह अंगोकी उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसंग कैसे होगा?

समाधान—गणधर देवमें कोष्ठी बुद्धिका अभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा होने पर अवस्थान के बिना उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान के विनाशका प्रसंग आवेगा। बीज बुद्धि का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि, उसके बिना गणधर देवों को तीर्थंकर से मुखसे निकले हुए अक्षर और अनक्षर स्वरूप बहुत लिंगालिंगका बीज पदोंकाज्ञान न होने से द्वादशांग के अभावका प्रसंग अवेगा। बीज पदों के स्वरूपको जानना बीज बुद्धि है, इससे द्वादशांगकी उत्पत्ति होती है। उस बीज बुद्धि के बिना द्वादशांग की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि ऐसा होने में अति प्रसंग आता है। उनमें पदानुसारी ज्ञानका अभाव नहीं है। क्योंकि बीज बुद्धिसे जाना गया है स्वरूप जिसका तथा कोष्ठ बुद्धि से प्राप्त हुआ है अवस्थान, जिसने ऐसे बीज पदों से ईहा और अवायके बिना बीज पदकी उभय दिशा विषयक श्रुत ज्ञान तथा अक्षर पद, वाक्य और उनके अर्थ विषयक श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति बन नहीं सकती। उनमें संभिन्न श्रोतृत्वका अभाव नहीं है। क्योंकि उसके बिना अक्षर—अनक्षरात्मक सातसौ लघुभाषा और अठारह महा भाषा स्वरूप नाना भेदों से भिन्न बीजपद रूप व प्रत्येक क्षण में भिन्न २ स्वरूपको प्राप्त होनेवाली ऐसी दिव्यध्वनिका ग्रहण न होने से द्वादशांग की उत्पत्ति के अभावका प्रसंग आवेगा। भले प्रकार श्रोत्रेन्द्रियावरण

के क्षयोपशमसे जो भिन्न अनुविद्ध अर्थात् सम्बन्ध हैं, वे संभिन्न हैं ऐसे जो श्रोता हैं। वे संभिन्न श्रोता हैं। कथंचित् युगपत् प्रवृत्त हुए अक्षर-अनक्षर स्वरूप अनेक शब्दों के श्रोता संभिन्न श्रोता हैं ऐसा निर्देश किया गया है। (ध. ९-५८)

नवनागसहस्राणि नागे नागे शतं रथा।
रथे रथे शतं तुर्गाः तुर्गे तुर्गे शतं नराः ॥ १९ ॥

अर्थ—एक अक्षौहिणी में नौ हजार हाथी, एक हाथी के आश्रित सौ रथ, एक एक रथके आश्रित सौ घोड़े और एक एक घोड़े के आश्रित सौ मनुष्य होते हैं। (ध. ९-६१)

यह एक अक्षौहिणीका प्रमाण है। ऐसी चार अक्षौहिणी अक्षर-अनक्षर स्वरूप अपनी २ भाषाओं से युगपत बोले तो भी संभिन्न श्रोता युगपत् सब भाषाओं का ग्रहण करके उत्तर देता है। इनसे संख्यातगुणी भाषाओं से भरी हुई तीर्थंकरके मुख से निकली ध्वनि के समूह को युगपत् ग्रहण करने में समर्थ ऐसे संभिन्न श्रोता के विषय में यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

शंका—यह संभिन्न बुद्धि कहां से होती है?

समाधान—बहु, बहुविध और क्षिप्र ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होती है।

शंका—बीज बुद्धि कहाँ से होती है।

समाधान—वह विशिष्ट अवग्रहावरणीयके क्षयोपशम से होती है।

प्रश्न—विक्रिया ऋद्धि कितने प्रकार की है और इन के क्या स्वरूप हैं?

उत्तर—विक्रिया ऋद्धि आठ प्रकार की है। १ अणिमा २ महिमा, ३ लघिमा, ४ प्राप्ति, ५ प्राकाम्य, ६ ईशित्व, ७ वशित्व ८ कामरूपित्व।

अणिमा—महा परिमाण युक्त शरीर को संकुचित करके परमाणु प्रमाण शरीर से स्थित होना अणिमा नामक विक्रिया ऋद्धि है।

महिमा—परमाणु माण शरीर को मेरु पर्वत सदृश कर सकने को महिमा विक्रिय ऋद्धि कहते हैं।

लघिमा—मेरु प्रमाण शरीर से मकड़ी के तंतुओंपर से चलने में निमित्तभूत शक्ति को लघिमा विक्रिय ऋद्धि कहते हैं।

प्राप्ति—भूमि में स्थित रहकर हाथ से चन्द्र व सूर्य के बिम्ब को छूने की शक्ति को प्राप्ति विक्रियऋद्धि कहते हैं।

प्राकाम्य—कुलाचाल और मेरु पर्वत पृथवी कायिक जीवों को बाधा न पहुँचाकर उनमें तपश्चरण के बल से उत्पन्न हुई गमन शक्ति को प्राकाम्य विक्रिय ऋद्धि कहते हैं।

ईशित्व--सब जीवों, तथा ग्राम, नगर एवं खंड आदिकों के भोगने की जो शक्ति उत्पन्न होती है वह ईशित्व विक्रिय ऋद्धि कही जाती है।

वशित्व—मनुष्य, हाथी, सिंह एवं घोड़े आदिका रूप अपनी इच्छा अनुसार करने की शक्तिका नाम वशित्व विक्रिय ऋद्धि है।

कामरूपित्व--इच्छित रूप के ग्रहण करने का नाम काम रूपित्व ऋद्धि है। (ध. ६-७५)

जीव पीडा के विना पैर उठाकर आकाश में गमन करने वाले आकाश चारण मुनि कहे जाते हैं। पल्यंकाशन कायोत्सर्गासन, शयनासन और पैर उठाकर इत्यादि सब प्रकारों से आकाश में गमन करने में समर्थ ऋषि आकाश-गामी कहे जाते हैं। (ध. ६-८०)

शंका--आकाशचारण ऋद्धि और आकाशगामीऋद्धि में क्या भेद है?

समाधान-चरण,चारित्र,संयम व पाप क्रिया निरोध इनका एक ही अर्थ है इसमें जो कुशल अर्थात् निपुण है वह चारण कहलाता है। तप विशेषसे उत्पन्न हुई आकाश स्थित जीवोंके (वधके) परिहारकी कुशलतासे जो सहित है वह आकाश चारण है। आकाशमें गमन करने मात्रसे संयुक्त आकाशगामी कहलाते हैं। सामान्य आकाशगामी

की अपेक्षा जीवोंके वध-परिहारकी कुशलतासे विशेषित आकाश गामित्वमें विशेषता पाई जानेसे दोनोंमें भेद है। (ध. ६–८४)

प्रश्न—खेलौषधि ऋद्धिका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—श्लेश्म, लार, सिंहाण अर्थात् नासिका मल और विप्रुष आदिकी खेल संज्ञा है, जिनका यह खेल औषधिको प्राप्त हो गया है वह खेलौषद्धि ऋद्धि प्राप्त ऋषि कहे जाते हैं। (ध. ६–९६)

प्रश्न—विष्टौषधि ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर—विष्टा, शब्द, चूंकि देशामर्शक है। अतएव उससे मल-मूत्र जिसका औषधिको प्राप्त हो गया है विष्टौषधि प्राप्त ऋद्धि का धारक है। (ध. ६–९७)

प्रश्न-संयतों की उत्कृष्ट संख्या एक साथमें कितनी होती है ?

उत्तर—संयतों की संख्याकी दो मान्यता हैं वह निम्न प्रकार हैं।

सत्तादी अट्ठंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
तिगभजिदा विगगुणिदा पमत्तरासी पमता दु ॥ ५१ ॥

अर्थ--जिस संख्याके आदिमें सात है, अंतमें आठ है और मध्यमें छः बार नौ हैं, उसने अर्थात्—आठ करोड़ निन्यानवें लाख, निन्यानवें हजार नौसो सत्तानवें

सर्व संयत हैं। तीनका भाग देनेपर २६६६६१०३ अप्रमत्त संयत हैं और अप्रमत्त संयतोंके प्रमाणको दो से गुणा करनेपर ५६३६८२०६ प्रमत्त संयत होते हैं। यह दक्षिण मान्यता है।

छक्कादी छक्कतां छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
तिगभजिदा विगगुणिदा पमतरासी पमता दु ॥ ५६ ॥

अर्थ–जिस संख्याके आदिमें छह, अंतमें छह और मध्यमें छहवार नौ है उतने अर्थात् छः करोड़ निन्यानवें लाख, निन्यानवें हजार नौसो छियानवे ६९९९९९९६ जीव संपूर्ण संयत्त हैं। इसमें तीनका भाग देनेपर लब्धि आवे उतने अर्थात् २३३३३३३२ जीव अप्रमादि संपूर्ण संयत्त हैं और इसे दो से गुणा करनेपर जितनी राशि उत्पन्न हो उतने अर्थात् ४६६६६६६४ जीव प्रमत्त संयत हैं। (ध. ३–१०२)

प्रश्न–प्रमत्त अप्रमत्त और अपूर्वकरणमें कितना जघन्य व उत्कृष्ट बंधका प्रत्यय है ?

उत्तर–चार संज्वलन कषायमेंसे एक कषाय, तीन वेदों में से एक वेद, हास्य रति और शोक अरति, ये दो युगलों में से एक युगल, नौ योगों में से एक योग इस प्रकार जघन्य ५ प्रत्यय हैं और उत्कृष्ट १ कषाय, १ वेद, हास्य रति तथा शोक अरति, इन दो युगलोंसे

से एक युगल, भय, जुगुप्सा तथा नौ योगों में से एक योग, इस प्रकार सात उत्कृष्ट प्रत्यय हैं। (ध. ८-२७)

अपूर्वकरण गुणस्थान

पूर्व में कभी ऐसा निर्मल भाव हुआ नहीं है, इस कारण इस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण गुणस्थान है। इस गुणस्थानसे आत्मा क्षपक और उपशम श्रेणी मांडता है।

शंका—इस गुणस्थानमें न तो कर्मका क्षय होता है, और न कर्मका उपशम, फिर इस गुणस्थानवर्ती जीवोंको क्षपक और उपशमक कैसे कहा जाता है ?

समाधान—नहीं! क्योंकि भावी अर्थ में भूतकालीन अर्थ के समान उपचार कर लेनेसे आठवें, गुणस्थान में क्षपक और उपशमक व्यवहार की सिद्धि हो जाती है।

(ध. १-१८१)

शंका—पांच प्रकार के भावों में से इस गुणस्थानमें कौनसा भाव पाया जाता है ?

समाधान—क्षपकके क्षायिक, और उपशमकके औपशमिक भाव पाया जाता है।

शंका—इस गुणस्थानमें न तो कर्मका क्षय होता है, और न उपशम ही होता है, ऐसी अवस्थामें यहां पर क्षायिक और औपशमिक भावका सद्भाव कैसे हो

सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि इस गुण स्थान में क्षायिक और औपशमिक भावका सद्भाव उपचारसे माना है। (ध. १-१८२)

प्रश्न—अपूर्वकरण गुणस्थान में जीवका मरण कब होता है ?

उत्तर—अपूर्वकरणके प्रथम समयसे लेकर जबतक निद्रा और प्रचला इन प्रकृतियोंका बंध व्युच्छिन्न नहीं होता है, तब तक अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती संयतका मरण नहीं होता है (ध. ४-३५२)

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान

जिस गुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्त मात्र अनिवृत्तिकरण के कालमेंसे किसी एक समयमें रहनेवाले अनेक जीव जिस प्रकार शरीरके आकार वर्णादि बाह्य रूपसे, और ज्ञानोपयोग आदि अंतरंग रूपसे परस्पर भेदको प्राप्त होते हैं उस प्रकार जिन परिणामों के द्वारा उनमें भेद नहीं पाया जाता है उनको अनिवृत्तिकरण परिणामवाले कहते हैं। और उनके प्रत्येक समयमें उतरोत्तर अनंत गुणी विशुद्धि से बढते हुए एकसे ही परिणाम पाये जाते हैं। तथा ये अत्यन्त निर्मल ध्यानरूप अग्निकी शिखाओं से कर्म वन को भस्म करने वाले होते हैं। (ध. १-१८७)

अनिवृत्तिकरण के काल में संख्यात भाग शेष रहने पर स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, नरकगति तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय जाति, विकलेन्द्रियजाति (द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चौइन्द्रिय), नरकगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, उद्योत स्थावर, सूक्ष्म, और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है। फिर अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ प्रकृतियोंको एक साथ क्षय करता है। यह सतकर्म प्राभृतका उपदेश है। किन्तु कषाय प्राभृतका उपदेश तो इस प्रकार है कि, पहले आठ कषायोंका क्षय हो जानेपर पीछेसे एक अन्तर्मुहूर्तमें सोलह कर्म प्रकृतियोंका क्षय होता है। ये दोनों ही उपदेश सत्य हैं ऐसा कहना घटित नहीं होता है। क्योंकि उनका ऐसा कहना सूत्रों से विरुद्ध पड़ता है। तथा दोनों वचन प्रमाण हैं, यह वचन भी घटित नहीं होता है, क्योंकि, एक प्रमाण को दूसरे प्रमाणका विरोधी नहीं होना चाहिये यह न्याय है। (ध. १-२१७)

प्रश्न—क्षपक श्रेणीमें वंध द्रव्य से उदय और संक्रमण द्रव्यकी संख्या कितनी है?

उत्तर—बंधसे उदय अधिक हैं, और उदयसे संक्रमण अधिक होता है। इनकी अधिकता प्रदेशाग्रसे

असंख्यातगुणित श्रेणी रूप जानना चाहिये। अर्थात् द्रव्य बंधसे उदय द्रव्य असंख्यात गुणा है, और उदय द्रव्यसे संक्रमण द्रव्य असंख्यात गुणा है। (ध. ६–३५६)

प्रश्न—क्षपक श्रेणी में संक्रमण किस प्रकार होता है?

उत्तर—स्त्रीवेद और नपुंसक वेदको पुरुषवेदमें, तथा पुरुषवेद और हास्यादि छह नोकषाय, इन सात नोकषाय को संज्वलन क्रोधमें नियमसे स्थापित करता है।
(ध. ६–३५६)

उपशमश्रेणी वाला ३६ प्रकृतियों का उपशम करता है और क्षपक श्रेणी वाला ३६ प्रकृतियों को क्षयकर दशमें गुणस्थान में जाता है।

प्रश्न—अनिवृत्तिकरणगुणस्थान में बन्धका जघन्य व उत्कृष्ट प्रत्यय कितना है?

उत्तर—अनिवृत्तिकरणगुणस्थान में एक संज्वलन कषाय, एक योग ऐसे जघन्य दो प्रत्यय हैं और उत्कृष्ट वेदके साथ ३ तीन प्रत्यय हैं। (ध. ८–२७)

सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान

इस गुणस्थानमें मात्र सूक्ष्म लोभ है जिसमें मोहनीयका बंध पाड़नेकी शक्ति नहीं है परन्तु तीन घातिया कर्म का बन्ध पड़ता है। उपशम श्रेणी वाला सूक्ष्म लोभ

को उपशमाकर ग्यारहवें गुणस्थानमें जाता है, और क्षपक श्रेणी वाला सूक्ष्म लोभ का नाश कर सीधा बारहवें गुणस्थान में जाता है। सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में लोभ कषाय एक तथा योग एक इसी प्रकार जघन्य व उत्कृष्ट बन्ध का प्रत्यय है। (ध. ८-२७)

उपशांतमोह गुणस्थान

इस गुणस्थान में वीतराग दशाको प्राप्त होता है परन्तु यहाँ से नियमसे गिर जाता है।

शंका—अवस्थित परिणाम वाला उपशान्त कषाय वीतराग मोह में कैसे गिरता है।

समाधान—स्वभावसे गिरता है। अर्थात् पारिणामिक भाव से गिरता है।

उपशान्त कषायका प्रतिपात दो प्रकारका है। १ भवक्षय निबन्धन और २ उपशमन काल क्षय निबन्धन। इनमें भवक्षय से प्रतिपात को प्राप्त हुए जीव के देवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही बन्ध उदीरणा संक्रमणादि रूप सब करण निज स्वरूप प्रवृत्त हो जाते हैं। जो कर्म उदीरणा को प्राप्त हैं वे उदीयावली में प्रवेशित हैं, जो उदीरणाको प्राप्त नहीं हैं वे भी अपकर्षण करके उदयावली के बहार गौपुच्छाकर श्रेणी रूपसे निक्षिप्त होते है। (ध. ६-३१७)

प्रश्न—उपशान्त मोहसे गिरनेवाला जीव सासादन

गुणस्थान को प्राप्त होता है या नहीं ?

उत्तर—द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके कालके भीतर असंयम को भी प्राप्त हो सकता है, संयमासंयमको भी प्राप्त होसकता है, और छह आवली शेष रहने पर सासादन को भी प्राप्त हो सकता है। परन्तु सासादन को प्राप्त होकर यदि मरता है तो नरक गति, तिर्यंचगति और मनुष्यगतिको प्राप्त करने के लिये समर्थ नहीं होता है, नियम से ही देवगति को प्राप्त करता है। यह कषाय प्राभृत चूर्णसूत्र (यतिवृषभाचार्यकृत) का अभिप्राय है, किन्तु भगवान भूतवली के मत अनुसार उपशम श्रेणी से उतरता हुआ सासादन गुणस्थान को प्राप्त नहीं करता है। निश्चयतः नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायु इन तीन आयु में से पूर्व में बांधी गई एक भी आयु से कषायोंके उपशमन के लिये समर्थ नहीं होता।.इस कारण से नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति को प्राप्त नहीं करता है। (ध. ६. ३२१)

इस गुणस्थान में योग का एक प्रत्यय बन्ध का है।

क्षीणमोह गुणस्थान

इस गुणस्थान में आत्मा संपूर्ण वीतराग दशा को प्राप्त होता है। उपशमक की विशुद्धि से क्षपक की विशुद्धियां अनंतगुणी हैं। अतएव आत्मा यहां अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थितिकर नियमसे तेरहवें गुणस्थानमें जाता है। इस गुण-

स्थानमें महजही ज्ञानावरणीकर्म, दर्शनावरणी कर्म और अन्तरायकर्मका नाश कर तेरहवें गुणस्थान के पहले समय में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतसुख और अनन्त-वीर्य की प्राप्ति करता है। इसीं गुणस्थान में वेदनीय कर्म नाम कर्म और गोत्र कर्म की स्थिति सहजही पल्योपमके असंख्यात भाग में हो जाती है। इस गुणस्थान के अन्त में जो सप्तधातु रूप औदारिक शरीर था, कि जिसमें असंख्यात त्रस निगोद था उसी की आयुका आपसे आप अन्त आनेसे वहीं औदारिक शरीर सप्तधातु रहित परम औदारिक स्फटिकमणी रूप हो जाता है। यह सब परि-णामोंकी विचित्रतासे आप से आप हो जाता है। इस गुणस्थानमें मात्र योगका एक बन्ध प्रत्यय है।

सयोग केवली गुणस्थान

इस गुणस्थानके पहले समय में आत्मामें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की प्राप्ति होती है। आठ कर्मों में से चार घाती कर्मों का अभाव हो जाता है। निमित्तकी अपेक्षासे केवली तीन प्रकारका कहा जाता है १ तीर्थङ्कर केवली २ सामान्य केवली ३ अमुख केवली। आत्मिक शक्ति, तीनोंमें समान प्राप्त होती है। कर्म प्रकृतियोंमें, अथवा बाह्य संयोगों में अन्तर है। जब केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है तब इन्द्र

समवशरणादिकी रचना करता है। तब भगवान की दिव्य ध्वनि सहज विना इच्छाके खिरती है।

शंका—केवली के वचन संशय और अनध्यवसाय को पैदा करते हैं, इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान—केवली के ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनंत होनेसे और श्रोताके आवरण कर्मका क्षयोपशम अतिशय रहित होनेसे, केवलीके वचनों के निमित्त से संशय और अनध्यवसाय की उत्पत्ति होती है।

शंका—तीर्थङ्कर के वचन अनक्षररूप होनेके कारण ध्वनिरूप हैं, और इसलिए वे एकरूप हैं, और एक रूप होनेके कारण वे सत्य और अनुभय इस प्रकार दो प्रकार के नहीं हो सकते हैं?

समाधान—नहीं! क्योंकि केवली के वचनमें 'स्यात्' इत्यादि रूपसे अनुभयरूप वचन का सद्भाव पाया जाता है। इसलिये केवली की ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है।

शंका—केवलीकी ध्वनि को साक्षर मान लेने पर उनके वचन प्रतिनियत एक भाषारूप ही होंगे, अशेष भाषा रूप नहीं हो सकेंगे?

समाधान—नहीं! क्योंकि क्रमविशिष्ट वर्णात्मक अनेक पंक्तियोंके समुच्चय रूप, और सर्वश्रोताओंमें प्रवृति

रूप होनेवाली ऐसी केवली की ध्वनि संपूर्ण भाषा रूप होती है ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका—जबकि वह अनेक भाषारूप है तो उसे ध्वनि रूप कैसे माना जा सकता है ?

समाधान— क्योंकि केवलीके वचन इसी भाषा रूप ही हैं ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है, इसलिये उनके वचन ध्वनिरूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

शंका—केवली परमात्मा कवलाहार लेते हैं या नहीं ?

समाधान—केवली कवलाहार लेते ही नहीं, क्योंकि छट्ठे गुणस्थानके बाद आहार संज्ञा ही नहीं है, तब आहार संज्ञाकी उदीरणा कैसे कर सकता है ? जैसे नवें गुणस्थान तक मैथुन संज्ञा है जब मैथुन की उदीरणा पाँचवें गुणस्थानकी ब्रह्मचर्य प्रतिमा में ही नहीं होती है, तब नवें गुणस्थान बाद अब्रह्म मानना न्याययुक्त नहीं। ऐसे आहार संज्ञाका जहाँ अभाव है वहां आहार की उदीरणा मानना न्याय संगत नहीं है।

केवली परमात्माको केवलज्ञान है। वह लोकालोक देखते हैं वह पंचेन्द्रियके मृतक शरीर को भी देखते हैं, ऐसी हालतमें वह अंतरायका पालन करे गाया नहीं करेगा ? यह सब विचारनेसे मालुम होगा कि केवली परमात्मा कवलाहारी नहीं हैं। आहार भूखके दुःख

में ही लिया जाता है। जब अनन्त सुखके धनी को भी भूखका दुःख रह गया तो अनंत सुखके धनी कहाँ रहेंगे?

शंका—केवलीके ११ परीषह कही है, वह कैसे कहा होगा?

समाधान—परीषह २२ कही गई हैं। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन सबके सहन करने के भावका नाम परीषह जय है। यह सभी भाव चारित्र गुणकी पुण्यरूप अवस्था का नाम है। इसमें कौन२ से कर्मके उदयसे होती हैं, उसी अपेक्षासे तत्त्वार्थ सूत्रके नवमें अध्यायमें लिखा है कि—

"ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥ दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥ चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्कारः ॥१५॥ वेदनीये शेषाः ॥१६॥

यथार्थ में परीषह जीतना प्रशस्त रागकी पर्याय है उसमें निमित्त कौनसे कर्म का है यह मात्र दिखाने के लिए कहा गया है कि केवलीके वेदनीय कर्मका सद्भाव होनेके कारणकी अपेक्षासे "एकादशजिने ॥११॥" सूत्र कहा है परन्तु जहां राग ही नहीं रहा वहां कारण क्या करेगा?

शंका—केवली परमात्माको साता तथा असाता वेदनीय कर्मका उदय है तो उसने क्या फल दिया ?

समाधान—-वेदनीय कर्मका कार्य बाह्य सामग्री मिला देना तथा अभाव कराना यही मुख्य कार्य है परन्तु मोह होवे तो उसी में राग करावे यदि मोह न होवेतो मात्र संयोग देकर कर्म खिरजाता है। केवली के राग मोह नहीं है जिससे मात्र बाह्य संयोग मिलाता है। जैसे आपको एक हजार रूपया का लाभ हुआ वह किसका फल है ? उत्तर—यह साता वेदनीय का फल है। उन रुपयोंमें दश रुपये नकली निकले, यह किस कर्मका फल है ? तब कहना होगा कि यह असाता कर्मका फल है। उसी प्रकार साता के उदय में तीर्थंकर केवली को समवशरणकी विभूति मिली है जिसमें मणिरत्नादिकके कंगुरे गढ़ आदि हैं परन्तु आसाताके उदयमें जहां मणिरत्न लगना था वहां मामूली रत्न लग गया है यही असाता कर्मका फल है। परंतु असाता कर्म के फलमें केवली कवलाहार करे वह अज्ञानता ही है। क्योंकि अभी आपको भी असाता कर्मका उदय है आप कवलाहार क्यों नहीं करते ? इससे सिद्ध हुवा कि असाता कर्म के उदय में ही क्षुधा लगे ऐसी बात नहीं है परन्तु असाता कर्म की उदीरणा में ही आहार लिया जाता है। यह आहार छट्ठे गुणस्थानके तीव्र उदयमें ही लिया

जाता है और वह भी क्षयोपशम भाव में ही लिया जाता है परन्तु क्षायक भाव में आहार लिया जाता नहीं तथा औदयिक भाव में भी आहार लिया जाता नहीं है। क्योंकि असाता का उदयतो समय समय में ही हो रहा है तब हम समय समय में क्यों नहीं आहार लेते हैं। इससे सिद्ध हुवा कि केवली परमात्मा कवला लेते ही नहीं हैं।

जब योग निरोध होता है, अर्थात् वाणी खिरना बंद हो जाता है, विहार बंद हो जाता है तब सर्व साधारण जनता को मालुम हो जाता है कि भगवानका निर्वाण दिन निकट में ही आने वाला है। तेरहवें गुणस्थान के अंतमें भगवान के शरीर के परमाणु आप से आप कपूर की तरह विलय हो जाते हैं, तब सयोग केवली का काल पूर्ण होकर आत्मा अयोग केवली गुणस्थान में आरूढ हो जाता है, यहां मात्र कार्माण शरीर है। औदारिक शरीर नहीं रहता है।

प्रश्न—सयोगी जिनके कितने प्राण होते हैं ?

उत्तर—सयोगी जिनके पांच भावेन्द्रियां और भाव मन नहीं रहता है। अतः इन छहके बिना चार प्राण पाये जाते हैं। तथा समुद्घात की अपर्याप्त अवस्था में आयु और काय ये दोही प्राण पाये जाते हैं। परन्तु कितने ही

आचार्य द्रव्येन्द्रियकी पूर्णताकी अपेक्षा दश प्राण कहते हैं, परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि सयोगी जिनके भावेन्द्रियां नहीं पाई जाती हैं। पांचों इन्द्रियावरण कर्मोंके क्षयोपशमको भावेन्द्रिय कहते हैं। परन्तु जिनका आवरण कर्म समूल नष्ट हो गया है उनके वह क्षयोपशम नहीं होता है। और यदि प्राणों में द्रव्येन्द्रियकाही ग्रहण किया जावे तो संज्ञी जीवों के अपर्याप्त कालमें सात प्राणोंके स्थानपर कुल दो ही प्राण कहे जायेंगे क्योंकि उनके द्रव्येन्द्रियोंका अभाव होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि सयोगी जिनके चार अथवा दो प्राण होते हैं। (ध. २-४४४)

केवली जिनके पांचइन्द्रियाँ और मनोबलको छोड़कर शेष चार प्राण होते हैं। तथा योग निरोध के समय वचनबलका अभाव हो जाने पर कायबल, आनापान, और आयु ये तीन प्राण होते हैं। और तेरहवें गुणस्थानके अन्त में कायबल और आयु ये दो प्राण होते हैं तथा चौदहवें गुणस्थान के पहले समय में मात्र आयु प्राण है वहां काय बलका भी अभाव हो जाता है। (ध. ४-४१९)

शंका—जिसका आरंभ किया हुआ शरीर अपूर्ण है उसे अपर्याप्त कहते हैं। परन्तु केवली की सयोगी अवस्था में शरीर का आरंभ तो होता नहीं अतः सयोगीकेवली के

अपर्याप्त पना कैसे बन सकता है ?

समाधान--नहीं ! क्योंकि कपाटादि समुद्घात अवस्था में सयोगी छह पर्याप्ति रूप शक्तिसे रहित है अतः उन्हें अपर्याप्त कहा है। (ध. २-४२०)

शंका—समुद्घात केवली अपर्याप्त कैसे हैं ?

समाधान—उन्हें पर्याप्ततो माना नहीं जाता क्योंकि, औदारिक मिश्र काय योग अपर्याप्तकों के होते हैं इस सूत्रसे उनके अपर्याप्तपना सिद्ध है इसलिये वे अपर्याप्त कहे हैं। (ध. २-४४१)

शंका—केवलियों के समुद्घात सहेतुक होता है या निर्हेतुक ? निर्हेतुक होता है यह दूसरा विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर सभी केवलियों को समुद्घात करने के अनन्तर ही मोक्ष प्राप्तिका प्रसंग प्राप्त होगा। यदि यह कहा जावे कि, सभी केवली समुद्घातपूर्वक ही मोक्ष जाते हैं, ऐसा मानलिया जावे, इसमें क्या हानि है ? सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर लोकपूर्ण समुद्घात करनेवाले केवलियों की वर्ष पृथक्त्वके अनन्तर वीस संख्या होती है यह नियम नहीं बन सकता है ? केवलियोंका समुद्घात सहेतुक होता है यह प्रथम पक्ष भी नहीं बन सकता है ? क्योंकि केवल समुद्घात का कोई हेतु नहीं पाया जाता है। यदि

यह कहा जावे कि तीन अघातिया कर्मोंकी स्थितिसे आयु-कर्मकी स्थितिकी असमानता ही समुद्घात का कारण है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि क्षीण मोह गुणस्थान की चरम अवस्था में संपूर्ण कर्म समान नहीं होते हैं इसलिये सभी केवलियों के समुद्घात का प्रसंग आ जायगा ?

समाधान—यतिवृषभाचार्य के मतानुसार क्षीण कषाय गुणस्थानके चरम समय में संपूर्ण अघातिया कर्मों की स्थिति समान नहीं होनेसे सभी केवली समुद्घात करके ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। परन्तु जिन आचार्यों के मत अनुसार लोकपूर्ण समुद्घात करनेवाले केवलियों की बीस संख्याका नियम है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्घात करते हैं, और कितने नहीं करते हैं।

शंका—कौनसे केवली समुद्घात नहीं करते हैं ?

समाधान—जिनकी संसार व्यक्ति अर्थात् संसारमें रहने का काल वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति के समान है वे समुद्घात नहीं करते हैं, शेष केवली करते हैं।

शंका—अनिवृत्ति आदि परिणामों के समान रहने पर संसार व्यक्ति स्थिति और शेष तीन कर्मों की स्थितिमें विषमता क्यों रहती है ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि संसार की व्यक्ति और कर्म स्थितिके घातके कारणभूत अनिवृत्तरूप परिणामों के

समान रहने पर संसार को उसके अर्थात् तीन कर्मकी स्थिति के समान मान लेनेमें विरोध आता है। कहा है कि

छम्मासा उवसेसे उप्पएणं जस्स केवलं णाणं।
सन्समुग्घाओ सिज्झई सेसा भज्जा समुग्घाए॥

शंका—छह मास प्रमाण आयु कर्मके शेष रहने पर जिस जीवको केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह समुद्घातको करके ही मुक्त होता है, शेष जीव समुद्घात करते भी हैं, और नहीं भी करते हैं। (ध. १-३०२)

प्रश्न—आत्मा मुक्ति अपने परिणामोंसे पाता है कि वज्रवृषभनाराच संहननकी मदद से जाता है ?

उत्तर—आत्मा अपने परिणामोंको निर्मल करके ही मोक्ष पाता है। वज्रवृषभनाराच संहनन कुछ मदद करता नहीं है, क्योंकि पुद्गल अर्थात् जड़ पदार्थ आत्मा को क्या मदद करेंगे ? जैसे क्रोध करने से आँख आपसे आप लाल हो जाती है, परन्तु शान्त परिणामों में आँख लाल बन नहीं सकती, ऐसे ही बारहवां गुणस्थान रूप भाव हुआ कि तुरंत सप्त धातु मय शरीर आपसे आप परम औदारिक बन जाता है, एवं परिणाम निर्मल करने से पूर्व अवस्था में जो सप्तधातु रूप औदारिक शरीर में त्रसरूप निगोद राशि थी वह आपसे आप विलयको प्राप्त हो जाती है एवं १२ वें गुणस्थानके अंत में योगका अभाव होने

से वज्र की हड्डी और वज्र की कील आप से आप विलय होती हैं इसी प्रकार परिणाम निर्मल करने से संहनन आप से आप वदल जाते हैं। वज्रवृषभनाराच संहनन की राह देखनी नहीं पड़ती। जो जीव निगोद में से सीधा मनुष्य पर्याय में आया है उस जीवके जन्मसे वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं था परन्तु परिणाम निर्मल करते ही वही शरीर आपसे आप वज्रवृषभनाराच रूप हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि मुक्ति अपने परिणामोंको निर्मल करनेसे ही होती है दूसरा मार्ग नहीं है।

प्रश्न—सयोग केवलियों के कौनसे कर्मका उदय रहता है ?

उत्तर—तीर्थंकरों के उदय में ३१ प्रकृतियोंका उदय पाया जाता है। मनुष्यगति, पंचेन्द्रिजाति, औदारिक, तेजस, और कार्माण शरीर, समचतुरस्रसंस्थान, औदारिक-शरीरअंगोपांग, ब्रज्रवृषभनाराचसंहनन वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघुत्व, उपघात,परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर शुभ, अशुभ, शुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर यह इकतीस प्रकृतियां तीर्थंकर के उदयमें आती हैं।

सयोग केवली जिनको वंधके योगका मात्र एक

प्रत्यय है।

अयोग केवली गुणस्थान

अयोगी जिनको मात्र एक आयु प्राण है। शरीर और श्वासोच्छ्वास प्राणका तेरहवें के अन्त में अर्थात् चौदहवें गुणस्थानके उत्पाद में ही नाश हो जाता है। वज्रऋषभनाराच संहनन का भी चौदहवें गुणस्थान के पहिले समय में अभाव हो जाता है।

अयोगी जिनके छह पर्याप्ति होती हैं। छहों पर्याप्ति होनेका यह कारण है कि पूर्व से आई हुई पर्याप्तियाँ तथैव स्थित रहती है, इसलिये उपचार से छहों पर्याप्ति कही हैं किन्तु यहां पर पर्याप्ति जनित कोई कार्य नहीं होता है, अतः आयु नामक एक ही प्राण होता है।

शंका—एक आयु प्राणके होनेका क्या कारण है?

समाधान—ज्ञानावरण के क्षयोपशम रूप पांच इन्द्रिय प्राण तो अयोग केवलीके हैं नहीं, क्योंकि ज्ञानावरण कर्मका क्षय होजाने पर क्षयोपशम का अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार आनपान, भाषा और मनः प्राण भी उनके नहीं हैं क्योंकि पर्याप्ति जनित प्राण संज्ञा वाली शक्तिका उनके अभाव है। उसी प्रकार उनके कायबल नामका भी प्राण नहीं है, क्योंकि उनके अयोग्य केवली के नाम कर्म के उदय जनित कर्म और नोकर्म के आग-

मनका कारण जो शरीर इसका अभाव है, इसलिये अयोग केवली के एक आयु प्राण ही होता है ऐसा समझना चाहिये। (ध. २-४४६)

प्रश्न—अयोगीजिन आहारक हैं या अनाहारक हैं ?

उत्तर—चौदहवें गुणस्थान में शरीर निष्पादन के लिये आनेवाली नोकर्म पुद्गल वर्गणाओं के अभाव हो जानेसे अयोगी जिन अनाहारक है। (ध. २-८५४)

प्रश्न—अयोगी जिनके कौनसी कर्म प्रकृतियों का उदय है ?

उत्तर—मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, और तीर्थङ्कर, यह नौ प्रकृतियों का ही उदय होता है।

सयोगी जिन किसी भी कर्म का क्षय नहीं करते हैं। इसके पीछे विहार करके और क्रमसे योग निरोध करके वे अयोग केवली होते हैं। वे भी अपने कालके द्विचरम समय में ७२ प्रकृतियों का क्षय करते हैं। इसके पीछे अपने कालके अन्तिम समय में दोनों वेदनीय में से उदयगत कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस, बादर, पर्याप्त, शुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थङ्कर और उच्चगोत्र इन तेरह प्रकृतियों का क्षय करते हैं। अथवा मनुष्यगति

प्रायोग्यानुपूर्वीके साथ अयोग केवली के द्विचरम समय में ७३ तेहत्तर प्रकृतियों का और चरम समय में १२ बारह प्रकृतियोंका क्षयकर उसी समय में संसारका व्यय और सिद्ध पदकी उत्पत्ति होती है। (ध. १-२२३)

इति भेदज्ञान शास्त्र मध्ये गुणस्थान अधिकार समाप्त हुवा।

मार्गणा का स्वरूप

यह आत्मा अनादिकाल से चौरासीलाख योनिरूप, पौद्गलिक शरीर को अपना मान कर अपने स्वरूप को भूल गया है ऐसे भूले हुवे आत्माको अपने स्वभाव का ज्ञान कराने के लिए मार्गणाकी उत्पत्ति हुई है। मार्गणा १४ चौदह प्रकार की होती हैं। १ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ संयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्यत्व, १२ सम्यक्त्व, १३ संज्ञत्व और १४ आहार मार्गणा। इस प्रकार मार्गणा चौदह हैं।

गति मार्गणा—

गति चार होती हैं। १ मनुष्य गति, २ देवगति, ३ तिर्यञ्च गति, ४ नरकगति। यह गति आत्मा नहीं है, यह पौद्गलिक अवस्था है इनको आत्मा की अवस्था मानना मिथ्यात्व है।

इन्द्रिय मार्गणा--

इन्द्रियाँ पांच होती हैं। १ स्पर्शन, २ रसना, ३ घ्राण, ४ चक्षु और ५ श्रोत्र यह पांचों ही इन्द्रियां पुद्‌गलकी रचना हैं। आत्मा इसको अपनी मानकर अनादि कालसे दुःखी हो रहा है। क्योंकि इन्द्रियोंको अपनी मानने से जब वह इन्द्रियां खराब हो जावेंगी तब नियमसे आत्मा दुखी हो जावेगा। मैं एकेन्द्रिय हूँ मैं द्वीन्द्रिय हूँ, मैं त्रीन्द्रिय हूँ, मैं चतुरिन्द्रिय हूँ और मैं पंचेन्द्रिय हूँ, यह मानना मिथ्यात्व है। यथार्थ में विचाराजाय तो आत्मातो अतीन्द्रिय है, आत्मा में इन्द्रियां होती नहीं हैं। परन्तु संयोग सम्बन्धसे आत्मा में इन्द्रियां है ऐसा मात्र बोला जाता है। जब आत्मा शरीर से चला जाता है तब सब इन्द्रियां शरीरमें रह जाती हैं, इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियां आत्मा की नहीं हैं परन्तु पुद्‌गल की ही हैं।

शंका---जिन जीवोंकों दो इन्द्रियां पाई जाती हैं वे द्वीन्द्रिय जीव हैं ऐसा ग्रहण करने में क्या दोष है ?

समाधान---नहीं, क्योंकि उपयुक्त अर्थ के ग्रहण करने में अपर्याप्त कालमें विद्यमान जीवों के इन्द्रियां नहीं पाई जाने से उनके नहीं ग्रहण होने का प्रसंग आता है।

शंका---क्षयोपशमको इन्द्रिय कहते हैं, द्रव्येन्द्रियको इन्द्रिय नहीं कहते हैं। इसलिये अपर्याप्त कालमें द्रव्येन्द्रिय

के नहीं रहने पर भी द्वीन्द्रियादि पदों के द्वारा उन जीवों का ग्रहण हो जायगा ?

समाधान—नहीं। क्योंकि यदि इन्द्रियका अर्थ क्षयोपशम किया जाय तो जिनका क्षयोपशम नष्ट होगया है, ऐसे सयोग केवलीके अनिन्द्रियपनेका प्रसंग आ जाता है।

शंका—आजाने दो।

समाधान—नहीं। क्योंकि सूत्र सयोग केवलीको पंचेन्द्रियरूप से प्रतिपादन करता है। (ध. ३–३११)

शंका—सयोग केवली और अयोग केवलियोंके संपूर्ण इन्द्रियां नष्ट हो गई हैं, अतएव उनके पंचेन्द्रिय यह संज्ञा कैसे घटित होती है ?

समाधान—नहीं। क्योंकि पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म की अपेक्षासे सयोग केवली और अयोग केवली को पंचेन्द्रिय संज्ञा बन जाती है। (ध. ३–३१७)

काय मार्गणा—

काय छह होती हैं। १ पृथ्वी काय, २ अपकाय, ३ तेज काय, ४ वायु काय, ५ वनस्पति काय, ६ त्रस काय।

यह छहों काय पुद्‌गलकी अवस्थाएं हैं। इनको आत्माकी अवस्था मानना मिथ्यात्व है। काय और आत्मा अलग २

हैं। कायके साथमें आत्माका तादात्म्य सबंध नहीं है, परंतु संयोग सम्बन्ध है। संयोगी चीजको अपनी मानना यह मिथ्यात्व भाव है। संयोगी वस्तुको संयोगी ही जानना सम्यक्त्व है। यद्यपि व्यवहार में बोला जाता है कि यह मेरा शरीर है, तो भी श्रद्धा तो यथार्थ ही ज्ञान कराती है।

पृथ्वी है काय अर्थात् शरीर जिनके उन्हें पृथ्वीकाय जीव कहते हैं ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि पृथ्वी कायका ऐसा अर्थ करने पर विग्रहगतिमें विद्यमान जीवोंके अकायित्वका अर्थात् पृथ्वीकायित्व का अभाव का प्रसंग आता है।

शंका—तो फिर पृथ्वीकायिकका अर्थ कैसा करना चाहिये?

समाधान—पृथ्वीकायिक नामकर्म के उदयसे युक्त जीवों को पृथ्वीकायिक कहते हैं। इस प्रकार पृथ्वीकायिक का अर्थ करना चाहिये।

शंका—पृथ्वीकायिक नामकर्म कहीं भी अर्थात् कर्मों के भेदों में नहीं कहा गया है।

समाधान—नहीं, पृथ्वीकायिक नामका कर्म एकेन्द्रिय नाम कर्मके अन्तर्भूत है।

शंका—यदि ऐसा है तो सूत्रसिद्ध कर्मों की संख्या का नियम नहीं रह सकता है?

समाधान—ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य कहते हैं कि—सूत्र में कर्म आठ ही अथवा उनकी एकसौ अड़तालीस प्रकृतियों की संख्याको छोड़कर दूसरी संख्या का प्रतिषेध करनेवाला "एव" ऐसा पद सूत्रमें नहीं पाया जाता है।

शंका—तो फिर कर्म कितने हैं?

समाधान—लोकमें हाथी, घोडा, तोता, मयूर, मच्छली मगर, भ्रमर, चींटी, लट आदि रूपसे जितने कर्मोंका फल पाया जाता है, कर्म भी उतने ही होते हैं। (ध.३-३३०)

योग मार्गणा—

योग १५ पन्द्रह प्रकारका होता है। ४ मनोयोग, ४ वचनयोग, ७ काययोग। इस प्रकार योग १५ पन्द्रह होते हैं।

मनोयोग चार—१ सत्यमन, २ असत्यमन, ३ उभय मन, ४ अनुभयमन।

वचनयोग चार—१ सत्यवचन, २ असत्य वचन, ३ उभयवचन, ४ अनुभयवचन।

काययोग सात—१ औदारिक काय, २ औदारिक मिश्र, ३ वैक्रियक काय, ४ वैक्रियक मिश्र काय, ५ आहारककाय काय, ६ अहारक मिश्र काय और ७ कार्माण काय।

प्रश्न—सत्यवचन किसको कहते हैं?

उत्तर—तादात्म्य सम्बन्धसे कथन करना वह परमार्थ सत्यवचन है। जैसे आत्मा को आत्मा ही कहना, पुद्-गलको पुद्गल ही कहना।

प्रश्न—अनुभय वचन किसको कहते हैं ?

उत्तर—संयोग सम्बन्धसे बोलना वह अनुभय वचन है। जैसे आत्माको मनुष्य, स्त्री, पुरुष, बैल, हाथी, देव, नारकी कहना यह अनुभय वचन है। वीतरागको पतित पावन कहना, करुणा के सागर कहना इत्यादि अनुभय वचन है। घी का घडा कहना, रोटी का तवा, जलका लोटा, दालकी बटलोई, हलवाकी कढ़ाई, चांवलका डिब्बा गेहूं का बोरा, सुरजमार्का केशर आदि वचन अनुभय वचन हैं।

प्रश्न—मनः योग का क्या स्वरूप है।

उत्तर—जैसे भगवान के रथकी बोली बुल रही है। एक मनुष्यने एकसौ एक रुपया बोली का बोला। तब एक धनी गृहस्थ सोचता है कि मैं एकसौ इक्यावन बोलदूं परन्तु बोल सकता नहीं है। इतने में दूसरे गृहस्थने दो सौ एक रुपया बोल दिया। अब धनी सेठ विचारता है कि मैं दोसौ पिचेत्तर बोलदूं, किन्तु लोभ के कारण बोल सकता नहीं है। इतने में तीसरे गृहस्थ ने तीनसौ एक रुपया बोल दिया। वही धनी सेठ सोचता है कि तीनसौ

पच्चीस बोलदूं परन्तु लोभ कषाय छूटती नहीं हैं। इस कारणसे बोल सकता नहीं हैं। ऐसे ही मनके विकल्पका नाम मनोयोग है।

शंका—ऐसे मनोयोगसे पुण्यका बन्धतो उसको हुआ होगा ?

समाधान—नहीं ! मात्र मनयोगसे पुण्य बन्ध नहीं होता है किन्तु पुण्य बन्धका कारण मंद कषाय रूप आत्मा का परिणाम है। उस धनी सेठका मन्द कषाय रूप परिणाम नहीं हुवा है। यदि मन्दकषाय रूप परिणाम होता तो वह नियम से बोली में रुपया बोल देता। नहीं बोलने में लोभ कषाय ही तो रोकती है। इससे यथार्थ में पुण्य का बन्ध नहीं पडता है।

शंका—ऐसा भाव करने से उस आत्मा को कौनसा फल मिलेगा ?

समाधान—मन्द कषाय बिना मात्र मनके विकल्प से नाम कर्म की शुभ प्रकृति में स्थिति तथा अनुभाग बन्ध बढ जाता है, तथा पाप प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग घट जाता है जिसके फलमें सुन्दर शरीर, वाणी मिलजावे, परन्तु धन न मिले, भिखारी रहे।

शंका—कृत, कारित, अनुमोदनाका तो आगम में समान फल कहा है अतः उसको अनुमोदना का तो फल

मिलना चाहिये।

समाधान—यह अनुमोदना नहीं है। पासमें धन न हो और विचार करे कि यदि मेरे पास में धन होता तो मैं भी ऐसे ही शुभ कार्यमें धन को लगाता। किन्तु धन होते हुए एक पाई शुभ कार्य में खर्च न करे और मात्र विकल्प करे तो वह अनुमोदना नहीं है, मात्र मनका घोड़ा है। ऐसे मन के घोड़ों से वेदनीय कर्म में पुण्यका संक्रमणादि नहीं होता है। बाह्य सामग्रीका मिलना वेदनीय कर्मका फल है, नाम कर्मका फल नहीं है। मन्द कषाय रूप भाव से वेदनीय कर्म की पुण्य प्रकृतियों में संक्रमणादि हो जाता है, परन्तु कषाय मन्द होवे नहीं अर्थात् लोभ छूटे नहीं, मात्र मनके विकल्पसे वेदनीय कर्म में संक्रमणादि नहीं होता किन्तु नाम कर्म में ही शुभ प्रकृतियों में संक्रमणादि हो जाता है जिसके फलमें सुन्दर शरीर, वाणी आदि मिले परंतु धन न मिले। सुन्दर कंठ द्वारा भीख मांगके रोटी खानी पड़े।

यह १५ प्रकारका योग पुद्गलकी अवस्थाएँ हैं इनको आत्मा की मानना यह मिथ्यात्व है?

शंका—योग किसे कहते हैं?

समाधान—मन, वचन और काय सम्बन्धी पुद्गलों

के आलम्बनसे जो जीव प्रदेशों का परिस्पंदन होता है वही योग है।

शंका—यदि ऐसा है तो शरीरी जीव अयोगी हो ही नहीं सकता, क्योंकि शरीर गत जीव द्रव्यको अक्रिय मानने में विरोध आता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आठों कर्मों के क्षीण हो जाने पर जो उर्द्धगमनोपलम्बी क्रिया होती है, वह जीवका स्वाभाविक गुण है, क्योंकि यह कर्मोंदय के बिना ही प्रवृति होती है। स्वस्थित प्रदेशोंको न छोड़ते हुए, अथवा छोडकर जो जीव द्रव्य का अपने अवयवों द्वारा परिस्पन्द होता है वह अयोग है, क्योंकि वह कर्म क्षयसे उत्पन्न होता है। अतः सक्रिय होते हुये भी शरीरी जीव अयोगी सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनके जीव प्रदेशों में तप्तायमान जल प्रदेशोंके सदृश उद्वर्तन और परिवर्तन रूप क्रिया का अभाव है। इसलिये अयोगी को अबन्धक माना है। (ध. ७–१७)

इस शंका में धवलाकार ने जो कहा है इसमें विचार ने की जरूरत है कि—

१ शरीरी जीव अयोगी हो नहीं सकता यह ठीक है परन्तु तेरहवें गुणस्थानके अंतमें शरीरका अभाव होनेसे ही अयोगी बनता है।

२ आठों कर्मोंके क्षीण हो जाने पर जो उर्द्ध्वगमनोपलम्बी क्रिया होती है वह जीवका स्वाभाविक गुण है ऐसा धवलाकार कहते हैं परन्तु उर्द्ध्वगमन आत्मा का स्वभाव नहीं है। गमन करना ही विकार है।

शंका—तब मुक्त आत्माने उर्द्ध्वगमन कैसे किया?

समाधान—जिसको आप उर्द्ध्वगमन कहते हो वह आत्मा की संसार अवस्था है। मुक्त अवस्था नहीं है जैसे-एक जीव मनुष्य पर्याय छोड़कर ऋजुगति से प्रथम स्वर्ग में देवगति में उत्पन्न हुवा, तब वहां व्यय पर्याय कब तक मानोगे और उत्पाद पर्याय कहां मानोगे? यह विचारना चाहिये? जब तक देव पर्याय उत्पन्न न हो तब तक व्यय पर्याय है। उसी प्रकार एक जीवने मनुष्य पर्याय का व्यय कर ऋजुगति से सिद्ध पर्याय की प्राप्ति की तब सिद्ध पर्याय की उत्पत्ति कहां से मानोगे? तब मालुम होता है कि जब तक सिद्ध पदकी उत्पत्ति न होवे तब तक व्यय पर्याय ही है। इससे सिद्ध हुवा कि मुक्त आत्माने गमन किया ही नहीं।

३ धवलाकार लिखते हैं कि "अतः सक्रिय होते हुये भी शरीरी जीव अयोगी सिद्ध होता है" यह कहना कहांतक सत्य है वह विचारना चाहिये। चौहहवें गुणस्थानके पहले समय में शरीर रहता ही नहीं है जिससे सयोगी जिन

अयोगी होता है। परन्तु शरीर सहित जीव को अयोगी मानना न्याय युक्त नहीं है। क्योंकि जहां कारण हो वहां कार्य जरूर होना ही चाहिये। परन्तु कारण का अभाव होने से कार्य का भी जरूर अभाव होता है। चौदहवें गुणस्थान में मात्र नौ प्रकृतियों का ही उदय है। १ मनुष्यगति, २ पंचेन्द्रिय जाति ३ त्रस ४ बादर ५ पर्याप्त ६ शुभग ७ आदेय ८ यशःकीर्ति ९ तीर्थंकर। जहां शरीर का उदय ही नहीं है तो उसका फल रूप शरीर कैसे रह सकता है। इससे सिद्ध हुवा कि शरीरी जीव अयोगी होते ही नहीं परन्तु अशरीरी ही जीव अयोगी होते हैं।

प्रश्न—ऋजुगति में कौनसा योग और आनुपूर्वी है?

उत्तर—ऋजुगति में तो कार्माण योग न होकर औदारिक मिश्र और वैक्रियक मिश्रकाय योग ही होते हैं। ऋजुगति से उत्पन्न होनेवाले जीवके प्रथम समय में ही विवक्षित क्षेत्र में उत्पति हो जाने से संस्थान नाम कर्म का उदय हो जाता है। इसलिये आनुपूर्वी नहीं होती है। क्योंकि आनुपूर्वी और संस्थान नामकर्मों से उत्पन्न होने वाले आकार भिन्न हैं एकसे नहीं हैं। (ध. ४-३०)

प्रश्न—मनोयोग, वचनयोग का जघन्य अन्तर काल कितना है?

उत्तर—मनोयोग वचनयोगका कमसे कम अन्तर काल अन्तर्मुहूर्त है।

शंका—मनोयोगी और वचनयोगी जीवोंका एक योग से दूसरे योगमें जाकर पुनः उसी योगमें लौटने पर एक समय प्रमाण अन्तर क्यों नहीं पाया जाता?

समाधान—नहीं पाया जाता! क्योंकि जब एक मनोयोग और वचनयोगका विघात हो जाता है, या विवक्षित योग वाले जीवका मरण हो जाता है तब केवल एक समय के अन्तर से पुनः अनन्तर समय में उसी मनोयोग या वचनयोगकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। (ध.७–२०५)

प्रश्न—काययोगी का जघन्य अन्तर कितना है?

उत्तर—काययोगी जीवोंका अन्तर कमसेकम एक समय तक का अन्तर होता है। क्योंकि काययोगसे मनोयोग में या वचनयोग में जाकर एक समय रह कर दूसरे समय में मरण करने या योग के व्याघातित होने पर पुनः काययोगको प्राप्त हुए जीवके एक समय जघन्य अन्तर पाया जाता है। (ध. ४–२०६)

प्रश्न—वैक्रियिक मिश्र काययोगी का उत्कृष्ट अंतर कितना होता है?

उत्तर—वैक्रियिक मिश्र काययोगी का उत्कृष्ट उत्कर्ष से बारह मुहूर्त होता है। क्योंकि, देव, अथवा

नारकियोंमें न उत्पन्न होनेवाले जीव यदि बहुत अधिक काल तक रहते हैं तो बारह मुहूर्त तक ही रहते हैं। (ध. ७-४८५)

वेद मार्गणा

वेद तीन होते हैं। १ स्त्रीवेद २ पुरुषवेद ३ नपुंसक वेद। यह तीनों वेद आत्मा के परिणाम हैं। स्त्रीवेदमें पुरुष के साथ रमनेका भाव होता है। पुरुषवेद में स्त्रीके साथ रमनेका भाव होता है। नपुंसकवेद में स्त्री तथा पुरुष दोनों के साथ रमने का भाव होता है। इन तीनों भावका नाम भाववेद है। तथा नोकषाय, वेदनीय, मोहनीय नामक कर्मकी प्रकृति का नाम द्रव्यवेद है। पुरुष स्त्री रूपी ढांचे को द्रव्य वेद मानना भूल है। यह तो नामकर्मकी अंगोपांग नामक कर्म प्रकृतिका फल है।

प्रश्न—स्त्री वेदी जीवों के अपर्याप्त काल में कौनसा गुणस्थान होता है ?

उत्तर—स्त्री वेदी जीवों के अपर्याप्त काल में मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान होता है। (ध.२–६७४)

प्रश्न—मनुष्यनियों में (स्त्री वेदमें) क्षायक सम्यग्दृष्टि जीव कितने हैं ?

उत्तर—मनुष्यनियोंमें (स्त्री वेद में) असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतमें क्षायक

सम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम हैं। क्योंकि अप्रशस्त वेदके उदयके साथ दर्शन मोहनीयको क्षपण करके वाले जीव बहुत नहीं पाये जाते। (ध. ५-२७८)

भाव स्त्रीवेदी तथा भाव नपुंसकवेदी पुरुषको आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती है एवं मनःपर्ययज्ञान और परिहार विशुद्धि संयम भी उत्पन्न नहीं होते हैं।

शंका—मैथुन संज्ञा का वेद मार्गणामें अन्तर्भाव होता है या नहीं?

समाधान—नहीं! क्योंकि तीनों वेदोंके उदय सामान्यके निमित्तसे उत्पन्न हुई मैथुन संज्ञा और वेदोंके उदय विशेष स्वरूप वेद इन दोनोंमें एकत्व नहीं बन सकता है। (ध. २-४१३)

कषाय मार्गणा—

कषाय २५ (पच्चीस) होती हैं। १ अनंतानुबंधी, २ अप्रत्याख्यान, ३ प्रत्याख्यान, ४ संज्वलन। इनमेंसे प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभरूप आत्म परिणाम यह सोलह कषाय तथा नौ नोकषाय—१ हास्य, २ रति, ३ अरति, ४ शोक, ५ भय, ६ जुगप्सा, ७ स्त्रीवेद, ८ पुरुषवेद और ९ नपुंसकवेद। यह भी आत्माके परिणाम हैं। यही नौ मिलकर २५ कषायरूप भाव होते हैं। यह आत्माके चारित्र नामके गुणके विकारी परिणाम

हैं यही आकुलताकी जननी है। इसही परिणामके मिटने से ही अनाकुल दशाकी प्राप्ति होती है।

शंका-परिग्रह संज्ञा लोभ कषायमें अन्तर्भाव होती है?

समाधान-परिग्रह संज्ञा भी लोभ कषायके साथ एकत्वको प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि बाह्य पदार्थोंको विषय करनेवाला होनेके कारण परिग्रह संज्ञाको धारण करनेवाले लोभसे, लोभ कषायके उदय रूप सामान्य लोभ में भेद है। अर्थात् बाह्य पदार्थों के निमित्तसे जो लोभ होता है उसे परिग्रह संज्ञा कहते हैं, और लोभ कषायके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोंको लोभ कहते हैं।

शंका—यदि यह चारों ही संज्ञाएँ बाह्य पदार्थों के संसर्गसे उत्पन्न होती हों तो अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवों के संज्ञाओंका अभाव हो जाना चाहिये।

समाधान-नहीं! क्योंकि अप्रमत्तोंमें उपचारसे उन संज्ञाओंका सद्भाव स्वीकार किया गया है। (ध. २-४१३)

ज्ञान मार्गणा—

ज्ञान आठ प्रकारका होता है। १ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मनःपर्ययज्ञान, ५ केवलज्ञान, ६ कुमतिज्ञान, ७ कुश्रुतज्ञान और ८ कुअवधिज्ञान। यह आत्मा की परणति है। कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान तथा कुअवधिज्ञान जब तक आत्मामें मिथ्यात्वरूप भाव हैं तब तक कहे जाते हैं,

मिथ्यात्वरूप भावका अभाव होनेसे वही ज्ञान सुज्ञान कहे जाते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनःपर्यय-ज्ञान यह चार ज्ञान आत्माके पराधीन ज्ञान हैं। इन चारों ज्ञानकी अवस्था आत्माके ज्ञान नामक गुणकी विकारी अवस्था है। केवलज्ञान आत्माकी स्वाभाविक अवस्था है। यही अवस्था प्रगट हुए बाद कभी भी नाश नहीं होती है।

प्रश्न—प्रज्ञा और ज्ञानमें क्या भेद है?

उत्तर—गुरुके उपदेश से निरपेक्ष ज्ञानकी हेतु भूत जीवकी शक्तिका नाम प्रज्ञा है और उसका कार्य ज्ञान है इस कारण दोनों में भेद है। (ध. ६-८४)

संयम मार्गणा—

संयम ७ सात है। १ असंयम, २ संयमासंयम, ३ सामायिक, ४ छेदोपस्थापना, ५ परिहार विशुद्धि, ६ सूक्ष्म सांपराय और ७ यथाख्यात संयम। आत्मामें जितने अंश में वीतराग भावकी प्राप्ति होती है वह तो संयमभाव है और जितना सराग भाव है वह असंयम भाव है।

शंका—संयम मार्गणा के अनुवादसे संयमासंयम और असंयम इन दोनोंका ग्रहण कैसे होता है?

समाधान—संयम मार्गणा के अनुवादसे न केवल संयम का ही ग्रहण होता है, किन्तु संयम, संयमासंयम, और असंयमका भी ग्रहण होता है।

शंका—यदि ऐसा है तो इस मार्गणाको संमयानुवाद का नाम देना युक्त नहीं है ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि "आम्रवन" वा "निम्ब वन" के समान प्राधान्य पदका आश्रय लेकर "संयमानुवादसे" यह व्यपदेश करना युक्तियुक्त हो जाता है।

(ध. ४–२८७)

दर्शन मार्गणा—

दर्शन चार प्रकारका होता है । १ चक्षुदर्शन, २ अचक्षुदर्शन, ३ अवधिदर्शन और ४ केवलदर्शन। इनमें प्रथम के तीन दर्शन परोक्ष दर्शन है, अर्थात् पराधीन है, और मात्र केवल दर्शन प्रत्यक्ष दर्शन है । यही चार प्रकार का दर्शन आत्माके दर्शन गुणकी पर्याय है।

शंका—उपयोगका ज्ञान दर्शन मार्गणा में अन्तर्भाव होता है।

समाधान—स्व और परको ग्रहण करनेवाले परिणाम विशेषको उपयोग कहते हैं। वह उपयोग ज्ञान मार्गणा में और दर्शनमार्गणा में अन्तर्भूत नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान और दर्शन, इन दोनों के कारणरूप ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षयोपशम को उपयोग मानने में विरोध आता है। (ध. २–४१३)

लेश्या मार्गणा—

आत्मा और प्रवृत्ति (कर्म) का संश्लेषण अर्थात् संयोग करनेवाली लेश्या कहलाती है। अथवा जो कर्मों से आत्माको लेप करती है वह लेश्या है। अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, और योग ये लेश्या हैं। इस प्रकार लेश्याका लक्षण करने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहां पर प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्याय वाची ग्रहण किया है, अथवा कषाय में अनुरंजित योगकी प्रवृति को लेश्या कहते हैं। इस प्रकार लेश्याका लक्षण करने से केवल कषाय और केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं, किंतु कषायानुविद्ध योग प्रवृतिकों ही लेश्या कहते हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है। इससे बारवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियों के केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं, ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिये, क्योंकि लेश्या में योगकी प्रधानता है, कषाय प्रधान नहीं हैं, क्योंकि वह योग प्रवृत्ति का विशेषण है। अतएव उसकी प्रधानता नहीं हो सकती है। कहा भी है कि—

लिपंदि अप्पी कीरदि एदाए णियय पुण्य पावंच ।
जीवो त्ति होई लेस्सा-लेस्सा गुण जाणय क्जादा ।६४।

अर्थ—जिसके द्वारा जीव पुण्य और पापसे अपनेको

लिप्त करता है उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं, ऐसा लेश्या के स्वरूपको जाननेवाले गणधर देव आदि ने कहा है। (ध. १-१५०)

शंका--योग और कषाय के कार्य से भिन्न लेश्या का कार्य नहीं पाया जाता है इसलिये उन दोनों से भिन्न लेश्या नहीं मानी जा सकती है ?

समाधान--नहीं ! क्योंकि विपरीतताको प्राप्त हुए, मिथ्यात्व, अविरत आदिके आलम्बनरूप आचर्यादि बाह्य पदार्थों के संपर्क से लेश्याभाव को प्राप्त हुए योग और कषायोंसे केवल योग और केवल कषायसे भिन्न संसार की वृद्धिरूप कार्य की उपलब्धि होती है, जो केवल योग और केवल कषायका कार्य नहीं कहा जा सकता। इसलिये लेश्या उक्त दोनों से भिन्न है, यह बात सिद्ध हो जाती है। कषायका परिणाम छह प्रकारका होता है। वह इस प्रकार है ! तीव्रतम तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम। इन छह प्रकारके कषायके परिणामसे उत्पन्न हुई परिपाटी क्रमसे लेश्या भी छः हो जाती हैं। १ कृष्ण, २ नील, ३ कापोत, ४ पीत, ५ पद्म और ६ शुक्ललेश्या।

(ध. १ ३८७)

कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्यावाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक

होते हैं।

पीत लेश्या और पद्मलेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्या-दृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक होते हैं।

शुक्ललेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग केवली गुणस्थान तक होते हैं।

शंका—जिस गुणस्थान में कषाय का उदय पाया नहीं जाता है तो फिर वहां शुक्ललेश्या किस कारण से कही ?

समाधान—यहां पर कर्म और नोकर्म लेपके निमित्त भूत योग का सद्भाव पाया जाता है इसलिये शुक्ल लेश्या कही है। (ध. १-३९१)

शंका—केवल योगको लेश्या संज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है ?

समाधान— नहीं ! क्योंकि जो लेपन करती है वह लेश्या है। इस निरुक्तिके अनुसार योगके भी लेश्या संज्ञा सिद्ध है।

यथार्थ में विचारा जावे तो लेश्या क्रिया गुण की पर्याय का नाम है। लेश्याका अर्थ है प्रवृत्ति करना। कषाय चारित्र गुण की विकारी पर्याय का नाम है। दोनों अलग २ आत्मा के गुण हैं। एक गुण दूसरे गुणका कार्य कर ही नहीं सकता यही मानना अनेकान्त है।

जिनागम में प्रायः कर लेश्या का जहां २ वर्णन किया है वहां लेश्या को कषाय में गर्भित कर वर्णन किया गया है। इसी अपेक्षा से ही लेश्या का लक्षण कषायसे अनुरंजित योगकी प्रवृत्ति को लेश्या कही जाती है, परन्तु परमार्थसे विचारा जावे तो यह योग्य नहीं है। क्योंकि कषाय अलग गुण की पर्याय है और लेश्या अलग गुण की पर्याय है। एक गुणमें दूसरा गुणका अन्योन्य अभाव है ऐसा स्वीकार न करनेवाले जीवको अनेकान्त का ज्ञान नहीं है। देखिये नरक में अशुभ ही लेश्या है तो भी नारकी नियम से मरकर संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होता है। जब प्रथम दूसरे स्वर्गके जीव पीत लेश्यावाले हैं तो भी मरकर निगोद में अर्थात् एकेन्द्रिय में जा सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यह लेश्या का फल नहीं है परन्तु मात्र कषाय का ही फल है। इससे सिद्ध हुवा कि कषाय अलग है लेश्या अलग है। केवली परमात्मा के कषाय नहीं है परन्तु लेश्या है। लेश्या का नाम है क्रिया गुणकी पर्याय जिससे भगवान विहार करते हैं। अर्थात् गमनागमन करते हैं वही लेश्या है जिसको प्रवृत्ति कहते हैं। लेश्या दुःख दायक नहीं है दुःख दायक मात्र कषाय भाव है। केवली परमात्मा के लेश्या होते हुए भी अनन्त सुख है। जब सर्वार्थ सिद्धिके देवको परम शुक्ल लेश्या होते हुए

भी कषाय के कारण महा दुःख ही है।

शंका—औदारिक मिश्र काययोगी जीवोंके भावसे छह लेश्या होनेका क्या कारण है ?

समाधान—औदारिक मिश्र काययोग में वर्त्तमान मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंके भावसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्या ही होती हैं। और कपाट समुद्घात-गत औदारिक मिश्र काययोगी सयोग केवली के एक शुक्ल लेश्या ही होती है। किन्तु जो देव और नारकी, मनुष्य गति में उत्पन्न हुये हैं औदारिक काययोग में वर्तमान हैं और जिनकी पूर्वभव सम्बन्धी भावलेश्याएँ अभी तक नष्ट नहीं हुई हैं, ऐसे जीवोंके भावों से छहों लेश्यायें पाई जाती है, इसलिये औदारिक मिश्र काययोगी जीवोंके छहों लेश्याएँ पाई जाती। इसलिये औदारिक मिश्र काययोगी जीवों के छहों लेश्या कही गई हैं।

शंका—मरणकाल में लेश्यओं का परिवर्तन किसके होता है ?

समाधान—तिर्यञ्च और मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले परमार्थके अजानकार और तीव्र लोभ कषायवाले ऐसे मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देवों के मरते समय संक्लेश उत्पन्न होजाने से तेज (पीत) पद्म, और शुक्ल लेश्यायें नष्ट होकर कृष्ण, नील और कापोत लेश्या-

ओंमें यथासंभव कोई एक लेश्या हो जाती है, किन्तु जो मनुष्योंमें ही उत्पन्न होनेवाले हैं, मंद लोभ कषायवाले हैं, परमार्थके जानकार हैं, और जिन्होंने जन्म, जरा और मरणके नष्ट करनेवाले अरहन्त भगवन्त में अपनी बुद्धिको लगाया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि देवोंके चिरंतन तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यायें मरण करने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त तक नष्ट नहीं होती हैं।

शंका—लेश्याका जघन्य काल एक समयका होता है या नहीं, एवं लेश्यामें परिवर्त्तन किस प्रकार होता है?

समाधान—जैसे नील लेश्यामें वर्त्तमान किसी जीवके उस लेश्या के काल क्षय हो जानेसे कृष्ण लेश्या हो गई और वह उसमें सर्व लघु अन्तर्मुहूर्त काल रहकर नील लेश्या वाला हो गया।

शंका—कृष्ण लेश्या के पश्चात् कापोत लेश्या वाला क्यों नहीं हुआ?

समाधान—नहीं! क्योंकि कृष्ण लेश्याके परिणति जीवके तदनन्तर ही कापोत लेश्यारूप परिणमन होनेकी शक्ति का अभाव है।

शंका— यहां पर योग परिवर्त्तन के समान एक समयरूप जघन्य काल क्यों नहीं पाया जाता है?

समाधान- नहीं! क्योंकि योग और कषायके समान

लेश्यामें लेश्याका परिवर्तन अथवा गुणस्थानका परिवर्तन अथवा मरण और व्याघातसे एक समय कालका पाया जाना असम्भव है। इसका कारण यह है कि न तो लेश्या परिवर्त्तन के द्वारा एक समय पाया जाता है, क्योंकि, विवक्षित लेश्यासे परिणत हुए जीव के द्वितीय समय में उस लेश्या के विनाशका अभाव है। तथा इसी प्रकार से अन्य गुणस्थान को गये हुए जीव के द्वितीय समय में अन्य लेश्या में जाने का भी अभाव है। न गुणस्थान परिवर्त्तन की अपेक्षा एक समय संभव है, क्योंकि विवक्षित लेश्या से परिणत हुए जीव के द्वितीय समय में अन्य गुणस्थान के गमन का अभाव है। न व्याघात की अपेक्षा ही एक समय संभव है क्योंकि, वर्तमान लेश्या के व्याघातका अभाव है। और न मरण की अपेक्षा ही एक समय संभव है, क्योंकि, विवक्षित लेश्या से परिणत हुए जीवके द्वितीय समयमें मरणका अभाव है। (ध.४-४५६)

शंका--पद्म लेश्या के काल में विद्यमान कोई प्रमत्त संयत उस लेश्या के काल क्षय से तेजो लेश्या से परिणत होकर द्वितीय समय में अप्रमत्त संयत क्यों नहीं हो जाता है?

समाधान--नहीं! क्योंकि हीयमान लेश्याके साथ अप्रमत्त गुणस्थान के ग्रहण करने का अभाव है।

शंका—तो उक्त प्रकारका जीव मिथ्यात्वादि नीचेके गुणस्थान को क्यों नहीं प्राप्त हो जाता है ?

समाधान—नहीं ! क्योंकि तेजो लेश्या में गिर करके अन्तमुहूर्त्त रहे बिना नीचे के गुणस्थानों के ग्रहण करने का अभाव है। (ध. ४–४६६)

प्रश्न—कौनसी लेश्यामें प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है ?

उत्तर—कृष्णादि छहों लेश्यामें से किसी एक लेश्या वाला हो किंतु यदि अशुभ लेश्या हो तो हीयमान होना चाहिये, और यदि शुभ लेश्या हो तो वर्धमान होना चाहिये। (ध. ६–२०७)

भव्यत्व मार्गणा—

भव्यत्व मार्गणा दो प्रकारकी है। १ भव्य, २ अभव्य । भव्य, अभव्य आत्माके श्रद्धा नामकी गुणकी पर्याय हैं। यह पर्याय सहज उत्पन्न अनादिसे हैं। यह पर्याय कर्मके सद्भाव अथवा अभावमें हुई नहीं है, इसलिये इसको पारिणामिक भावमें गिना है। भव्य-पर्याय अनादि सान्त भी क्षायक सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा से होती है। और भव्य पर्याय सादि सान्त भी उपशम और क्षयोपशम से गिरे हुए जीवों के होती है। अभव्य पर्याय अनादि अनंत है। अभव्य जीव के चार लब्धि रूप परिणाम हो सकते हैं।

कहा भी है कि—

खय उवसमो विसोही देसण पाओग्ग करणलद्धीय।
चत्तारि विसामण्णा करणं पुण होइ सम्मत्ते ॥ १ ॥

अर्थ—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग और करण ये पांच लब्धियां होती हैं। इनमें से प्रारंभ की चार तो सामान्य हैं, अर्थात् भव्य और अभव्य जीव, इन दोनों के होती हैं, किंतु पांचवी करण लब्धि सम्यक्त्व उत्पन्न होने के समय भव्य जीव के ही होती है।

(ध. ६–१३९)

शंका–देशना लब्धि किसको कहते हैं ?

समाधान–छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के उपदेशका नाम देशना है। उस देशनासे परिणत आचार्य आदिकी उपलब्धिको और उपदिष्ट अर्थके ग्रहण, धारण तथा विचारणकी शक्तिके समागमको देशना लब्धि कहते हैं।

(ध. ६–२०४)

श्रीधवल ग्रंथके सातवें खण्डके पृष्ठ १७८ में अभव्य भावके बारेमें निम्न प्रकार शंका की है—

शंका–अभव्य भाव जीवकी एक व्यञ्जन पर्यायका नाम है इसलिये उसका विनाश अवश्य होना चाहिये, नहीं तो अभव्यत्वके द्रव्य होनेका प्रसंग आजायगा ?

समाधान–अभव्यत्व जीवकी व्यञ्जन पर्याय भलेही

हो, पर सभी व्यञ्जन पर्यायका नाश अवश्य होना चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे एकांत वाद का प्रसंग आजायगा। ऐसा भी नहीं है कि, जो वस्तु विनिष्ट नहीं होती है, वह द्रव्य ही होना चाहिये क्योंकि जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जाते हैं उसे द्रव्य रूपसे स्वीकार किया गया है।

इस शंकामें अभव्य भावको व्यञ्जन पर्याय मानी है। परन्तु व्यंजन पर्याय तो प्रदेशत्व नामक गुणकी होती है और प्रदेशत्व नामक गुण छहों द्रव्योंमें पाया जाता है, इसलिये अभव्य पर्याय किस गुणकी होनी चाहिये यह विचारनेका विषय है।

जिस जीवमें भव्य भाव है उस जीवमें सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी शक्ति है, और जिस जीवमें अभव्य भाव है उस जीवमें सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी शक्ति नहीं है।

सम्यक्त्व मार्गणा—

यह मार्गणा छह प्रकारकी होती है। १ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ क्षायोपशमिक, ५ औपशमिक और ६ क्षायक। यह छहों भाव आत्माके श्रद्धा नामके गुणकी अवस्था हैं। सब गुणोंकी शुद्ध अथवा अशुद्ध अवस्था होती है, परंतु कर्मकी अपेक्षासे छह भेद पडे हैं।

संज्ञत्व मार्गणा—

संज्ञत्व मार्गणा दो प्रकारकी होती है। १ संज्ञी और २ असंज्ञी। जिस जीवको ज्ञानोपयोग करनेमें सहायक पौद्‌गलिक मन मिला है वही संज्ञी जीव कहलाता है, और जिस जीवको ज्ञानोपयोग करनेमें सहायक पौद्‌गलिक मन नहीं मिला है वह असंज्ञी जीव है। यह मन, जबतक क्षायोपशमिक ज्ञानकी अवस्था होती है तबतक सहायक है। क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान पराधीन ज्ञान है। ज्ञान का विकास होते होते यदि पौद्गलिक मन बिगड़ जावे तो आत्मा ज्ञान कर नहीं सकता है, उसी कालमें आत्माका ज्ञान लब्धिरूप रहता है परंतु उपयोग रूप कार्य कर नहीं सकता है। मनका सहारा बारहवें गुणस्थान के अंततक लिया जाता है। तो भी मन आत्मिक गुण नहीं है वह तो पौद्‌गलिक संयोगी वस्तु है, वह जड़ पदार्थ है।

आहारक मार्गणा—

यह मार्गणा दो प्रकारकी है। १ आहारक २ अनाहारक। जब जीव बाह्य शरीरका परमाणु ग्रहण करता है तब वह जीव आहारक कहा जाता है और जो जीव बाह्य शरीर का परमाणु ग्रहण नहीं करता वह अनाहारक जीव कहा जाता है। जीव विग्रहगतिमें एवं समुद्घात अवस्था

में अनाहारक ही रहता है। जब चौदवां गुणस्थान होता है तब बाह्य शरीरका अभाव हो जाने से वहां जीव अनाहारक होता है बाकी की अवस्था में जीव आहारक ही है।

शंका—कार्माण काय योग की अवस्थामेंभी कर्म-वर्गणाओं के ग्रहण का अस्तित्व पाया जाता है, इस अपेक्षा से कार्माण काय योगी जीवों को आहारक क्यों नहीं कहा जाता है?

समाधान—उन्हें आहारक नहीं कहा जाता है। क्योंकि कार्माण काय योग के समय नो कर्म वर्गणाओं के आहारका अधिक से अधिक तीन समय तक विरहकाल पाया जाता है। (ध. २–६६६)

इति 'भेद ज्ञान' शास्त्र मध्ये मार्गणा अधिकार समाप्त हुआ।

नव पदार्थ का

नवतत्त्वका स्वरूप

नव तत्त्व अर्थात् पदार्थों का संक्षेप स्वरूप और नाम निम्न प्रकार है। १ जीवतत्त्व, २ अजीवतत्त्व, ३ आश्रव-तत्त्व, ४ पापतत्त्व, ५ पुन्यतत्त्व, ६ बन्धतत्त्व, ७ संवरतत्त्व, ८ निर्जरातत्त्व और ९ मोक्षतत्त्व। इनमें मात्र जीवतत्व निश्चयनयका विषय है। और आठ तत्व व्यवहारनय के विषय हैं। जिसको द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय भी कहा जाता है।

१ जीवतत्त्व—

आत्माका जो अनादि अनंत स्वभाव है वही मात्र जीवतत्त्व है। मात्र ज्ञायक स्वभाव ही, चैतन्यका पिण्ड, ज्ञानकाघन, वही मात्र जीवतत्त्व है। जिसमें न गुण गुणीका भेद होता है, न गुण पर्यायका भेद होता है, ऐसा अखंड ज्ञान ज्योति परम पारिणामिक भाव जीवतत्व है। वह जीवतत्त्व कैसा है?

"जिसमें कालापीला आदि वर्ण नहीं, जिसमें सुगन्ध दुर्गन्ध नहीं, जिसमें खट्टा मीठादि रस नहीं हैं जिसमें शीत उष्णादि स्पर्श नहीं है, जिसमें औदारिकादि शरीर नहीं हैं, जिसमें समचतुरस्रादि संस्थान नहीं है, जिसमें वज्रवृषभ नाराचादि संहनन नहीं है, जिसमें प्रीतिरूप राग भाव नहीं हैं, जिसमें अप्रीतिरूप द्वेष भाव नहीं है, जिसमें यथार्थ तत्त्वकी अप्राप्तिरूप मोह नहीं है, जिसमें मिथ्यात्व कषायादि प्रत्यय नहीं है जिसमें ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य कर्म नहीं है, जिसमें पौद्गलिक शरीर नहीं है, जिसमें कर्मकी शक्तिका अविभाग प्रतिच्छेदों का समूहरूप वर्ग नहीं है, जिसमें वर्गोंका समूहरूप वर्गणा नहीं है, जिसमें मन्द तीव्र रस रूप पौद्गलिक कर्मके समूह कर विशिष्ट वर्गोंकी वर्गणा का स्थान रूप स्पर्धक भी नहीं है जिसमें स्वपर के एकपने का निश्चयआशय होने पर विशुद्ध चैतन्य परिणामसे

जिनका जुदापना लक्षण है ऐसा अध्यात्म स्थान भी नहीं है, जिसमें पौद्गलिक कर्म प्रकृतियों का रस रूप अनुभाग स्थान भी नहीं है, जिसमें मन, वचन, काय रूप पौद्गलिक योग स्थान भी नहीं है, जिसमें पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध स्थान भी नहीं है, जिसमें पौद्गलिक कर्मोंका फल रूप उदयस्थान भी नहीं है, जिसमें गति आदि मार्गणा स्थान भी नहीं है, जिसमें पौद्गलिक कर्मों के साथमें रहने रूप स्थिति बन्ध स्थान भी नहीं है, जिसमें तीव्र कषायो रूप संक्लेश स्थान भी नहीं है, जिसमें मन्द कषायों रूप विशुद्धि स्थान भी नहीं है, जिसमें चारित्र मोहके उदयकी क्रमसे निवृत्तिरूप संयम लब्धि स्थान भी नहीं है, जिसमें पर्याप्त अपर्याप्तादि जीव स्थान भी नहीं है, जिसमें मिथ्यात्वादि गुणस्थान भी नहीं है ऐसा मात्र ज्ञानज्योति, चैतन्यपिण्ड—परम पारिणामिक भाव मात्र जीव तत्व है। जो जीव तत्व मात्र निश्चयनय का विषय है। जो जीव तत्व मात्र दर्शन चेतना का विषय है। जो जीव तत्व मात्र सम्यग्दर्शनका ध्येय है। जीव तत्व वह है कि जिसके लक्ष्य विन्दु पर जीवमोक्ष तत्वकी उपलब्धि करता है। वह जीव तत्व जयवन्त हो, जयवन्त हो, जयवन्त हो।

शंका—जीवतत्व और जीवद्रव्य में क्या भेद है?

समाधान—जीवतत्व मात्र ज्ञायक स्वभावका नाम,

अर्थात् चैतन्य पिण्डका नाम अथवा परमपारणामिक भावका नाम जीवतत्व है, जब कि अनन्तगुण और अनन्त गुणोंकी शुद्धाशुद्ध अवस्था का एवं जीव और पुद्गलकी मिश्रित पर्यायका धारण करनेवाला जीव द्रव्य है, यह इसमें भेद है।

कैसा है जीवतत्त्व ? वर्णादिक अथवा राग मोहादिक आदि सभी भाव इस पुरुष आत्म तत्त्व से भिन्न है इस कारण अन्तर्दृष्टिसे देखने वाले को ये सभी भाव नहीं दीखते केवल एक चैतन्य भात्र स्वरूप "चैतन्यपिण्ड" अभेदरूप आत्मा ही दीखती है। यही निश्यनय का मात्र विषय है।

वर्णादिसे गुणस्थान पर्यन्त जो २ भाव हैं वह जीव द्रव्यकी अपेक्षा से जीवके है ऐसा कहा जाता है परन्तु जीवतत्त्वकी अपेक्षासे यह भाव जीवतत्त्व के नहीं हैं। क्यों कि द्रव्यका लक्षण शुद्धाशुद्ध पर्याय का पिण्ड ।

वर्णादि से गुणस्थान पर्यन्त जो भाव हैं वे सभी एक पुद्गलके रचे हैं। अर्थात् कर्मके उदय में ही होते हैं ऐसा तुम जानो। इसलिये ये पुद्गल ही हैं, आत्मतत्त्व नहीं हैं। क्यों कि आ॰म तत्व तो विज्ञानघन है ज्ञानका पुंज है, इस कारण वर्णादिकोंसे अन्य है।

जीव तत्व है वह चैतन्य है वह अपने-आप अतिशय

कर चमत्काररूप प्रकाशमान है। वह अनादि है किसीसमय में नया नहीं उत्पन्न हुआ। वह अनंत है जिसका किसीकाल में विनाश नहीं होता है। वह अचल है, चैतन्यपने से अन्य रूप (चलाचल) कभी नहीं होता। स्वसंवेद्य है आप ही कर जाना जाता है और प्रगट है छिपा हुआ नहीं है।

अनादिकालका बड़ा अविवेकका नृत्य है उसमें वर्णादिमान पुद्कल ही (जीव द्रव्य) नृत्य करता है अन्य कोई नहीं है। अभेदज्ञान में (निश्चनयमें) पुद्गल ही (जीवद्रव्य ही) अनेक प्रकार से दिखता है। जीवतत्त्व तो अनेक प्रकार नहीं है। यह जीवतत्त्व रागादिक जो कि पुद्गल से हुए विकार (जीवद्रव्यका विकार है) उनसे विलक्षण शुद्ध चैतन्य धातु मय मूर्ति है।

२ अजीवतत्त्व का स्वरूप

आत्माके साथ में जो संयोग जनित पौद्गलिक अवस्थायें हैं उन्हीं का नाम अजीवतत्त्व है। छह पर्याप्ति पौद्गलिक अजीवतत्त्व हैं। दशप्राण पौद्गलिक अजीव-तत्त्व हैं यह जीव तत्व नहीं हैं। औदारिक,वैक्रियिक आदि शरीर अजीवतत्त्व है। समचतुरस्र आदि संस्थान पौद्गलिक अजीवतत्त्व है। वज्रवृषभनाराच आदि संहनन पौद्गलिक अजीवतत्त्व है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पौद्गलिक अजीवतत्व है। ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य कर्म

अजीवतत्व है। मन, वचन, काय पौद्गलिक अजीवतत्व है, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध आदि पौद्गलिक अजीवतत्व हैं। पांच इन्द्रियां पौद्गलिक अजीवतत्व हैं। स्वाच्छोस्वास आदि पौद्गलिक अजीवतत्व हैं। यह अजीवतत्व को जीवतत्व माननां मिथ्यात्वभाव है।

शंका—अजीवतत्व और अजीवद्रव्य में क्या भेद है?

समाधान—जीव के साथ में संयोग सम्बन्ध से रहनेवाली पौद्गलिक रचना, उसी का नाम अजीवतत्व है। और जिसके साथ जीवका संयोग सम्बन्ध नहीं है ऐसे पुद्गलादिक पदार्थ अजीवद्रव्य हैं। क्योंकि अजीवतत्व भी जीव द्रव्यकी एक पर्याय ही है।

अनादि काल से अजीवतत्व को आत्मा, जीवतत्व मानकर दुखी हो रहा है यही मिथ्यात्वभाव है। आत्मा अरूपी पदार्थ है वह चक्षुइन्द्रिय से देखा नहीं जाता। और शरीर अजीवतत्व देखने में आता है। इसी कारण जीव इसमें ही अपना अस्तित्व मानता है। इसकी ही खुशामद में सारा ही दिन निकलता है। शरीर दुबला हो जावे तो मानता है कि मैं दुबला हो गया, जिससे दुःखी हो जाता है। शरीर मोटा होने से मानता है कि मैं मोटा हूँ, जिससे आनंद मानता है। शरीर का रंग गोरा होने से अपने को सुन्दर मानता है। शरीर का रंग

काला होनेसे अपने को काला मानता है। शरीरका चमड़ा लाल रंगका हो और थोड़ासा चमड़ा सफेद हो जावे तो कहता है कि मेरे कोढ़ निकला है। यद्यपि कोढ़ में कुछ दर्द नहीं होता है तो भी मात्र अपनी बनी बनाई कल्पनासे मानलेता है कि मैं अच्छा नहीं लगता हूँ। ऐसी ऐसी झूंठी मान्यता से जीव महादुखी होरहा है यही झूंठी मान्यता संसार की और दुखकी जननी है। मैं साबुन से स्नान करूं तो शरीर सुन्दर रहे। परन्तु जरा भी विचार करता नहीं है कि सप्त मलिन धातु से भरा हुआ यंह शरीर सुन्दर कैसे होगा? स्नान करके उठने से ही भीतर से पसीना आता है, शरीर सुन्दर कहां हुआ? परन्तु विचार करे कब? संसार के सुखसे मुख मोड़े तब तो विचार करे। क्योंकि संसारका और मोक्ष का मार्ग दोनों विपरीत हैं। शरीर की चौबीस घंटा खुशामद करते संते शरीर अपनी एक भी बात मानता नहीं है, तो भी जीव विचारता नहीं है। जैसे काल पाकर आपसे आप बाल काले से सफेद हो जाते हैं। काल पाकर दांत आपसे आप टूट जाते हैं, गिर जाते हैं। काल पाकर शरीरके चमड़ेमें शिथिल होकर कडुचालियाँ (झुर्रियाँ) पड़ जाती हैं। यह सभी अवस्था आत्मा चाहता नहीं है और हो जाती हैं, तो भी विचार करता नहीं है कि शरीरकी

सुंदरता से मेरी सुंदरता नहीं है, परन्तु आत्मिक गुणोंकी सुंदरतासे मेरी सुंदरता एवं शान्ति है। यह विचार न होने का मूल कारण मिथ्यात्व भाव अर्थात् जीव तत्वको भूल कर अजीव तत्वको अपना अर्थात् अजीव तत्वमें अपनी अस्तित्वता मानना, यही मानना संसारकी जननी है। इसलिये संसार से मुक्ति चाहने वाले जीवों को अजीवतत्वका ज्ञान करना मोक्ष मार्ग में प्रथमोप्रथम जरूरी है। अजीव तत्व का ज्ञान नहीं होने से अजीव तत्वकी सब क्रियाको अपनी क्रिया मानता है। मैं बोलता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं खाता हूँ, इत्यादि जीव और पुद्गलकी मिली हुई क्रिया को अपनी क्रिया मानता है। आत्मा की क्रिया आत्म-प्रदेशों का हलन चलन होना वही मात्र आत्मा की क्रिया है, इस क्रियामें शरीर निमित्त मात्र है। और शरीर की हलन चलन क्रिया पुद्गलकी क्रिया है वह आत्माकी क्रिया नहीं है, परन्तु इस क्रिया में जीव मात्र निमित्त है। निमित्त नैमित्तिक अवस्थाका ज्ञान न होने के कारण जीवकी क्रियाको तो जानता ही नहीं है. और पौद्गलिक शरीर की क्रिया को अपनी क्रिया मानकर दुःखी हो रहा है। शरीर में से समय समय में अनंत पुद्गल परमाणु निकलते हैं और अनंत आते हैं यह सब क्रियायें आत्मा की इच्छा से नहीं होती हैं सहज हो रही हैं, तो भी मिथ्या-

त्व के कारण जीव मानता है कि मैं शरीर को चलाता हूँ, मेरे बिना शरीर चल न सके। यह तो मात्र मिथ्या कल्पना है। जब शरीरमें लकवा लगता है तब जीव भीतर में है तो भी शरीर को क्यों नहीं चलाता है ? विचार तो करो अब शरीर क्यों नहीं चलाता है ? शरीर को चलाना जीवका कर्तव्य नहीं है। संसार अवस्था में समवाय सम्बन्ध से देखा जावे तो जीव उपयोग और योग ये दोही कार्य कर सकता है। उपयोग का अर्थ देखना जानना तथा पुण्य भाव, पाप भाव और वीतराग भाव और योगका अर्थ आत्मा के प्रदेशों का हलन चलन करना। यह दो कार्य छोड़कर आत्मा तीसरा कार्य कभी भी कर सकता नहीं है। यही दोनों आत्मा की अवस्थाएँ हैं इनको अपनी अवस्था मानना सम्यक् ज्ञान है। और शरीर की अवस्था को अपनी मानना मिथ्याज्ञान है।

आश्रव तत्त्व —

आश्रव दो प्रकारका होता है—१ चेतन आश्रव २ जड़ आश्रव, जिनको शास्त्रीय भाषामें भावाश्रव और द्रव्याश्रव कहते हैं।

चेतनाश्रव—

जिस प्रकार आममें रस, रूप, गन्ध, स्पर्शादि गुण हैं इसी प्रकार आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य,

श्रद्धा, अवगाहना, अव्यावाध, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, निष्क्रियत्व और योगादि अनेक गुण हैं। जैसे आममें रस रूप, गन्ध, स्पर्शादि, स्वतंत्र परिणमन करते हैं, ऐसे ही आत्मा में सब गुण स्वतंत्र परिणमन करते हैं। कोई गुण कोई गुणके आधीन नहीं है। जैसे स्पर्शगुणकी शीत, उष्ण, अवस्था बदलती है, ऐसे ही आत्मा के गुणों की अवस्था बदलती है। जब जब आत्मा के गुण पौद्गलिक कर्मोंके आधीन होकर अवस्था धारण करते हैं उसी अवस्था का नाम आत्मा की वैभाविक अवस्था है। और जब आत्मा का गुण आत्म द्रव्य के ही आधीन होकर अवस्था धारण करता है उसी अवस्था का नाम स्वाभाविक अवस्था है। आत्मा में योग नामक गुणकी भी दो अवस्था होती हैं। जब तक योग नामका गुण पौद्गलिक मन, वचन और कायके आधीन अवस्था धारण करता है तब तक इस गुणकी कम्प अवस्था रहती है, इसी कम्प अवस्था का नाम चेतन-आश्रव है। और जब वह योग नामक गुण पौद्गलिक मन, वचन, कायका अवलम्बन छोड़कर आत्म द्रव्य के आधीन होकर अवस्था धारण करता है उसी समय इस योग नामके गुणकी अकम्प अवस्था रहती है। उसी अकम्प रूप अवस्था का नाम आश्रवरहित आत्मा की शुद्ध अवस्था है। योग

नामक गुणकी वैभाविक कम्पन रूप अवस्था तेरहवें-गुणस्थान के अंततक रहती है अर्थात् आश्रव तेरहवें गुण स्थान तक रहता है अर्थात् तहां तक योग नामक गुणकी कम्पन रूप अवस्था रहती है और चौदहवें गुणस्थान के पहले समय में उस योग नामक गुणकी अकम्प अवस्था हो जाती है। अर्थात् वहां उसकी शुद्ध अवस्था होती है।

आगममें आश्रव के सत्तावन भेद दिखाये हैं, वे सब निमित्त की अपेक्षा से हैं। चेतन आश्रव में जो कारण पड़ता है उसको निमित्त कहते हैं। जैसे रोटी नियमसे आटे से ही बनेगी, परन्तु रोटी बनानेमें सिगड़ी, कोयला, अग्नि, वेलन चकला, पानी आदि सामग्रीकी आवश्यकता पड़ती है। इन सबको निमित कहते हैं। निमित्त का कोई भी अंश रोटी में नहीं जाता, रोटी तो नियमसे आटे की ही बनेगी। ऐसे ही आत्माके आश्रव होनेमें पौद्गलिक मन, वचन, कायादि कारण पड़ते हैं, लेकिन इन सबको कारणमें कार्य का उपचार करके निमित्त की अपेक्षा से आश्रव कहा जाता है। निमित्त को आश्रव कहना केवल शाब्दिक व्यवहार है। जैसे व्यवहार में बालक लकडी को घोड़ा कहता है परन्तु यथार्थ में लकड़ी घोड़ा नहीं है। ऐसा व्यवहार में बोला जाता है तो भी ज्ञान यथार्थ ही होता है। इसी तरह धर्ममार्ग में उपचार से कहने का व्यवहार है कि आश्रव

बहुत प्रकार का होता है, परन्तु श्रद्धान इतना ही करना कि आश्रव बहुत प्रकारका होता नहीं है मात्र एक ही होता है, जो कि योग गुणकी कम्पन अवस्था है वही आश्रव है।

जड़ाश्रव--

लोकमें पुद्गल वर्गणा अनेक प्रकार की होती हैं। उनमें एक वर्गणा ऐसी है जिसको कार्माण वर्गणा कहते हैं। उस वर्गणाका आत्म-प्रदेशों के समीप आना उसका नाम जड़ आश्रव है।

पुण्यतत्त्व--

पुण्यतत्त्व दो प्रकार का है। १ चेतन पुण्य २ जड़ पुण्य। जिनको शास्त्रिय भाषा में भाव पुण्य और द्रव्य पुण्य कहते हैं।

चेतन पुण्य-पुण्य पाप का भेद अघातिया कर्मों में ही पड़ता है, घातिया कर्म सब पाप रूप ही हैं, क्योंकि आत्मा का अपने ज्ञायक स्वभावमें से निकलना यही आत्मा का घात है। आत्मा अरहन्त भक्ति के विकल्प से अथवा पांच इन्द्रियका विषय भोगने के विकल्प से अपने ज्ञायक स्वभाव अर्थात् वीतरात भावों से बाहर निकलता है यही आत्माका घात है, इसी कारण घातिया कर्म सब पाप रूप ही हैं। जिस समय में अघातिया कर्मों में पुण्य का बन्ध पड़ता हैं, उसी समय में घातिया कर्मों

में पाप का ही बन्ध पड़ता है, इसपर अनादिकालसे जीव का लक्ष जाता ही नहीं है, और पुण्य भाव में आनंद मानता है। पुण्य भाव से मोक्ष मानना है यही मिथ्यात्व भाव है। जितने अंश में पाप भाव से आत्मा बच गया यह खुशाली (हर्ष) न मानकर जो पुण्य बन्ध हुआ इसीमें खुशाली (हर्ष) मानना यही मिथ्यात्व है।

आत्मामें मन्द कषायरूप भाव होता है, उसी भावका नाम पुण्य तत्व है। पुण्य तत्व रूप भाव, कर्म चेतना है, उसमें आत्मा बन्धन में पड़ता है।

पुण्य भाव में अनेक प्रकार का भेद है तो भी तीन भेदों में उन सब भावों का समावेश हो जाता है। १ प्रशस्तराग, २ अनुकम्पा और ३ चित्त प्रसन्नता।

प्रशस्त राग—अरहन्त, सिद्ध और मुनि महाराजोंके गुणोंमें अनुरागका भाव वह प्रशस्त राग है।

शंका—कर्मोंका कार्य तो चौरासी लाख योनीरूप जन्म, जरा और मरण से युक्त संसार है। अघातिया कर्मों के रहने पर भी अरहन्त परमेष्ठीके नहीं पाया जाता है। तथा अघाती कर्म आत्माके अनुजीवी गुणोंके घात करनेमें समर्थ नहीं हैं। इसलिये अरहंत और सिद्ध परमेष्ठीमें गुण कृत भेद किस प्रकार माना जायगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है। क्योंकि जीवके उर्द्ध्वगमन

स्वभावका प्रतिबन्धक आयु कर्मका उदय और सुखगुणका प्रतिबन्धक वेदनीय कर्मका उदय अरहंतोंके पाया जाता है इसलिए अरहंत और सिद्धोंमें गुणकृत भेद मानना ही चाहिये।

शंका—उर्द्ध गमन आत्माका गुण नहीं है, क्योंकि उसे आत्माका गुण मान लेने पर उसके अभावमें आत्मा का भी अभाव मानना पड़ेगा। इसी प्रकार सुख भी आत्माका गुण नहीं है। दूसरे वेदनीय कर्मका उदय केवलीमें दुःखको भी उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा दुःखोत्पादक मान लेनेपर केवली भगवान के केवलीपना अर्थात् अनंत सुख भी नहीं बन सकता है।

समाधान—यदि ऐसा है तो रहो! अर्थात् अरहंत और सिद्धोंमें गुणकृत भेद सिद्ध नहीं होता है तो मत होवो, क्योंकि वह न्याय संगत है। फिर भी सलेपत्व और निर्लेपत्वकी अपेक्षा और प्रदेश भेदकी अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियोंमें भेद सिद्ध है। (ध. १–४७)

निग्रंथ गुरुओंकी वैयावृत करना एवं गुरुओंकी आज्ञा का पालन करनेका भाव प्रशस्त राग है। उपवासादि छहों प्रकारका बाह्य तप करनेका भाव पुण्य भाव है। स्वाध्याय आदि छहों प्रकारका अभ्यंतर तप करनेका भाव है वह पुण्य भाव है। ब्रह्मचर्य पालन करनेका भाव

पुण्य भाव है। अणुव्रत अर्थात् प्रतिमादि ग्रहण करनेका भाव पुण्य भाव है। पंच महाव्रत ग्रहण करनेका भाव पुण्य भाव है। ईर्या समितिका भाव अर्थात् मेरे द्वारा जीवोंकी घात न हो जावे ऐसे उपयोग सहित चार हाथ भूमि शोधकर चलनेका भाव पुण्य भाव है। पात्र जीवोंको चार प्रकारका दान देनेका भाव है यह भी पुण्य भाव है।

शंका—पात्र जीव किसको कहना चाहिये ?

समाधान—जिन जीवोंको देव, गुरु और धर्मकी श्रद्धा है वह सभी जीव पात्र जीव हैं। पात्र जीवोंमें तीन भेद हैं:—उत्तम पात्र—नग्न दिगम्बर अठाईस मूलगुणोंको पालन करनेवाले मुनि महाराज। मध्यम पात्र—ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका, क्षुल्लिका और ब्रह्मचारी आदि पंचम गुणस्थानवर्ती जीव। जघन्य पात्र-अव्रती पाक्षिक श्रावक हैं।

देव गुरु शास्त्र के लक्ष्य से जो मन्दकषाय रूप भाव होते हैं, वे सभी पुण्य भाव हैं। शास्त्रों को धर्मनुराग से लिखना और लिखवाना यह भी पुण्य भाव है। धर्मोपदेश देनेका भाव पुण्य भाव है। पाठशालाओं का खोलना और बच्चों में धर्मानुराग करवाना पुण्य भाव है। जैन अजैनों में शास्त्र विना मूल्य से वितरण करना यह पुण्य का भाव है। जितना २ जिनवाणी का प्रचार होगा उतना २ जीवोंमें धर्म की रुचि विशेष रूप में जाग्रित

होगी। जिनवाणी की प्रभावना करना उत्तम प्रभावना हैं।

अनुकम्पा—

प्रश्न—अनुकम्पा किसको कहते हैं ?

उत्तर—प्राणी मात्र को दुखी देखकर उसको दुःख से मुक्त कराने का भाव अनुकम्पा है, यह पुण्य भाव है। किसी भी जीव को क्षुधावान देखकर उसको क्षुधासे मुक्त कराने का भाव पुण्य भाव है। किसी भी पिपासु जीव के लिये जल पिलाने का भावे पुण्य भाव है। किसी भी जीव को रोगी देखकर उसको रोगसे मुक्त कराने के लिये औषधि देना एवं औषधालय खुलवाने का भाव है यह सभी पुण्य भाव हैं, जिनको अनुकम्पा कहते हैं।

शंका—एक क्षुधावान जीवको दुखी देखकर खाने के लिये रोटी देदी। उसने वह रोटी न खाकर उस रोटीसे मछलियां मारने का कार्य किया तो वह पाप किसको लगेगा ?

समाधान—अपना अभिप्रायतो उसकी क्षुधा मिटाने का है। अपने अभिप्राय अनुकूल पुण्य और पापका बन्ध पड़ता है। वह जीव उस रोटी को खाले, या उस रोटीसे मछ लियां मारे, या उस रोटीको अपने से विशेष क्षुधावान को दान दे देवे, उसके भागीदार हम लोग नहीं हैं। उसके भावके अनुकूल ही उस जीवको पुण्य या पाप

का बन्ध पड़ेगा।

शंका—एक कसाई रोगी है। जब तक यह रोगी है तब तक हिंसा नहीं करेगा। तब उस कसाई को औषधि देना चाहिये या नहीं ? क्योंकि औषधि देने से वह रोगसे मुक्त होने तुरन्त वही हिंसाका कार्य करेगा ?

समाधान—अपना अभिप्राय कसाईको रोग से मुक्त करने का है। रोगसे मुक्त हुए बाद वह जो चाहे सो कार्य करे उस कार्यके आप भागीदार नहीं हैं। एवं हिंसा मात्र कायसे नहीं होती। हिंसा तो मन, वचन, और कायसे, कृत, कारित, और अनुमोदना, द्वारा होती है। रोगकी अवस्था में भी मन द्वारा यह जीव हिंसा करता ही है उसके परिणामों का वही करता है, आप उसके परिणामों के मालिक नहीं हैं। जैसे तंदुल मच्छ काय द्वारा जितनी हिंसा होती है, इससे विशेष मनके द्वारा अनंत पापको बांधकर जीव नरक निगोद का पात्र बन जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि सब जीव अपने अपने परिणामों से बन्ध और मुक्तिको प्राप्त करते हैं।

३ चित्त प्रसन्नता—

चित्तमें जो कलुषता का भाव है उससे विपरीत भाव होना उसीका नाम चित्तप्रसन्नता है। जैसे मंदिर बनवाना, धर्मशालाएँ बनवानी, औषधालय खुलवाने, स्कूल खुलवाने,

आदि जो जो लोकोपकारी कार्यों के भाव होते हैं वह सभी भाव चित्त प्रसन्नता के कारण हैं। कसाईखानोंमें से जानवरों को छुड़वाना, मछलियां मारने वाले के पाससे मछलियां छुड़वाना यह सब चित्त प्रसन्नता के भाव हैं।

शंका—चिड़ियां पकड़नेवालों के पाससे चिड़िया छुड़ाने से वह विशेष चिड़ियां पकड़ेगा। वह तो पाप काममें मदद करनी हुई यह चित प्रसन्नता कैसे हो सकती है ?

समाधान—अपना अभिप्राय चिड़ियोंकी रक्षा करने का है, उनको बन्धन में से छुड़ाने का है, यही अपनी चित प्रशन्नता है। यही भाव पुण्यका है। चिड़ियां बेचने वाला उसी रुपिये से चिड़िया मोल ले या विशेष पकड़े यह तो उसका पाप का भाव है, उसीके भावके अनुकूल उसको बन्ध पड़ेगा। उसके भावके साथ में हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि वही चिड़ियां बेचनेवाला चिड़िया बेचकर उस पैसे को दान में लगादे तो उसको ही पुण्य बन्ध होगा। उस पुण्यबन्धमें हमारा कोई तालुक अर्थात् लेनदेन नहीं हैं। सब जीव अपने अपने परिणामों को भोगते हैं, और उन परिणामोंके अनुकूल उन्हींको बंध पड़ेगा। इसका नाम भावपुण्य है अर्थात् चेतनपुण्य है।

जड़पुण्य—

आश्रव में जो कार्मण वर्गणा आत्म प्रदेशों के नजदीक आयीं थी उन वर्गणाओं का कालकी मर्यादा लेकर आत्म-प्रदेशों के साथ एक क्षेत्र में चिपकजाना उसीका नाम जड़पुण्य है जिसको द्रव्यपुण्य भी कहते हैं। आत्मा पौद्गलिक द्रव्य कर्मोंको बांधता नहीं है परंतु जब आत्मा भाव करता है उसी समय में पौद्गलिक द्रव्य कर्म आपसे आप कर्म रूप अवस्था धारण करते हैं।

पापतत्व—

पापतत्व दो प्रकार का है। १ चेतनपाप २ जडपाप।

चेतनपाप—पाप बन्धके कारण निम्न प्रकार है—
१ चार संज्ञा, २ तीन अशुभलेश्या, ३ पांच इन्द्रियों के विषय इकट्ठा करने का और भोगने का भाव, ४ आर्तध्यान, रौद्रध्यान, ५ हिंसा के उपकरण बनानेका भाव, ६ मिथ्यात्वका भाव, ७ कषाय भाव। यह सब ही भाव पाप तत्व हैं।

१ चार संज्ञा—

१ आहार संज्ञा, २ भयसंज्ञा, ३ मैथुनसंज्ञा, ४ परिग्रह संज्ञा।

आहार संज्ञा—शुद्ध अथवा अशुद्ध आहार लेने का जो भाव है वही सभी पाप भाव है। अशुद्ध आहार

खाने का भाव जो मिट गया वह तो पुण्य भाव है, परन्तु शुद्ध आहार लेनेका भाव है वह तो पाप भाव ही है। शुद्ध आहार खानेका भाव में कमती स्थिति और कमती अनुभागका बन्ध पाप प्रकृतियों में पड़ता है, अशुद्ध आहार लेने के भाव में विशेष स्थिति और अनुभागका बंध पाप प्रकृतियों में पड़ता है।

भया संज्ञा—भय प्रधानपने सात प्रकार का है। १ इस लोकका भय, २ पर लोकका भय, ३ वेदना भय ४ अरक्षा भय, ५ अगुप्ति भय, ६ मरण भय और ७ आकस्मिक भय। इस भव में लोकका भय रहता है कि ये लोग न मालुम मेरा क्या बिगाड़ कर डालें, ऐसे भावका नाम इस लोक का भय है। परभव में न मालुम गति हो, ऐसा भय रहना परभव का भय है। मेरे शरीर में एवं मेरे निकट के सम्बन्धियों में वेदना अर्थात् रोगोंकी उत्पति न हो जाय इस प्रकार का आत्मामें भय रूप भाव होता है, यह वेदना भय है। अरक्षाके भय में मेरी कोई रक्षा करने वाला नहीं है, इसलिये बड़े लोगों की खुशामद करनेका भाव, यह अरक्षा भय है। अगुप्ति भयमें मै गढ़ बनालूं तो मेरी रक्षा होगी। बोम्बका भय से तल घर बनवाना चोरों के भय से गुप्त स्ट्रांग रूम एवं भोंयरा बनवाने का भाव है सो अगुप्ति भय है। मरणभय-

इन्द्रियादि प्राणोंके विनाश का नाम मरण है, उसकी रक्षा करनेका जो जो भाव होता है वह सभी मरण भय कहा जाता है। आकस्मिक भय-न मालुम कब मरण हो जावेगा इसके भय से जिंदगीका बीमा आदि करा लेनेका भाव है अपना किसी नई मुसीबत में न पड़ जाऊ ऐसी चिंता का लगा रहना, यह सभी भाव आकस्मिक भयके भाव हैं। यह सभी पाप के भाव हैं।

३ मैथुनसंज्ञा--

स्त्रीका रूप देखकर स्त्रीके साथ रमने का भाव, पुरूषका रूप देखकर पुरूषके साथ रमने का भाव, एवं स्त्री तथा पुरूषके साथ रमने का भाव यह सभी भाव पापके भाव हैं। तीव्र पापमें परदरा और वैश्या के संग रमने का भाव होता है। और तीव्रतर पापमें मनुष्य, पशुआदि तिर्यंचके साथ भोग करने का भाव होता है यह भाव नरक निगोद के कारण हैं।

४ परिग्रहसंज्ञा—

दश प्रकार के परिग्रह इकट्ठा करने का भाव है वह सब पापका हीं भाव है। लाखों रूपिया होते सन्ते संतोष न कर करोड़ों की चाह करना सभी पापका ही भाव है।

२ अशुभलेश्या—

कृष्ण लेश्या रूप भाव, नील लेश्या रूप परिणाम और कापोत लेश्या रूप भाव यह सभी पाप के ही भाव है। हिंसा में प्रमाद प्रधान है। कषायमें अभिलाषा प्रधान है और लेश्यामें प्रवृत्ति प्रधान है।

६ इन्द्रियों के आधीन—

पांच इन्द्रियों के विषय इकट्ठे करने का एवं भोगने का सभी भाव पाप भाव है। रेडियों सुनने का भाव, सिनेमा देखने का भाव, सुगन्धित पदार्थों—तेल सेन्ट लोशनादिक उपभोग करने का भाव, मिष्ट भोजनादि खानेके सभी भाव एवं सुन्दर मलमल, मखमल, बनारसी सेला आदि स्पर्श इन्द्रियोंके विषय भोगनेका भाव सभी पाप भाव हैं।

४ आर्तध्यान रौद्रध्यान—

इष्ट वियोग में दुखी होना अनिष्ट पदार्थों के संयोग से दुःखी होना, पीड़ा चिन्तन और निदान का भाव यह सबही भाव पापके ही भाव हैं। इन भावों का नाम आर्त्त-ध्यान है। हिंसा करने में आनंद मानना, चोरी करने में आनंद मानना, झूठ बोलनेमें आनंद मानना और परिग्रह खूब संचय करने में आनंद मानना यह सब ही भाव रौद्र-

ध्यानके भाव हैं। यह सभी भाव पापके ही भाव हैं।

५ हिंसाके उपकरण बनाने का भाव--

मैं ऐसा बम्ब बनाऊँ कि जिससे एक साथमें हजारों जीव मर जावें यह भाव पापका भाव है। मैं ऐसी मशीन बनाऊँ कि जिसमें थोड़े समय में हजारों मछलियां पकड़ी जावे और मरण को प्राप्त हो जावें। मशीनगन, रिवोल्वर राकेट आदि हथियार बनाने के जो भाव हैं सभी हिंसा बढ़ाने के हैं और ऐसे भाव पापके ही भाव हैं।

६ मिथ्यात्व—

यह भाव सबसे बड़ा पापका भाव है। मिथ्यात्व जैसा कोई पाप नहीं है और सम्यगदर्शन जैसा कोई धर्म नहीं है। परवस्तुको अपनी वस्तु मानना यही मिथ्यात्व भाव है। पुण्यभाव में धर्म मानना भी मिथ्यात्व है।

७ कषाय भाव--

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद रूप जितने भाव होते हैं वह सभी पाप भावें हैं। इन सभी भावोंका नाम चेतन पाप है, अर्थात् भाव पाप है।

जडपाप--

आश्रव में जो कार्माण वर्गणा आत्मा के प्रदेशों के

नजदीक आयीं थीं उन्हीं वर्गणाओंका आत्मा के प्रदेशों में कालकी मर्यादा लेकर एक क्षेत्रमें चिपक जाना अर्थात् रहजाना इसीका नाम जडपाप है अर्थात् द्रव्य पाप हैं। आत्मा पौद्गलिक द्रव्य कर्मोंको बांधता नहीं है परन्तु जिस समयमें आत्मा भाव करता है उसी समयमें कार्माण वर्गणा आपसे आप कर्मरूप अवस्था धारण कर जाती हैं। जैसे मनुष्यके धूपमें खड़ा रहने पर आपसे आप उसकी छाया बन जाती है। तो भी निमित्तकी प्रधानता से आत्मा द्रव्य कर्मोंको बांधता है या कार्यों का कर्ता है यही कहना स्याद्वाद है।

बन्धतत्त्व---

बन्धतत्व दो प्रकारका है। १ चेतनबन्ध २ जडबन्ध। चेतनबन्ध--आत्मा में अनेक गुण हैं। इनमें से श्रद्धागुण, चारित्रगुण तथा क्रिया नामके गुणोंके विकारी परिणमन का नाम बन्धतत्व है। यही संसार में फंसाने वाला है।

श्रद्धागुण के विकारी परिणमनका नाम मिथ्यादर्शन है। और श्रद्धा गुणके शुद्ध परिणमनका नाम सम्यग्दर्शन है। जब श्रद्धागुण मिथ्यात्वरूप अवस्था धारण करता है उसी अवस्था का नाम बन्ध तत्व है। मिथ्यात्व अवस्था में आत्मा पुण्य भावमें ,धर्म बुद्धि करता है। मिथ्यात्व भावमें आत्मा परपदार्थों को अपना मानता

है। अर्थात् यह शरीर मैं हूं, पुत्र मेरा है, पत्नी मेरी है, पिता मेरा है, माता मेरी है, यह मेरा है, यह मेरी लक्ष्मी है इत्यादि मानना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व अवस्था में आत्मा मानता है कि मैं परजीवोंको मार सकता हूं, मैं परजीवोंको बचा सकता हूं। मैं परजीवको सुख दुःख दे सकता हूं। परजीव मुझको मार सकते हैं। परजीव मुझको बचा सकते हैं। परजीव मुझको सुख दुःख दे सकते हैं। मिथ्यात्व अवस्था में कर्म जनित जो पौद्गलिक ढांचा रूपी शरीर मिला है इसमें कल्पना करता है कि मैं स्त्री हूं, मैं बालक हूं, मैं जवान हूं, मैं बूढ़ा हूं, मैं देव हूं, मैं बैल हूं, मैं हाथी हूं, मैं तोता हूं, मैं मगरमच्छ हूं, मैं नारकी हूं इत्यादि जो जो शरीर की अवस्था है उसको अपनी मानता है। मिथ्यात्व अवस्था में आत्मा परपदार्थों में इष्ट अनिष्ट की कल्पना करता है। हाफुस आम अच्छा है, गुलाबजामुन अच्छी है, सेन्ट लवन्डर अच्छा है, मलमल के कपड़े, मखमल के कपड़े, बनारसी साड़ियां आदि अच्छे हैं। विष्टा खराब है। सूखी रोटी खराब है, दुर्गन्धित पदार्थ खराब हैं इत्यादि इष्टानिष्ट की कल्पना करता है। मिथ्यात्व अवस्था में आत्मा मानता है कि देव मेरा कल्याण कर देगा, गुरु मेरा कल्याण कर देगा, शास्त्र मेरा कल्याण कर देगा,

जिनवाणी माताकी भक्ति मेरा कल्याण कर देगी। इत्यादि मान्यता में मिथ्यात्व का वन्ध पड़ता है।

चारित्रगुण के विकारी परिणमन में आत्मा मानता है कि क्रोध किए बिना चले नहीं। क्रोध करने से पुत्र, मुनीम नोकर आदि सीधे चलते हैं। मान बिना जीवन किस कामका, ऐसा सोचकर अभिमान में सुखकी कल्पना करता है। मायाकर लाखों रुपया धन कमाने की चेष्टा करता है। झूंठ बोले बिना व्यापार होता ही नहीं है। धन तो मायाचारी से ही कमाया जाता है। पोलिटिकल बनने में शोभा है। पोलिटिकल मनुष्य को सरकार भी चाहती है।

प्रश्न—पोलिटिकल किसको कहते हैं।

उत्तर—करना कुछ और कहना कुछ इसीका नाम पोलिशी है, इससे काम लेने वाला पोलिटिकल कहाता है कहा भी है कि—

मुख में राम बगल में छुरी भगत भया पन दानत बुरी। इसीका नाम पोलिटिक्स है।

जितना जितना धन बढ़ता जाय उतनी २ तृष्णा बढ़ाते जाना। जहां लोभ की थाह नहीं है। इत्यादि सब चारित्र गुणका विकारी परिणमन है, जिसका नाम बन्ध तत्व है। क्रिया नामके गुणका विकारी परिणमन में क्रिया

गुण हलन चलन करता है। इस हलनचलन का नाम भी बन्ध तत्व है। अर्थात् लेश्या भी बंध तत्व है।

यथार्थ में विचार किया जावे तो आत्मा के अनन्त गुण है। अनन्त गुणों में से मात्र दो ही गुणों के लिये पुरुषार्थ किया जा सकता है और गुणों के लिये पुरुषार्थ होता ही नहीं। श्रद्धागुण और चारित्र गुणका विकारी परिणमन मिटाने के लिये ही पुरुषार्थ होता है और गुणों के लिये आत्मा पुरुषार्थ कर ही नहीं सकता है। श्रद्धा गुण और चारित्र गुण पुरुषार्थ द्वारा शुद्ध करने से और गुण आपसे आप विना पुरुषार्थ के काल पाकर सहजही शुद्ध हो जाते हैं।

शंका—ज्ञान गुण बढ़ाने के लिये पुरुषार्थ तो किया जाता है और पुरुषार्थ से ज्ञान बढ़ता है यह भी देखनेमें आता है। आप कैसे कहते हो कि और गुणों में पुरुषार्थ नहीं होता है?

समाधान—पुरुषार्थ से ज्ञान नहीं बढ़ता है। जैसा जैसा ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होगा वैसा ही ज्ञान बढ़ेगा। जैसे एक मनुष्य एक ही दफे पढ़ता है और पाठ कंठस्थ हो जाता है, और एक मनुष्य दिन रात पढ़ता है तो भी पाठ कंठस्थ नहीं होता है। सोचिये दोनों में विशेष पुरुषार्थ किसने किया? एक को मामूली पुरुषार्थ में

ज्ञान बढ़ गया और एकने बहुत पुरुषार्थ किया और ज्ञान बढ़ा नहीं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानका बढ़ना पुरुषार्थ के आधीन नहीं है, परन्तु कर्म के आधीन है।

जो रागद्वेष और मोहसे छुटना चाहता है उसको यथार्थ श्रद्धा करके रागद्वेष छोड़ना चाहिए, यही बन्धन से मुक्त होने का मात्र एक ही कारण है।

प्रश्न—बंध के कारण कौनसे हैं ?

उत्तर—स्वभाव से ही कर्मयोग्य पुद्‌गलों द्वारा बहुत भरा हुआ लोक बंधका कारण नहीं है, यदि उनसे बंध हो तो लोकमें सिद्ध भी मौजूद हैं उनके भी बंधका प्रसंग आवेगा। काय, मन, वचनकी क्रिया स्वरूप योग भी बंधके कारण नहीं हैं, यदि उनसे बंध हो तो मन, वचन, कायकी क्रियावाले यथाख्यात संयमियों के भी बंध का प्रसंग प्राप्त होता है। अनेक प्रकार की इन्द्रियां भी बंध का कारण नहीं है, यदि उनसे बंध हो तो केवलज्ञानियों के भी उन इन्द्रियोंसे बंध का प्रसंग आवेगा। तथा सचित्त अचित्त वस्तुओं का उपघात भी बंध का कारण नहीं हैं, यदि उससे बंध हो तो जो साधु समिति में तत्पर हैं यत्नरूप प्रवृति करते हैं उनके भी सचित्त अचित्त के घात से बंध का प्रसंग आवेगा। न्यायके बलकर-यह सिद्ध हुआ कि जो उपयोग में रागादिक का करना है वही बंध

का कारण है।

लोक आदि कारणों से बंध नहीं कहा और मात्र रागादिकसे बंध कहा तो भी ज्ञानियों को मर्यादा रहित स्वच्छंद प्रवर्तना योग्य नहीं कहा है, क्योंकि निरर्गल (स्वच्छंद) प्रवर्तना ही बंध का कारण है।

प्रश्न—क्या परवस्तु बंध का कारण नहीं है ?

उत्तर—रागादिक परिणाम ही बंधका कारण हैं, बाह्य वस्तु बंधका कारण नहीं है। क्योंकि बंधका कारण जो रागादिक है, उसके कारणपनेकर ही बाह्य वस्तुके चरितार्थ,पना है। बाह्य वस्तु तो रागादिकका ही कारण है बंधका कारण नहीं है। बाह्य वस्तु के बिना निराश्रय रागादिक उत्पन्न नहीं होता है इसी कारण रागादिकका आश्रयभूत जो बाह्य वस्तु उसका अत्यंत निषेध है।' इसलिये कारण के प्रतिषेध से ही कार्य का भी प्रतिषेध होता है वह नियम है, न्याय है। बाह्य वस्तु रागादिकका हेतु है इस कारण उसके निषेधसे रागादिका निषेध हो सकता है, परन्तु बाह्य वस्तुके बंधका हेतु रागादिक का हेतु पना होने पर बाह्य वस्तु बंधका हेतु नहीं है इसमें, व्यभिचार है, क्योंकि जैसे कोई मुनि ईर्या समिति रूप प्रवर्त रहा है उसके चरण से हना गया जो काल का प्रेरा अति वेग से शीघ्र आकर पड़ा कोई उड़ता हुआ जीव उसके

मर जाने से मुनीश्वरको हिंसा नहीं लगती उसी तरह अन्य वस्तु भी बंध के कारण माने गये हैं वे अबंधके भी कारण हैं। इसलिये वाह्य वस्तु को बंध का कारण पना माननेमें अनैकान्तिक हेत्वाभास पना (व्यभिचार) आता है, क्योंकि यथार्थ से बाह्य वस्तु में बंधका कारण पना निर्दोष सिद्ध नहीं होता। जीवके वाह्य वस्तु अतद्भावरूप है वह बंध कारण नहीं है तद्भाव रूप रागादिक ही बंधका कारण है।

इस लोकमें जिस वस्तुका जैसा स्वभाव है उसका वैसा ही स्वाधीन पना है यह निश्चय है सो उस स्वभाव को अन्य कोई अन्य सरीखा करना चाहे तो कभी अन्य सरीखा नहीं कर सकता है। इस न्याय से ज्ञान निरंतर ज्ञान स्वरूप ही होता है, ज्ञानका अज्ञान कभी नहीं होता, यह निश्चय है। इसलिये हे ज्ञानी! तू कर्म के उदय जनित उपभोगको भोग, क्योंकि परद्रव्य से बंध नहीं है। यदि परद्रव्य से बंध होता है ऐसा मानने से तू मिथ्यादृष्टि हो जावेगा।

हे ज्ञानी! तुझको कुछ भी कर्म कभी नहीं करना योग्य है तो भी तू कहता है कि परद्रव्य मेरा तो कदाचित् भी नहीं है और मैं परद्रव्यको भोगता हूं। तो आचार्य कहते हैं कि जो तेरा नहीं उसको तू भोगता है तो तू खोटा खाने वाला है। हे भाई! जो तू कहें कि

परद्रव्य के उपभोग से बंध नहीं होता है ऐसा सिद्धान्तमें कहा है इसलिये भोगता हूँ, उस जगह तेरे क्या भोगने की इच्छा है? तू ज्ञानरूप हुआ अपने स्वरूप में निवास करे तो बंध नहीं है और जो भोगनेकी इच्छा करेगा तो तू आप अपराधी हुआ। तब अपने रागादिक परिणामका अपराध कर नियम से बंधको प्राप्त होगा।

प्रश्न—समयसार ग्रन्थ में कहा है कि अव्रत सम्यग्दृष्टिको भोग करने से भी बंध नहीं होता परन्तु निर्जरा होती है, वह कैसे कहा है?

उत्तर—वह तो सम्यक्त्वकी महिमा दिखानेको कहा है कि देखो सम्यग्दृष्टि जीवको भोग करते भी मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी का बंध नहीं पड़ता। भोग करनेका भाव तो नियम से पापका ही भाव है। सम्यग्दृष्टिको भी भोग करने के भाव से पाप का ही बंध पड़ता है। यदि गृहस्थावस्थामें ही निर्जरा होती हो तो शान्तिनाथ आदि तीर्थंकरोंको छह खंड की ऋद्धि एवं छियानवे हजार स्त्रियोंको छोड़कर निर्ग्रंथ मुनि क्यों बनना पड़ा?

सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान वैराग्यकी शक्ति होती है, क्योंकि यह सम्यग्दृष्टि अपने वस्तुपने यथार्थ स्वरूपका अभ्यास करनेको अपने स्वरूपका ग्रहण और परके त्याग की विधि करके यह तो अपना स्वरूप है और यह परद्रव्य

का स्वरूप है—ऐसे दोनोंका भेद परमार्थसे जानकर अपने स्वरूपमें तिष्ठता है और परद्रव्यसे सब तरहसे रागका योग छोड़ता है। सो यह रीति ज्ञान वैराग्यकी शक्तिके विना नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि सामान्य कर सभी परभावोंसे भिन्न होकर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव रूप आत्माके तत्वको अच्छी तरह जानता है और उस प्रकार तत्वको अच्छी तरह जानता हुआ स्वभावके ग्रहण और परभावके त्यागसे उत्पन्न हुए अपने वस्तुपनेको फैलाता हुआ कर्मके उदय के विपाकसे उत्पन्न हुए जो भाव उन सबको छोड़ता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि नियमसे ज्ञान और वैराग्य सहित होता है, यह सिद्ध हुआ।

जो जीव परद्रव्यमें रागद्वेष मोह भाव कर तो संयुक्त है और अपनेको ऐसा मानता है कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मेरे कदाचित् कर्मका बंध नहीं होता, शास्त्रोंमें सम्यग्दृष्टिके बंध होना नहीं कहा है, ऐसा मानकर जिसका मुख गर्व सहित ऊँचा हुआ है तथा हर्ष सहित रोमांचरूप हुआ है वह जीव महाव्रतादि आचरण करे, तथा वचन विलास अर्थात् प्रबल वक्ता हो, आहारकी क्रियामें यत्नसे प्रवर्तनेकी उत्कृष्टताका भी अवलम्बन करे तो भी पापी मिथ्यादृष्टि ही है। क्योंकि आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे रहित है, इसलिये

सम्यक्त्वसे शून्य है। उसके सम्यक्त्व नहीं है।

प्रश्न—अव्रत सम्यग्दृष्टिके बंध नहीं होता है ऐसा समयसार ग्रंथमें कैसे कहा है?

उत्तर—यह तो मिथ्यात्वकी अपेक्षासे कहा है। अव्रत सम्यग्दृष्टिके भी तीन कषायका अर्थात् अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन कषायका, समय २ में बंध पड़ता है। समयसारके आश्रव अधिकारमें भी कहा है कि—

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते।
अन्यत्वं ज्ञानगुणः तेन तु स बंधको भणितः॥ १७१॥

अन्वयार्थ—(यस्मात् तु) जिस कारण (ज्ञानगुणः) ज्ञानगुण (पुनरपि) फिर भी (जघन्यात् ज्ञानगुणात्) जघन्य ज्ञानगुणसे (अन्यत्वं) अन्यपनेरूप (परिणमते) परिणमता है (तेन तु) इसी कारण (सः) वह ज्ञान गुण (बंधको) कर्मका बंध करनेवाला (भणितः) कहा गया है।

जब तक ज्ञान गुणका जघन्य भाव है—क्षायोपशमिक भाव है तबतक वह अंतर्मुहूर्त्त में विपरिणाम को प्राप्त होता है, ज्ञान भाव रूप अंतर्मुहूर्त्त ही रहता है बाद अन्य प्रकार परिणमता है। इसलिये अन्यपना रूप इसका परिणाम है वह यथाख्यात चारित्र अवस्था के नीचे अवश्यम्भावी रागका सदभाव होने से बंधका कारण ही है। तथा

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन ।
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥१७२॥

अन्वयार्थ—(दर्शन ज्ञान चारित्रं) दर्शन ज्ञान चारित्र (यत्) जिस कारण (जघन्यभावेन) जघन्य भावकर (परिणमते) परिणमन करते हैं (तेन तु) उस कारण से ज्ञानी (ज्ञानी) (विविधेन) अनेक प्रकार के (पुद्गल कर्मणा) पुद्गल कर्मों से (बध्यते) बँधता है।

ज्ञानी जब तक ज्ञानको सर्वोत्कृष्टभाव से देखने, और आचरण करने में असमर्थ है तब तक उस के भी ज्ञानके जघन्य भावकी अन्यथा अप्राप्ति कर जिसका अनुमान हो सकता है ऐसे अबुद्धि पूर्वक कर्म कलंकका सद्भाव है, इसलिये पुद्गल कर्म का बंध होता है। इस कारण उसे यह उपदेश है कि तभी तक ज्ञानका देखना, जानना और आचरण करना जबतक ज्ञानका पूर्ण-भाव जितना है उतना देखना जानना आचरण करना अच्छी तरह न हो जाय। उसके बाद अर्थात् केवलज्ञान होने के बाद साक्षात् ज्ञानी हुआ सर्वथा निरास्रव ही है।

प्रश्न—ज्ञानी अर्थात् अव्रत सम्यग्दृष्टि आत्मा कर्म का कर्ता कबतक कहा जाता है ?

उत्तर—श्रद्धाकी अपेक्षा से तो चौथे गुणस्थान से रागादिक को हेय समझता है अर्थात् सम्यक्त्वाचरण

चारित्र की अपेक्षा से कर्मका अकर्त्ता है। परन्तु बुद्धि पूर्वक रागादिक की अपेक्षा से अर्थात् उदीरणा की अपेक्षा से जब तक रागादिकका निमित्त भूत पर द्रव्यका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करे तब तक नैमित्तिक भूत रागादि भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं होता। और जब तक इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान न हो तब तक रागादि भावोंका कर्ता ही है। जिस समय रागादि भावोंका निमित्त भूत पर द्रव्यों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है उसी समय नैमित्तिक भूत रागादि भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान होता है। तथा जिस समय इन भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान हुवा उस समय बुद्धि पूर्वक रागका साक्षात् अकर्ता ही है। और जब संयमाचरण चारित्र पूर्ण होता है अर्थात् यथाख्यात चारित्र होता है तब साक्षात् कर्मका अकर्ता ही है, अर्थात् वीतराग ही है।

प्रश्न—वीतराग बनने का क्रम क्या है ?

उत्तर—जो पुरुष पर द्रव्यका और अपने भावका निमित्त नैमित्तिकपने को विचार कर उस समस्त पर द्रव्यको अपने बलसे पराक्रम से, उद्यम से, त्यागकर तथा पर द्रव्य जिसका मूल है ऐसे बहुतसे भावोंकी परिपाटी को दूरसे युगपत् (एक समय में) उड़ाना चाहता हुआ अतिशयता से बहने वाले प्रवाह रूप धारावाही पूर्ण एक

संवेदन कर युक्त जो अपना आत्मा उसे प्राप्त होता है। जिससे कि जिसने कर्म बन्धन मूलसे उखाड दिये हैं ऐसा भगवान आत्मा आपमें ही स्फुरायमान (प्रकट) होता है।

ज्ञान स्वरूप आत्मा ध्रुव है सो जब निश्चल अपने ज्ञान स्वरूप हुआ शोभायमान होता है तब ही यह मोक्ष का कारण है, क्योंकि आप स्वयमेव मोक्ष स्वरूप है, और इसके सिवाय जो अन्य है वह बंध का कारण है, क्योंकि आप स्वयमेव बंध स्वरूप है। इसलिये ज्ञान स्वरूप अपना होना ही अनुभूति है। इसतरह निश्चय से बंध मोक्षके हेतु का विधान किया।

प्रश्न—कर्माधरा तथा ज्ञान धारा किसको कहते हैं?

उत्तर—जबतक कर्म का उदय और ज्ञानकी सम्यक् कर्म विरति नहीं तबतक कर्म और ज्ञान दोनोंका एकट्ठापना भी कहा गया है तबतक इसमें कुछ हानि भी नहीं। यहां पर यह विशेषता है कि इस आत्मा में 'कर्मके उदय की जबरदस्ती से आत्मा के वश के विना कर्म उदय होता है वह तो बंध के लिये ही है', और 'मोक्षके लिये तो एक परम ज्ञान है'। वह ज्ञान कर्मसे आप ही रहित है।

मोक्ष के चाहने वाले को समस्त कर्म ही त्यागने योग्य हैं, इस तरह इसे समस्त ही कर्म को छोडनेसे पुण्य पाप की तो क्या बात है कर्म सामान्य में दोनों ही आ

जाते हैं। इस तरह समस्त कर्मोंका त्याग होनेपर ज्ञान है वह सम्यक्त्व आदिक अपने स्वभाव रूप होने से मोक्षका कारण हुआ कर्म रहित अवस्थासे जिसका रस प्रतिबद्ध (उद्धत) ऐसा अपने आप दौड़कर आता है।

जडबन्ध—

योग से जो कार्माण वर्गणा आत्मा के प्रदेशों के नजदीक आई थी उसको कालकी मर्यादा लेकर आत्म प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाहमें बंधन रूपमें कर्म रूप अवस्था धारण करके रहना इसीका नाम जड़ बन्ध है।

संवरतत्त्व—

संवर दो प्रकार का है। १ चेतन संवर, २ जड संवर। जिनको शास्त्रीय भाषा में भावसंवर और द्रव्यसंवर कहते हैं।

चेतन संवर—

आत्मा के श्रद्धा नामका गुण जो मिथ्यादर्शन रूप परिणमन करता था उसी गुणका शुद्ध परिणमन अर्थात् सम्यग्दर्शन रूप अवस्था हो जाना इसी का नाम मिथ्यात्व का संवर है। मिथ्यात्वमें जो विपरीत श्रद्धा थी उससे सम्यग्दर्शन में सम्यक् श्रद्धा निम्न प्रकार हो जाती है। पुण्य से धर्म कभी नहीं होता है। संसारमें मेरा कोई भी

नहीं है। पत्नि मेरी नहीं है चैतन्यगुण मेरा है। पिता मेरा नहीं हैं मेरा तो चैतन्यप्राण मात्र है। माता मेरी नहीं है मेरा तो चैतन्यप्राण मात्र है। शरीर मेरा नहीं है मेरा तो चैतन्यप्राण मात्र है। मैं स्त्री नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं बालक नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं। मैं युवा नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं मनुष्य नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं। मैं देव नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं। मैं तिर्यंच नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं। मैं नारकी नहीं हूं, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं। मैं किसी को बचा सकता नहीं हूं, सब जीव अपनी आयु से बचते हैं। मैं किसी को मार सकता नहीं हूं, सब जीव अपनी अपनी आयु क्षयसे मरणको प्राप्त होते हैं। मैं कोई को सुख दुःख दे सकता नहीं हूं सभी जीव अपने अपने कर्मके उदय से सुखी दुःखी होते हैं। कोई जीव मुझको मार सकता नहीं है, क्योंकि शरीर का न रहना और टिकना आयुके आधीन है। मेरे चैतन्य प्राणका नाश कभी भी होता नहीं है। संसार का कोई भी पदार्थ इष्ट अनिष्ट नहीं है, मात्र मेरा रागादिक परिणाम ही दुःख दायक है और मेरा ज्ञायक स्वभाव ही सुख का कारण है। कोई देव गुरु मेरा तीनकाल में

कल्याण कर नहीं सकता है, मेरा कल्याणका कर्त्ता मेरा आत्मा ही है ऐसे भावसे ही अर्थात् तद्रूप मान्यता, श्रद्धासे मिथ्यात्व का संवर होता है।

मिथ्यात्व का संवर हो जाने से सम्यग्दृष्टि जीवकी श्रद्धा में सप्त भयका अभाव हो जाता है। तब सम्यग्दृष्टि क्या सोचता है कि मेरा लोक तो चैतन्य स्वरूप मात्र एक नित्य है यह सबमें प्रकट है। इस लोकके सिवाय जो अन्य है वह परलोक है। सो मेरा लोक तो किसी का बिगाड़ा हुआ नहीं बिगड़ता, ऐसा विचारते हुए ज्ञानी को इसलोक परलोक का भय नहीं है। ज्ञानी अपना ज्ञान मात्र स्वरूप का भोक्ता है इसी कारण कर्म जनित आई वेदना को अपनी न मानकर उसका भय नहीं खाता है। ज्ञानी ऐसा जानता है कि मेरा आत्मा नित्य है, सत्तास्वरूप है, जिसका नाश तीन काल में होता नहीं है इसी कारण ज्ञानी को अरक्षाका भय नहीं है। ज्ञानी समझता है कि मेरी आत्मा में किसीका प्रवेश नहीं हो सकता। मैं तो त्रिकाल सबसे भिन्न हूँ, इसी कारण ज्ञानी के अगुप्ति भय नहीं है। ज्ञानी विचारता है कि पौद्गलिक द्रव्य प्राणोंका उच्छेद होना उसे मरण कहते हैं। मेरा तो चैतन्य प्राण है वह सास्वत है, उसका तीन काल में नाश नहीं होता है इसी कारण ज्ञानी को मरण का भय नहीं है। ज्ञानी विचारता

है कि मेरा ज्ञान अविनाशी है, अनादि है, अचल है, एक है, इसमें दूसरेका प्रवेश हो ही नहीं सकता है। इसे अकस्मात् कुछ होता ही नहीं है इसी कारण ज्ञानी को अकस्मात् का भय नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को आत्म-अनुभव हो जाने से मिथ्यात्वका संवर प्रथम होता है।

कषायका संवर—जीवोंको मारने का भाव पाप भाव था और जीवों को बचाने का भाव पुण्य भाव था इन दोनों भावका अभाव होजाने से अर्थात् अप्रत्याख्यानावरणी कषाय भाव तथा प्रत्याख्यानावरणी कषाय रूप भावका अभाव होजाने से अव्रत भावका संवर होजाता है। द्वेष रूप जितना भाव था वहतो सभी पाप भाव था उस भावका अभाव हो जाना यह द्वेषका संवर है। भक्ति के भावका अभाव होकर अपनी आत्मामें स्थिररूप हो जाना वही धर्म है। आत्माका अपने स्वभाव से बाहर निकलना वही आत्माका व्यभिचारी भाव है। अरहंत भक्तिका भाव भी मोक्षमार्ग में व्यभिचारी भाव है। ऐसे भावसे आत्माके कर्मोंका बन्ध पड़ता है। बन्ध भावको अच्छा मानना ऐसा है कि मां दूसरे से नाता करे और बेटा इसीके उपलक्ष में लापसी खानेमें आनन्द मानें। संपूर्ण कषायका अभाव होना यह दूसरा संवर भाव है।

क्रियाका संवर—आत्माके प्रदेशोंका जो क्षेत्रान्तर होता है वह तो बन्धन था परन्तु ऐसा क्षेत्रान्तर होना मिट जाना और आत्माके प्रदेशों का स्थिर होजाना तीसरा क्रियाका संवर है। क्रियाका संवर होनेसे आत्मा लघु कालमें सिद्ध-पदकी प्राप्ति करता है।

जड संवर—पौद्गलिक द्रव्य कर्मोंका आत्माके प्रदेशों से बन्धन का रुक जाना यह द्रव्य संवर है। जैसे चतुर्थ गुणस्थानमें इकतालीस प्रकृतियोंका बन्धन रुक जाना यह जड़ संवर है। सप्तम नरक के सम्यग्दृष्टि नारकीके जितना संवर है इतनाही संवर सर्वार्थ सिद्धिके देवके है। संवरमें किंचित मात्र अन्तर नहीं है। निर्जरा में दोनों के महान् अन्तर है। नारकीके उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है, जब देवके परमशुक्ल लेश्या है। उसी प्रकार पंचमगुण स्थान-वर्त्ती प्रथम प्रतिमाधारीको जितना संवर है इतना ही संवर ऐलक के भी है। संवर में किंचित् फर्क नहीं है। परन्तु निर्जरामें महान् अन्तर है जितना ही प्रकृतियों का बन्ध रुक जाता है उतना ही संवर है।

निर्जरा तत्त्व—

निर्जरा दो प्रकारकी होती है। १ चेतन निर्जरा, २ जड निर्जरा। जिनको शास्त्रीय भाषामें भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा कहते हैं।

चेतन निर्जरा—आत्मामें मिथ्यात्व भावका अभाव होने बाद ही चेतन निर्जरा आरम्भ होती है । मिथ्यादृष्टियों के चेतन निर्जरा नहीं होती है । मिथ्यात्वका अभाव हुए बिना निर्जरा होती ही नहीं है । मिथ्यात्वका अभाव हुए बाद जिस अंशमें आत्मिक गुणोंकी वृद्धि होती है उसीका नाम निर्जरा है । सम्यग्दर्शन हुवा बाद जितनी २ इच्छाओंका जीवन भरके लिए अभाव होता जाता है उसी का नाम निर्जरा है । मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व के नाश किये पहिले ही व्यवहार चारित्र द्वारा इच्छाओंका अभाव हो जाता है जो कि निर्जराका कारण है परन्तु मिथ्यात्वका अभाव हुए बिना उन्हीं भावों से मात्र पुण्य का वन्ध पड़जाता है । और सम्यग्दृष्टि के इस प्रकार की इच्छाके अभाव से निर्जरा आरम्भ होती है यही सम्यग्दर्शन की महिमा है । बारह प्रकार के तपसे निर्जरा नहीं होती है । तपसे मात्र पुण्य वन्ध होता है ।

शंका—तपसे पुण्य वन्ध कैसे होता है ? सूत्रमें तो "तपसा निर्जरा च" कहा है ।

समाधान—सूत्र में "तपसा निर्जरा च" कहा है वह तो सत्य है परन्तु तपका लक्षण "इच्छा निरोधस्तपः" कहा है जहां इच्छाका निरोध होता है वहां निर्जरा होती है । उपवास करने के दूसरे दिन आहार लेने की इच्छा

तो है वहां इच्छा का निरोध कहाँ हुआ ? जहां जीवनभर की इच्छा मिट जावे, जो इच्छा पीछे खडी न हो पाये उसीका नाम निर्जरा हैं। तपमें तो एकाध दिनकी इच्छा दब जाती है, पर इच्छा का अभाव नहीं होता है। जहां जहां इच्छा दब जाती है उसीका नाम बाह्य तप है अर्थात् उसीका नाम पुण्य भाव है और जहां २ इच्छाका जीवन भर का अभाव हो जाता है उसीका नाम यथार्थ में निर्जरा है। मिथ्यात्वका संवर हुआ बिना कषायका संवर अथवा निर्जरा चालू नहीं होती है। इच्छा के अभाव से कषायकी मंदता होती है परन्तु मिथ्यात्व का नाश नहीं होता है। मिथ्यात्वका नाश तो ज्ञान से ही होता है।

नारायण लक्ष्मणकी पत्नि "विशल्या" ने पूर्व भव में एक लाख मास खमण किया था अर्थात एक मासका उपवास एक दिन आहार इसी प्रकार एक लाख महिनाका उपवास किया था जिसके फलसे यह शक्ति प्राप्त हुई कि देवद्वारा दी हुई शस्त्ररूपी शक्ति जिस मनुष्य के शरीर में लग जाती थी वह शक्ति विशल्याके स्नान जलके स्पर्श मात्र से चली जाती थी। जिसके प्रतापसे नारायण लक्ष्मण भी रावण की मारी हुई शक्ति से मूर्छा रहित हुवा था। तपसे इतना बडा फल मिला तो भी उस तपसे विशल्या के निर्जरा नहीं हुई, क्योंकि तपसे विशल्या के मिथ्यात्व

भावका अभाव नहीं हुआ था। यदि मिथ्यात्व का अभाव हो जाता तो स्त्री पर्याय कैसे मिलती ? इससे मालुम होता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त हुवा बाद ही निर्जरा प्रारम्भ होती है। तप करने से इच्छाएं मंद होती हैं अर्थात इच्छाएं दब जाती हैं परन्तु उसी समय में यदि आत्मा पुरुषार्थ करे और इच्छाका नाश करे तो निर्जरा हो सकती है। इसलिये कारणमें कार्य का उपचार कर तप से भी उपचार से निर्जरा होती है ऐसा कहा जाता है।

इच्छाका नाश होजाना और इच्छा का दब जाना इसमें बहुत ही अंतर है। जितना जितना अंश में इच्छाओं का नाश हो जाता है इतने इतने अंश में निर्जरा होती जाती है यही निर्जरा का क्रम है। सम्यग्दर्शन हुए बाद अंश अंशमें इच्छाओंका अभाव होना उसीका नाम निर्जरा तत्व है।

जड़ निर्जरा—

आत्म प्रदेशों पर जो पौद्गलिक कार्माण वर्गणा कर्म रूपमें बैठी थी उसका काल पूर्ण होनेसे अथवा कालकी मर्यादा पहले ही विशुद्ध आत्मिक परिणामों द्वारा खिरजाना उसीका नाम जड़ निर्जरा है।

शंका—सविपाक और अविपाक निर्जरा किसको कहते हैं और वे किस जीवके होती हैं ?

समाधान—सविपाक और अविपाक निर्जरा का भेद पुद्गल जड़ निर्जरा में पड़ता है। आत्माकी निर्जरा अथवा चेतन निर्जरा में दो भेद पड़ते नहीं हैं, वहां तो एकही प्रकारकी निर्जरा है। कालकी मर्यादा पूरी होने से द्रव्य कर्मका आत्म प्रदेशों से अंशमें अलग होजाना उसी का नाम सविपाक निर्जरा है। और कालकी मर्यादा पहले आत्माके विशुद्ध परिणामोंका निमित्त पाकर आत्म प्रदेशों से द्रव्य कर्मोंका अंशमें अलग होजाना इसीका नाम अविपाक निर्जरा है। यह दोनों निर्जरा मिथ्यादृष्टि अभव्य जीवोंके भी होती हैं। प्रायोग्यलब्धिरूप जब आत्माका परिणाम होता है उस कालमें सत्तर कोड़ाकोड़ीका बन्ध मिटकर अन्तः कोड़ाकोड़ी का होजाना उसीका नाम अविपाक निर्जरा है और ऐसी निर्जरा मिथ्यादृष्टि अभव्य जीवोंके भी होती है। परन्तु आत्मा की निर्जरा मिथ्यादृष्टि के कभी नहीं होती है, क्योंकि उसने मिथ्यात्व भाव का संवर नहीं किया है।

मोक्षतत्त्व—

मोक्ष तत्त्व दो प्रकारका होता है। १ चेतनमोक्ष, २ जड़ मोक्ष। जिनको शास्त्रीय भाषामें भावमोक्ष तथा द्रव्य मोक्ष कहते हैं।

चेतनमोक्ष–

आत्माके संपूर्ण गुणोंकी शुद्धता हो जाना उसीका नाम चेतनमोक्ष है।

आत्मा और बन्ध का जुदा करना मोक्ष है। बन्ध का कारण आत्माका श्रद्धा गुण, चारित्र गुण और क्रिया गुणका विकार है, उन गुणोंका शुद्ध परिणमन होजाना वही मोक्ष का यथार्थ में कारण है। बन्धके स्वरूपके ज्ञान मात्र से ही मोक्ष होता है अर्थात् बन्धका स्वरूप जानना ही मोक्षका कारण है ऐसा मानना असत्य है अर्थात् मिथ्या कल्पना है। क्योंकि ऐसा अनुमानका प्रयोग है कि कर्मसे बंधे पुरुष के स्वरूप का ज्ञान मात्र ही मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि मात्र यह जानना कर्मसे छूटनेका हेतु नहीं है। जैसे बेड़ी आदिसे बन्धे पुरुषके उस बेड़ी आदि बन्धन के स्वरूपका जानना मात्र ही बेड़ी आदि कटनेका कारण नहीं होता, उसी तरह कर्मके बन्धनका स्वरूप जानने मात्र से ही कर्म बन्धन नहीं छूटता। कर्मके बन्धके विस्तारकी रचना के (अनेक प्रकार होने के) जानने मात्र से ही बन्ध छुटना जो कोई अन्यमति मानते हैं वे उसके ज्ञान मात्र में ही सन्तुष्ट हैं उनका खंडन किया है बन्धकी चिंता भी बंधसे छूटने का अर्थात् मोक्षका कारण है यह मानना असत्य है। यहां भी अनुमानका प्रयोग ऐसा

है कि कर्म बंधन कर बंधे हुए पुरुषके उस बंध की चिंता का जो प्रबंध है कि यह बंध कैसे छूटेगा ? इस रीति से मनको लगाये वह भी बंधके अभाव रूप मोक्षका कारण नहीं है। क्योंकि यह चिंताका प्रबंध बंधसे छूटनेका हेतु नहीं है। जैसे बेड़ी (सांकल) से बंधा हुआ पुरुष उस बंधकी चिंता ही किया करे, छूटनेका उपाय न करे, वह उस बेड़ी आदिके बन्धनसे नहीं छूटता, उसी तरह कर्म बंधनकी चिंता प्रबन्धसे मोक्ष नहीं है। कर्म बन्धनको छेदना मोक्षका कारण है, क्योंकि यह छेदना ही वहां कारण है। जैसे बेड़ी (सांकल) आदिकर बन्धे पुरुषके सांकलका बन्ध काटना ही छूटनेका कारण है, ऐसे जो पुरुष आत्माका निश्चय कर निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र तो आत्माका स्वभाव और उस आत्माके विकारके करनेवाले बन्धोंका स्वभाव इन दोनोंको विशेषकर जानकर उन बन्धनोंसे विरक्त होता है वही पुरुष समस्त कर्मों के मोक्षको करता है।

शंका—" सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः " ऐसा तत्वार्थ सूत्रमें कहा है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति चतुर्थ गुणस्थानमें हो जाती है। यथाख्यात चारित्रकी प्राप्ति बारहवें गुणस्थानके पहिले समयमें हो जाती है। और केवलज्ञानकी प्राप्ति तेरहवें गुणस्थानके पहिले समय में

हो जाती है तो भी आत्माका मोक्ष क्यों नहीं होता है ?

समाधान---आत्मामें अनन्त गुण हैं उन्हींमेंसे मात्र चारित्र नामके गुणकी शुद्धतासे आत्माका चारित्र शुद्ध हो गया ऐसा नहीं मानना चाहिये। आत्माके संपूर्ण गुणोंकी शुद्धता हो जाना उसीका नाम आत्माका चारित्र हुवा कहा जाता है। ऐसे चारित्रका नाम आत्माका चारित्र है। आत्माके संपूर्ण गुणोंकी शुद्ध अवस्था हो जानेसे उसी समयमें आत्माका मोक्ष हो जाता है अर्थात् सिद्ध पद्की प्राप्ति हो जाती है। चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समय में संसारका अभाव हो जाता है और उस ही समयमें सिद्ध पद्की उत्पत्ति हो जाती है।

शंका—प्रथमसे प्रथम आत्माके कौनसे गुणकी शुद्धता होती है और अन्तमें आत्माके किस गुणकी शुद्धता होती है ?

समाधान—आत्माके श्रद्धा नामक गुणकी प्रथम शुद्धता होती है, जिसको सम्यग्दर्शन कहा जाता है और अन्तमें आत्माकी निष्क्रियत्व शक्ति (क्रियावती) की शुद्धता होती है जिसे उपचारसे आत्माको उर्द्ध्वगमन स्वभावकी प्राप्ति हुई ऐसा कहा जाता है। कर्मके सद्भावमें जो शक्ति क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर करती थी वही शक्ति जिसका नाम निष्क्रियत्व शक्ति है वही कर्मोंके अभावमें शुद्ध होती है।

जड़मोक्ष—अनादिकालसे जो पौद्गलिक वर्गणाएँ द्रव्यकर्म रूपसे आत्माके प्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रावगाही बन्धनरूप थीं उन्हीं कर्म वर्गणाओंका आत्माके प्रदेशसे अत्यन्त अभाव अर्थात् क्षय हो जाना उसीका नाम जड़ मोक्ष है।

शंका—क्षय किसे कहते हैं।

समाधान—जिनके मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों के भेदसे प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध अनेक प्रकार के हो जाते हैं ऐसे आठ कर्मों का जीव से जो अत्यन्त वियोग हो जाता है उसे क्षय कहते हैं।

पौद्‌गलिक द्रव्य कर्मों की कर्म रूप अवस्था मिटकर शुद्ध पुद्‌गल रूप अवस्था हो जाना उसी का नाम जड मोक्ष है।

प्रतिक्रमणादि अधिकार

ज्ञानसे अन्य जो भाव उसमें ऐसा अनुभव करे कि यह मैं हूँ वह अज्ञान चेतना है। वह दो प्रकार की होती है। १ कर्म चेतना २ कर्मफल चेतना। उनमें से ज्ञानके सिवाय अन्य भावों में ऐसा अनुभवे (माने) कि इसको मैं करता हूँ वह तो कर्म चेतना है और ज्ञानसे अन्य भावों में ऐसा अनुभव करे कि इसको मैं भोगता हूँ वह कर्म

फल चेतना है। ये दोनों ही अज्ञान चेतना है व संसार का बीज है। क्योंकि संसार का बीज आठ प्रकार का ज्ञानावरणादि कर्म है और कर्मका बीज अज्ञान चेतना है, जिससे कर्म बन्धते हैं। इसलिये जो मोक्षको चाहनेवाला पुरुष है उसको अज्ञान चेतना का नाश करने के लिये सब कर्मों के छोड़ देने की भावना कर एवं समस्त कर्मों के फल की त्यागकी भावना कर अपना स्वभाव भूत मात्र ज्ञानवती भगवती एक ज्ञान चेतना की ही निरन्तर भावना करनी चाहिये।

अतीत, अनागत और वर्तमान काल संबंधी सभी कर्मों को कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, काय से छोडकर उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्थाका मैं अवलंबन करता हूँ, इस प्रकार सब कर्मोंका त्याग करने वाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है।

प्रतिक्रमण कल्प—

Past
अतीत काल संबंधी कर्म के त्याग करने को प्रतिक्रमण कहा है। वह उनचास भंगसे प्रतिक्रमण किया जाता है। प्रतिक्रमण करने वाला कहता है कि जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में किया था और अन्य से प्रेरणा कर कराया था तथा दूसरे को करते हुए भला जाना था, मनसे, वचन से, कायसे, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या होवे। जो पापकर्म

मैंने अतीत काल में किया, अन्यसे प्रेरणा कर कराया, और अन्य को करते हुए भला जाना, मनकर, वचनकर, वह पाप कर्म मिथ्या होवे। जो पापकर्म मैंने अतीतकाल में किया, अन्यसे प्रेरणा कर कराया और अन्य को करते हुए भला जाना मनकर, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म अतीत काल में मैंने किया, अन्यसे प्रेरणा कर कराया, और अन्यको करते हुए भी भला जाना, वचन कर, कायकर मेरा वह पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म अतीत कालमें मैंने किया, अन्यसे प्रेरणाकर कराया और करते हुए को भला जाना, मनकर ही मेरा वह पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म अतीत कालमें मैंने किया, अन्यसे प्रेरणाकर कराया और करते हुए को भला जाना, वचन कर ही वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म अतीत कालमें मैंने किया, अन्यसे प्रेरणा कर कराया और करते हुए को भला जाना, कायकर ही मेरा वह पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म अतीत काल में मैंने किया, अन्य को प्रेरणाकर कराया, मनकर, वचनकर, कायकर मेरा वह पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म अतीत कालमें मैंने किया और करते हुए को भला जाना, मनकर, वचनकर, कायकर मेरा वह पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अन्यसे प्रेरणाकर कराया, अन्य करते

हुए को भला जाना, मनकर, वचनकर, कायकर मेरा वह पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में किया और अन्य से प्रेरणाकर कराया, मनकर, वचनकर मेरा वह पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत कालमें किया और करते हुए को भला जाना, मनकर, वचनकर वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें किया और अन्यसे प्रेरणाकर कराया तथा करते हुए को भला जाना, मनकर वचनकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत कालमें किया अन्यसे प्रेरणाकर कराया, मनकर, कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें किया और करते हुए को भला जाना, मनकर, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अन्यसे प्रेरणाकर कराया और अन्यको करते हुए भला जाना, मनकर, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें किया और अन्यको प्रेरणाकर कराया, वचनकर, कायकर वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीतकालमें किया और अन्यको करते हुए भला जाना, वचनकर, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में अन्यसे प्रेरणाकर कराया और अन्यको करते हुए

भला जाना, वचनकर, कायकर, वह पापकर्म मेरा मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें किया और अन्यसे प्रेरणाकर कराया केवल मनसे ही वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीतकालमें किया और अन्यको करते हुए भला जाना, मनकर वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें किया और अन्यको प्रेरणाकर कराया तथा करते हुए को भला जाना, मनकर वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीतकालमें किया और अन्यको प्रेरणाकर कराया, वचनकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीतकालमें किया और अन्यको करते हुए भला जाना, वचनकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीतकालमें अन्य को प्रेरणाकर कराया और करते हुए को भला जाना वचनकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीतकाल में किया और अन्यको प्रेरणा कर कराया, कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैने अतीत काल में किया और अन्य को करते भला जाना कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में अन्य से प्रेरणाकर कराया और अन्य को करते हुए भला जाना, कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत कालमें किया, मनकर, वचनकर,

कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म अतीत काल में मैंने अन्य से प्रेरणाकर कराया, मनकर, वचनकर, कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें अन्यको करते हुए भला जाना मनकर, वचनकर, कायकर वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में किया, मनकर, वचनकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत कालमें अन्य से प्रेरणा कर कराया, मनकर, वचनकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में अन्यको करते हुए भला जाना, मनकर, वचनकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में किया मनकर, कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में अन्य से प्रेरणाकर कराया, मनकर, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में अन्य को करते हुए भला जाना, मनकर कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैने अतीत काल में किया, वचनकर, कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में अन्य से प्रेरणाकर कराया, वचनकर, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में अन्यको करते हुए को भला

जाना, वचनकर, कायकर, वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में किया, मनकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में अन्यसे प्रेरणा कर कराया, मनकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत कालमें अन्य को करते हुए भला जाना, मनकर वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पापकर्म मैंने अतीत काल में किया, वचनकर वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में अन्यसे प्रेरणा कर कराया, वचनकर वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत कालमें अन्य को करते हुए भला जाना, वचनकर वह मेरा पाप कर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म अतीत कालमें मैंने किया, कायकर वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्ममैंने अतीत काल में अन्य से प्रेरणा कर कराया, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो। जो पाप कर्म मैंने अतीत काल में अन्यको करते हुए भला जाना, कायकर, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो।

जो मैंने अज्ञान से अतीत काल में कर्म किये उन सबकोही प्रतिक्रमण रूप कर सब कर्मों से रहित चैतन्य स्वरूप आत्मामें आपकर ही निरंतर वर्त्तता हूँ। ऐसा ज्ञानी जीव अनुभव करे। इस तरह प्रतिक्रमण कल्प समाप्त हुआ।

आलोचना कल्प— Past

प्रतिक्रमण में अतीत काल में जो पाप किया था उसका निषेध रूप भावना थी और आलोचना कल्पमें वर्तमान कर्त्तापनेका निषेध है। वह भी उनचास भंगसे किया जाता है। मैं कर्मको नहीं करता हूँ, न अन्य से प्रेरणाकर कराता हूँ, और न अन्य करते हुए को भी भला मानता हूँ, मनकर, वचनकर, कायकर इस तरह प्रतिक्रमण में जो उनचास भंग अतीत काल के दिखाए हैं अब उन्हीं में वर्तमान काल लगाकर समझना चाहिये। यह आलोचना कल्प है।

वर्तमान काल में आये हुए कर्म के उदयको ज्ञानी ऐसे विचारता है कि जो पहले कर्म बांधा था उसीका यह कार्य है, यह कार्य मेरा नहीं। मैं तो इसका कर्त्ता नहीं हू मैं तो शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा हूं। जिसकी प्रवृत्ति दर्शन ज्ञान रूप है, उससे इस उदय हुए कर्म को देखने जानने वाला हूँ। मैं अपने स्वरूपमें ही वर्तता हूं। ऐसा अनुभव करना निश्चय चारित्र है।

इस तरह आलोचना कल्प समाप्त हुआ।

प्रत्याख्यान कल्प

प्रतिक्रमणमें अतीत कालमें जो पाप किया था उसका निषेध रूप भावना थी और आलोचना कल्प में वर्तमान

कालके पापकी निषेध रूप भावना थी और प्रत्याख्यान कल्प में प्रत्याख्यान करने वाला कहता है कि आगामी कालमें कर्मोंको मैं नहीं करूंगा। अन्यसे प्रेरणाकर नहीं कराऊंगा, अन्य करते हुएको भला नहीं मानूंगा, मनकर, वचनकर, कायकर इस प्रकार प्रतिक्रमण कल्प में जैसे उनचास भंग दिखाये हैं उन्हीं में अतीत कालके स्थान पर आगामी कालमें मैं पाप नहीं करूंगा, इस प्रकार भावना करनी चाहिये।

प्रत्याख्यान करने वाला ज्ञानी कहता है कि आगामी सब कर्मोंका मैं प्रत्याख्यान (त्याग) कर नष्ट मोह वाला हुआ कर्म से रहित चैतन्य स्वरूप आत्मा में आप कर ही वर्तता हूँ।

सभी कर्म चेतना स्वरूप परिणामों में ज्ञानी तीनों काल के कर्मों का प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान कर सब कर्म चेतना से जुदे अपने शुद्धोपयोग स्वरूप आत्मा का ज्ञान श्रद्धान कर और उसमें स्थिर होनेका विधान कर निष्प्रमाद दशा को प्राप्त हो श्रेणी चढ़ केवलज्ञान उपजाने के सन्मुख होता है। यह ज्ञानीका कार्य है। ऐसे प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ।

कर्म फल संन्यास भावना

सर्व कर्म फलोंके संन्यास की भावना करनेवाला

ज्ञानी कहता है कि कर्मरूपी विष-वृक्षके यह फल हैं, वे मेरे भोगे बिना ही खिरजाओ, मैं चैतन्य स्वरूप अपने आत्माको निश्चल अनुभवता हूँ। ज्ञानी कहता है कि कर्म का फल जो उदय आता है उसको मैं ज्ञाता दृष्टा हुआ देखता हूँ, उसके फलका भोक्ता नहीं बनता। इसलिये मेरे भोगे बिना ही वे कर्म खिर जावें, मैं अपने चैतन्य स्वरूप आत्मामें लीन हुआ उनके देखने जाननेवाला ही रहूँ।

मैं ज्ञानी हूँ, इसलिये मतिज्ञानावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं श्रुतज्ञानावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं अवधिज्ञानावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं मनःपर्यय-ज्ञानावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं केवलज्ञानावरणी कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। मैं चक्षुदर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं अचक्षुदर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका अनुभव करता हूँ। मैं अवधिदर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ,

चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं केवल दर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं निद्रादर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका अनुभव करता हूँ। मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणी कर्मके फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका अनुभव करता हूँ। मैं प्रचलादर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा का अनुभव करता हूँ। मैं स्त्यान-गृद्धिदर्शनावरणी कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका अनुभव करता हूँ। मैं सातावेदनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं असाता वेदनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूँ। मैं सम्यक्त्व-मोहनीय नाम कर्मके फलको नहीं भोगता हूं चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूं। मैं सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा का अनुभव करता हूं। मैं मिथ्यात्व-मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अनुभव करता हूं। मैं

अनन्तानुबन्धी क्रोध-कषाय—वेदनीय रूप मोहनीय कर्मका फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता हूं। मैं अनन्तानुबंधी मानकषाय—वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्माको ही अनुभव करता हूं। मैं अनंन्तानु बंधी माया-कषाय वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं अनंन्तानुबंधी लोभ-कषायरूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभव करता हूं। मैं अप्रत्याखानावरणी क्रोध-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं अप्रत्याख्यानावरणी मान-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभव करता हूं। मैं अप्रत्याख्यानावरणी माया—कषाय वेदनीय रूप मोहनीय कर्मको नहीं भोग्ता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं अप्रत्याख्याना वरणी-लोभ-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं प्रत्याख्याना-वरणी क्रोध-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप

आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं प्रत्याख्यानावरणी-मान-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, मैं चेतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं प्रत्याख्यानावरणी-माया-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं प्रत्याख्यानावरणी-माया-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं प्रत्याख्याना वरणी-लोभ-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं संज्वलन-क्रोध-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को अनु-भवता हूं। मैं संज्वलन-मान-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं संज्वलन-माया-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभव करता हूं। मैं संज्वलन-लोभ-कषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्माको ही अनुभव करता हूं। मैं हास्य-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता

हूं । मैं रति-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फल को नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं । मैं अरति-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरुप आत्माको ही अनुभवता हूं । मैं शोक-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोक्ता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ । मैं भय-नौकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप रूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ । मैं जुगुप्सानो-कषाय-वेदनीय मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ । मै स्त्री-वेद-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ । मैं पुरुष-वेद-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ । मैं नपुंसक-वेद-नोकषाय-वेदनीय रूप मोहनीय कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ । मैं नरकआयु कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को अनुभवता हूँ । मैं तिर्यचायु कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं । मैं मनुष्य-आयु कर्म

के फलको नहीं भोगता हूं, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ। मैं देव आयु कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माको ही अनुभवता हूं। मैं नरकगति नाम कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को अनुभवता हूँ। मैं तिर्यंचगति नाम कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ। मैं मनुष्य गति नाम कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूँ। मैं देवगति नाम कर्म के फलको नहीं भोगता हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभवता हूं। मैं एकेन्द्रियजाति नाम कर्म० चैतन्य०। मैं द्वीन्द्रियजाति नाम कर्म० चैतन्य०। मैं त्रीन्द्रियजाति नाम कर्म० चैतन्य०। मैं चतुरिन्द्रियजाति नाम कर्म० चैतन्य०। मैं पंचेन्द्रियजाति नाम कर्म० चैतन्य०। मैं औदारिकशरीर नाम कर्म० चैतन्य०। मैं वैक्रियिकशरीर नाम कर्म० चैतन्य०। मैं आहारकशरीर नाम कर्म० चैतन्य०। मैं तैजसशरीर नाम कर्म० चैतन्य०। मैं कार्माण शरीर नाम कर्म० चैतन्य०। मैं औदारिक-शरीर-अंगोपांग नाम कर्म० चैतन्य०। मैं वैक्रियिक-शरीर-अंगोपांग नाम कर्म० चैतन्य०। मैं आहारक-शरीर-अंगोपांग नाम कर्म० चैतन्य०। मैं औदारिक-शरीर-बंधन नाम कर्म० चैतन्य०।

मैं वैक्रियिक-शरीर-बंधन नाम कर्म० चैतन्य० । मैं आहारक-शरीर-बंधन नाम कर्म० चैतन्य० । मैं तैजस-शरीर-बंधन नाम कर्म. चैतन्य० । मैं कार्माण-शरीर-बंधन नाम कर्म० चैतन्य० । मैं औदारिक-शरीर-संघात नाम कर्म० चैतन्य० । मैं वैक्रियिक-शरीर-संघात नाम कर्म० चैतन्य० । मैं आहारक-शरीर-संघात नामकर्म० चैतन्य० । मैं तैजस-शरीर-संघात नाम कर्म० चैतन्य० । मैं कार्माण शरीर-संघात नाम कर्म० चैतन्य० । मैं समचतुरस्र-संस्थान नाम कर्म० चैतन्य० । मैं न्यग्रोधपरिमंडल-संस्थान नामकर्म० चैतन्य० । मैं स्वातिक-संस्थान नाम कर्म० चैतन्य० । मैं कुब्जक-संस्थान नाम कर्म० चैतन्य० । मैं वामन-संस्थान नामकर्म० चैतन्य० । मैं हुंडक-संस्थान नामकर्म० चैतन्य० । मैं वज्रवृषभनाराच संहनन नामकर्म० चैतन्य० । मैं वज्रनाराच संहनन नामकर्म० चैतन्य० । मैं नाराच संहनन नाम कर्म० चैतन्य० । मैं अर्धनाराच संहनन नामकर्म० चैतन्य० । मैं कीलिक संहनन नामकर्म चैतन्य० । मैं असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नामकर्म. चैतन्य० । मैं स्निग्ध-स्पर्श नामकर्म. चैतन्य. । मैं रूक्ष-स्पर्श नाम कर्म० चैतन्य. । मैं गुरुस्पर्श नामकर्म० चैतन्य० । मैं लघुस्पर्श नामकर्म० चैतन्य० । मैं शीतस्पर्श नाम कर्म० चैतन्य० । मैं उष्ण स्पर्श नामकर्म० चैतन्य० । मैं मृदुस्पर्श नामकर्म. चैतन्य. ।

मैं कठोरस्पर्श नामकर्म. चैतन्य.। मैं मधुररस नामकर्म. चैतन्य.। मैं आम्लरस नामकर्म. चैतन्य.। मैं तिक्त रस नामकर्म. चैतन्य। मैं कटुक रस नामकर्म. चैतन्य.। मैं कषाय रस नाम कर्म. चैतन्य.। मैं सुगन्ध नाम कर्म. चैतन्य.। मैं दुर्गंध नाम कर्म. चैतन्य.। मैं शुक्लवर्ण नामकर्म. चैतन्य.। मैं रक्तवर्ण नाम कर्म. चैतन्य.। मैं पीतवर्ण नामकर्म. चैतन्य.। मैं हरित वर्ण नामकर्म. चैतन्य.। मैं कृष्णवर्ण नामकर्म. चैतन्य। मैं नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्म चैतन्य.। मैं तिर्यग्गत्यानुपूर्वी नामकर्म. चैतन्य.। मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वी नामकर्म. चैतन्य.। मैं देवगत्यानुपूर्वी नामकर्म. चैतन्य.। मैं निर्माण नामकर्म. चैतन्य.। मैं अगुरुलघु नामकर्म. चैतन्य.। मैं उपघात नामकर्म. चैतन्य.। मैं परघात नामकर्म. चैतन्य। मैं आतप नामकर्म. चैतन्य.। मैं उद्योत नामकर्म. चैतन्य.। मैं उच्छ्वास नामकर्म. चैतन्य.। मैं प्रशस्तविहायोगति नाम कर्म. चैतन्य.। मैं अप्रशस्तविहायोगति नाम कर्म. चैतन्य.। मैं साधारण शरीर नाम कर्म. चैतन्य.। मैं प्रत्येक शरीर नाम कर्म. चैतन्य.। मैं स्थावर नाम कर्म. चैतन्य.। मैं त्रस नाम कर्म. चैतन्य.। मैं सुभग नाम कर्म. चैतन्य.। मैं दुर्भग नाम कर्म. चैतन्य.। मैं सुस्वर नाम कर्म. चैतन्य.। मैं दुस्वर नाम कर्म. चैतन्य.। मैं

शुभ नाम कर्म. चैतन्य. । मैं अशुभ नाम कर्म. चैतन्य. । मैं सूक्ष्म शरीर नाम कर्म. चैतन्य. । मैं बादर शरीर नाम कर्म. चैतन्य. । मैं पर्याप्ति नाम कर्म. चैतन्य. । मैं अपर्याप्ति नाम कर्म. चैतन्य. । मैं स्थिर नाम कर्म चैतन्य. । मैं अस्थिर नाम कर्म. चैतन्य. । मैं आदेय नाम कर्म. चैतन्य. । मैं अनादेय नाम कर्म. चैतन्य. । मैं यशःकीर्ति नाम कर्म. चैतन्य. । मैं अयशःकीर्ति नाम कर्म. चैतन्य. । मैं तीर्थंकर नाम कर्म. चैतन्य. । मैं नीच गोत्र कर्म. चैतन्य. । मैं उच्चगोत्र कर्म. चैतन्य. । मैं लाभांतराय कर्मके फलको भोगता नहीं हूँ, मैं चैतन्य स्वरूपी आत्माको अनुभवता हूँ । मैं भोगांतराय कर्मके फलको भोगता नहीं हूँ, चैतन्य स्वरूप आत्माको ही अनुभवता हूँ । मैं उपभोगांतराय कर्मके फलको भोगता नहीं हूँ, चैतन्य स्वरूपी आत्माको अनुभवता हूँ । मैं दानांतराय कर्मके फलको भोगता नहीं हूँ, चैतन्य स्वरूपी आत्माको ही अनुभवता हूँ । मैं वीर्यांतराय कर्मके फलको भोगता नहीं हूं, चैतन्य स्वरूपी आत्माको ही अनुभव करता हूँ ।

त्याग

इस तरह की ज्ञानी सकल कर्मों के फलके सन्यासकी भावना करे । यहां भावना नाम बार बार चिंतवनकर उपयोग के अभ्यास करने का है । जब सम्यग्दृष्टि हो

ज्ञानी होता है तब ज्ञान श्रद्धान तो हो ही गया है, कि मैं शुद्ध नय कर समस्त कर्मोंसे और कर्मोंके फल से रहित हूँ। परन्तु पूर्व बांधे हुए कर्म उदय आवें उनमें उन भावों का कर्ता पना छोड़ तथा पूर्व तीन काल संबंधी उनचास भंगोंकर कर्म चेतना के त्याग की भावना कर और इन सब कर्मों के फल भोगने के त्याग की भावना कर एक चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही अनुभव करे वही भोगना बाकी रहा है सो अविरत, देशविरत, प्रमत्त संयत अवस्था में तो ज्ञान श्रद्धान में निरंतर भावना है ही, परन्तु जब अप्रमत्त दशामें एकाग्र चित्तकर ध्यान करे तब केवल चैतन्य मात्र आत्मा में उपयोग लगाये और शुद्धोपयोग रूप होय तब निश्चय चारित्र रूप शुद्धोपयोग रूप भावसे श्रेणी चढ़ केवल ज्ञान उपजाता है। उस समय इस भावना का फल जो कर्म चेतना और कर्म फल चेतना से रहित साक्षात् परमानंद में मग्न रहता है।

इति "भेदज्ञान" शास्त्रमध्ये प्रतिक्रमणादि अधिकार संपूर्ण हुआ।

मोक्षमार्गकी चूलिका—

आत्माका स्वभाव चेतना है, अर्थात् आत्मा ज्ञायक स्वभावी है। परन्तु अनादि काल से परपदार्थों में सुखकी कल्पनाकर दुःखी हो रहा है। परपदार्थ दुःखका कारण नहीं है। दुःख का कारण अपनी निजकी बनाई कल्पना है। आगम द्वारा जब जीव अपने स्वरूपका ज्ञान करता है तब परपदार्थों में जो अनादिकी सुखकी कल्पना करता था वह कल्पना विलय हो जाती है। और निश्चल श्रद्धान हो जाता है कि परपदार्थों में सुख नहीं है परन्तु संपूर्ण सुख मेरी आत्मामें भरा हुआ है। और वही सुख अनेक प्रकारकी इच्छाओं के कारण छिपा हुआ, ढका हुआ है। ऐसी श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन और ऐसे जानने का नाम सम्यक् ज्ञान कहा जाता है।

ज्ञानका स्वभाव स्थिर रहकर देखना जानना है, परंतु अनेक प्रकार की इच्छाओं के कारण ज्ञान स्थिर न रहकर इधर उधर घूमता है। यही ज्ञानका घूमना दुःख की जड़ है। जितनी जितनी इच्छाओंका अभाव हो जाता है, उतना उतना ज्ञानका घूमना आप से आप रुक जाता है इसीका नाम सम्यक् चारित्र है।

चारित्र दो प्रकार का है—१ स्वचारित्र, २ परचारित्र। स्वरूप में रमण करना अर्थात् वीतराग भावका नाम

स्वचारित्र है। स्वचारित्र को स्वसमय कहते हैं। विकारी भावोंमें रमण करना अर्थात् पुण्य-पाप भावोंमें रमण करना इसीका नाम परचारित्र है। परचारित्र को परसमय कहा जाता है। स्वसमय का नाम ज्ञान चेतना है और परसमयका नाम कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना है। जो स्वसमयी है सो साक्षात् मोक्ष मार्गी है। और जो परसमयी है सो संसार मार्गी है।

अनादिसे यह संसारी जीव निश्चयसे ज्ञान स्वभावी ही है, तीनकालमें जड़ स्वभावी नहीं होता है परन्तु अनादि मिथ्यात्व के कारण से अशुद्धोपयोगी होकर अनेक प्रकार के परभावों को धारण करता है। इस कारण अपने गुणपर्याय में स्थिर नहीं रहकर, परसमय रूप प्रवर्तता है। इसी कारण उसको व्यभिचारी अर्थात् परमें रमण करने वाला परसमयी कहा जाता है। जब वही जीव यथार्थ सम्यग्दर्शन की और सम्यग्ज्ञान की अपने ही पुरुषार्थ द्वारा प्राप्ति करता है, अर्थात् अपने ध्येय को, अपने लक्ष्यबिन्दुको, श्रद्धामें लाता है तब अत्यन्त शुद्धोपयोगी होकर अपने को निजगुणपर्याय में रमण करता है, अर्थात् अपने ज्ञानस्वभाव में रमण करता है, अर्थात् अपने वीतराग भावमें रमण करता है, तब वही आत्मा स्वसमयी कहा जाता है।

परसमयी का स्वरूप—

जो जीव अविद्या पिशाच स्वरूप मिथ्यात्व भावके वशीभूत होकर पांचइन्द्रिय और पांचइन्द्रिय के विषयमें अशुभ भावसे रमण करता है. एवं व्रतादिभाव, बारह प्रकारके तप रूप भाव, पंचमहाव्रत, पंचसमिति रूप भाव, एवं अरहंत भक्ति, आदि भावोंमें रमण करने रूप शुभ भावोंमें रमण करता है और जो अपने ज्ञायक भावमें रमण नहीं करता है, अर्थात् वीतराग भावमें रमण नहीं करता है वही आत्मिक शुद्धाचरण से रहित पर भावोंमें रमण करने वाला परसमयी है। क्योंकि अशुभ भावोंसे नियम से पापका ही बन्ध पड़ता है और शुभ भावोंसे पुण्य का पड़ता है। इसी प्रकार दोनों ही बन्धन भावोंमें रमण करने वाले जीव को परसमयी कहा जाता है, क्योंकि, वह जीव अपने स्वरूप से भ्रष्ट हुआ व्यभिचारी भावोंमें आनंद मानने वाला है ऐसा महा पुरुषों ने कहा है।

स्वसमयी का स्वरूप—

जो सम्यग्दृष्टि आत्मा निश्चय करके अपने ज्ञायक स्वभाव को देखता है, और जानता है वह जीव अन्तरंग बहिरंग परिग्रह से रहित होकर एकाग्रता से चित्तके निरोधपूर्वक वीतराग स्वरूप में लीन होकर प्रवर्तता है वही जीव स्वसमयी है।

वीतराग सर्वज्ञने निश्चय व्यवहारके भेदोंसे मोक्ष-मार्ग दिखाया है। उन दोनों में निश्चय नयके अवलंबन से शुद्धगुणगुणी का आश्रय लेकर अभेद भावरूप साध्य साधन की जो प्रवृत्ति है वही निश्चय मोक्ष मार्ग प्ररूपणा कही जाती है। और व्यवहारनय के अवलम्बन से अशुद्ध गुणगुणीका आश्रय लेकर भेद भावरूप साध्य साधन की जो व्रतादि रूप प्रवृत्ति है वही व्यवहार मोक्ष मार्ग प्ररूपणा कही जाती है। निश्चय साध्य है, और व्यवहार का अभाव सो साधन है। जैसे सोना साध्य है और जिस पाषाणमें से निकलता है उस पाषाण का अभाव सो साधन है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनों की एकता सो निश्चय मोक्षमार्ग है। षट्द्रव्य, पंचास्ति-काय, सप्ततत्त्व, नौपदार्थ इनका जो श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है, द्वादशांग के अर्थका जानना सो सम्यग्-ज्ञान है और पंचमहाव्रत आदि यतिका आचरण सो सम्यक्चारित्र है, यह व्यवहार मोक्षमार्ग है। यह व्यव-हार मोक्ष मार्ग जीव पुद्गलके सम्बन्ध का कारण पाकर जो पर्याय उत्पन्न हुई है उसी के आधीन है। साध्य भिन्न, साधन भिन्न है। साध्य निश्चय मोक्ष मार्ग है, साधन व्यवहार मोक्षमार्ग है। जो जीव सम्यग्दर्शन

आदिक से अंतरंग में सावधान है उस जीव के सब जगह ऊपर के शुद्ध गुणस्थानोंमें शुद्ध स्वरूपकी वृद्धिसे अतिशय मनोज्ञता है। उन गुणस्थानोंमें रोकने वाला व्यवहार मोक्ष मार्ग है।

जो जीव निश्चय से अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में परम रसी भाव कर संयुक्त है। जो अपने आत्मिक स्वभाव में मस्त है, लीन है, वही आत्मा मोक्षमार्ग रूप है। समयग्दर्शन ज्ञान चारित्र से आत्मिक स्वरूपमें सावधान होकर जब आत्मिक स्वभाव में ही निश्चित विचरण करता है तब इसके निश्चय मोक्ष मार्ग कहा जाता है।

शंका—यदि आत्मा आपसे ही निश्चय मोक्ष मार्गी हो सकता है तो व्यवहार साधन किस लिये कहा?

समाधान—साधन दो प्रकारका होता है। १ सद्‌भाव साधन, २ अभाव साधन। अनादि काल से जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रमें आत्मा रमण करता था उसका अभावकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में रमण करना इसीका नाम व्यवहार साधन है। व्यवहार करते २ निश्चयकी प्राप्ति नहीं होती है, परन्तु व्यवहार छोड़ते २ निश्चयकी प्राप्ति होती है। व्यवहार का अभाव सो निश्चयका साधन कहा है।

निश्चय करके जो पुरुष आपके द्वारा आप ही अभेद रूप आचरण करे है, क्योंकि अभेद नय से आत्मा गुण-गुणी भावसे एक है, अन्य कारण के बिना आप ही आपको जानता है, स्वपर प्रकाशक चैतन्य शक्ति के द्वारा अनुभवी होता है, और आपही के द्वारा यथार्थ देखे है, सो आत्मनिष्ठ भेदविज्ञानी पुरुष आपही चारित्र है, आपही ज्ञान है, आपही दर्शन है। इस प्रकार गुणगुणी भेदसे आत्मा कर्ता है, ज्ञानादि कर्म है, शक्ति कारण है, इनका आपसमें नियम से अभेद है। इस कारण यह बात सिद्ध हुई कि चारित्र, ज्ञान, दर्शन रूप आत्मा है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी रत्नत्रय एक प्रकारका है तो भी व्यवहारसे दो प्रकारका है। १ सराग रत्नत्रय, २ वीतराग रत्नत्रय। जो दर्शन ज्ञान चारित्र राग लिये होते हैं, उनको तो सराग रत्नत्रय कहते हैं। और जो रत्नत्रय आत्मनिष्ठ वीतरागता लिये होय वह वीतराग रत्न-त्रय कहाता है। रागभाव आत्मिक भाव रहित परभाव हैं, परसमयरूप है। रत्नत्रय तो मोक्षका ही कारण है परन्तु रागके कारणसे रुढ़िके वश रत्नत्रयको बंधका भी कारण कहा जाता है। जैसे घृत अग्निके संयोगसे दाहका कारण होकर विरुद्ध कार्य करता है। यद्यपि घृत स्वभावमें शीतल ही है। इसी प्रकार रागके संयोगसे रत्नत्रय बन्धका

कारण है। जिस काल समस्त परसमयकी निवृत्ति होकर स्वसमयरूप स्वरूपमें प्रवृत्ति होय उस समय अग्नि संयोग रहित घृत दाहादि विरुद्ध कार्योंका कारण नहीं होता, ऐसे ही रत्नत्रय सरागताके अभावसे साक्षात् मोक्षका कारण होता है। इस कारण यह बात सिद्ध हुई कि जब यह आत्मा स्वसमयसे प्रवर्ते, निज स्वाभाविक भावको आचरे, उस ही समय मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है।

सूक्ष्म परसमयका स्वरूप—

अरहंतादिक जो मोक्षके कारण हैं उन भगवन्त परमेष्ठीमें भक्तिरूप रागांशकर जो रागलिये चित्तकी वृत्ति होय, उसका नाम शुद्ध संप्रयोग कहा जाता है, परन्तु भगवन्त वीतराग देवकी अनादि वाणीमें अरहंत भक्ति को भी शुभ-रागांशरूप अज्ञान भाव कहा है। इस अज्ञान भावके होते संते जितने कालताईं यद्यपि यह आत्मा ज्ञानवंत भी है, तथापि अरहन्त भक्ति भावसे मोक्ष होती है ऐसे रागभावसे मुक्ति माननेके अभिप्रायसे खेद-खिन्न हुआ प्रवर्ते है, तब तितने काल वह ही रागांशके अस्तित्वसे परसमयमें रत है ऐसा कहा जाता है। और जिस जीवके विषयादि करके रागांशकर कलंकित अंतरंग वृत्ति होती है, वह तो पर समयमें रत है ही उसकी बात न्यारी है। क्योंकि जिस मोक्षमार्गमें अरहंत भक्तिका निषेध है, वहां निरर्गल रागका

तो सहज ही निषेध हो जाता है। जो जीव अरहंत भक्ति के रागांश कर पुण्य भावको छोड़ता नहीं है उसके बन्ध पद्धतिका अभाव होता नहीं है। अरहंत भक्तिके रागसे बहुत प्रकार पुण्य कर्मोंको बांधता है, किन्तु वह जीव सकल कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता है। इस कारण मोक्ष-मार्गियोंको चाहिये कि अरहंत भक्तिके रागकी कणिका भी छोड़ें, क्योंकि यह परसमयका कारण है, मोक्षमार्ग का घात करनेवाली है, इस कारण अरहंत भक्तिका भी मोक्षमार्गमें निषेध किया है। जिस पुरुषके चित्तमें आत्मिक भाव रहित परभावोंमें अर्थात् अरहन्त भक्तिके भावोंमें राग की कणिका भी विद्यमान है, वह पुरुष समस्त सिद्धांत शास्त्रोंको जानता हुआ भी सर्वांग वीतराग शुद्ध स्वरूप स्वसमयको नहीं पाता है, इस कारण मोक्षमार्गियों को भी अपने शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति के लिये अरहंतादिककी भक्तिका राग क्रम से छोड़ना ही योग्य है। अरहन्तादिककी भक्ति भी प्रशस्त राग के विना नहीं होती है, और रागादिक भावकी प्रवृत्ति होती है, और जो बुद्धि का विस्तार नहीं होय तो वह आत्मा उस भक्तिको किसी प्रकार धारण करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि, बुद्धि के विना भक्ति नहीं है, तथा रागके विना भी भक्ति नहीं है। इस कारण इस जीव के रागादि गर्भित बुद्धिका विस्तार होता है, तब इसके अशुद्धोपयोग

होता है। उस अशुद्धोपयोग के कारण से शुभाशुभ आश्रव होता है, इसी कारण बन्ध पद्धति है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि शुभाशुभ गतिरूप संसारके विलास का कारण एक मात्र रागादि संक्लेशरूप विभाव परिणाम ही हैं।

जो पुरुष सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत सिद्धान्त का श्रद्धानी है, जिसने पंचमहाव्रत अंगीकार किये हैं, उत्कृष्ट तपको धारण करता है, घोर उपसर्ग को जीतनेवाला है, पंच-परमेष्ठी में अतिशय रुचि पूर्वक भक्ति करता है, उस भक्ति को मोक्षपद में सहायक मानता है उस पुरुषको सकल कर्म रहित मोक्षपद अतिशय दूर हो जाता है। क्योंकि जो अरहन्तादिक पंचपरमेष्ठीकी भक्ति है, वह मोक्षमार्ग में घात करनेवाली है, मोक्षमार्गमें अंतराय करने वाली है, ऐसा उसको श्रद्धान नहीं होने से मात्र संसार का ही भाजन है। यद्यपि विषयानुराग से रहित है तथापि प्रशस्तराग रूप परसमयकर संयुक्त है। उस प्रशस्त राग के संयोगसे नव पदार्थ तथा पंचपरमेष्ठी में भक्तिपूर्वक प्रतीति, श्रद्धा व रुचि उपजी है, ऐसे परसमय रूप प्रशस्त रागको वह छोड़ नहीं सकता, उस कारणहीं साक्षात् मोक्ष पदको नहीं पाता। जब ऐसा है तब उसकी गति किस प्रकार होती है? देवादि गतियोंमें संक्लेश परिणामोंको प्राप्त होता है। जो पुरुष निश्चय करके अरहन्तादिककी

भक्तिमें सावधान बुद्धि करता है और उत्कृष्ट इंद्रिय मनसे शोभायमान परम प्रधान अतिशय तीव्र तपस्या करता है, सो पुरुष उतनाही अरहन्तादिकी भक्ति व तपरूप प्रशस्त राग मात्र क्लेश कलंकित अंतरंग भावोंसे भावित चित्त होकर साक्षात् मोक्षको नहीं पाता, किंतु मोक्षके अंतराय करने वाले स्वर्गलोकको प्राप्त होता है। उस स्वर्ग में जीव सर्वथा अध्यात्म रसके अभावसे, इन्द्रियविषयरूप विष वृक्ष की वासना से, मोहित चित्त वृतिको धारता हुआ, बहुत काल पर्यंत सराग भाव रूप अंगारों से दह्यमान हुवा जलता हुवा बहुत ही खेदखिन्न होता है।

जो साक्षात् मोक्ष मार्गका कारण है सो वीतराग भाव है। अरहन्तादिकमें जो भक्ति है वा राग है वह स्वर्गलोकादिक के क्लेशकी प्राप्ति करके अंतरंगमें अतिशय दाहको उत्पन्न करे है। कैसा है ये धर्म राग ? कैसी है अरहंत भक्ति ? जैसे चंदन वृक्षमें लगी अग्नि पुरुषको जलाती है। यद्यपि चन्दन शीतल है, अग्नि की दाह को दूर करनेवाला है, तथापि चन्दनमें प्रविष्ट हुई अग्नि आतापको ही उपजाती है। इसी प्रकार धर्मराग, अरहन्त भक्ति, आत्माके सुखको जलानेवाली है। इस कारण धर्म राग भी छोड़ने योग्य, त्यागने योग्य जानना। जो कोई मोक्षका अभिलाषी महाजन है, सो प्रथम ही विषय रागका त्यागी होकर

बाद में पुण्य भाव को छोड कर, अत्यन्त वीतरागी होकर संसार समुद्र से पार जाता है। जो संसार समुद्र नाना प्रकारके सुख दुःख रूपी कल्लोलोंके द्वारा आकुल व्याकुल है। कर्म रूप बड़वाग्निकर बहुत ही भयको उपजानेवाला, अति दुस्तर है। वीतरागी ही ऐसे संसारके पार जाकर परम मुक्त अवस्थारूप अमृत समुद्रमें मग्न होकर तत्काल ही मोक्ष पदको पाते हैं। बहुत विस्तार कहाँतक किया जाय, जो साक्षात् मोक्ष मार्गका प्रधान कारण है, जो समस्त शास्त्रों का तात्पर्य है, ऐसा जो वीतराग भाव सो ही जयवन्त हो, जयवन्त हो।

मोक्षमार्गी जीवका स्वरूप

प्रथम ही जे जीव ज्ञान अवस्थामें रहनेवाले हैं वे तीर्थंकर कहाते हैं। तीर्थ साधन भाव जहां है, तीर्थफल शुद्ध सिद्ध अवस्था साध्य भाव हैं। तीर्थ क्या है सो दिखाते हैं।

जिन जीवोंके ऐसे विकल्प होते हैं कि यह वस्तु श्रद्धा करने योग्य है, यह वस्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है, श्रद्धा करनेवाला पुरुष ऐसा है, यह श्रद्धान है, इसका नाम अश्रद्धान है, यह वस्तु जानने योग्य है, यह स्वरूप का ज्ञाता है, यह ज्ञान है, यह अज्ञान है, यह आचरने योग्य है, यह वस्तु आचरने योग्य नहीं है, यह आचारमयी

भाव है, यह आचरण करनेवाला है, यह चारित्र है, इस प्रकारके करने न करनेके कर्ता कर्मके भेद उपजते हैं। उन विकल्पोंके होते हुए उन पुरुष तीर्थों के सुदृष्टिके बढ़ावसे वारम्वार इन पूर्वोक्त गुणोंके देखनेसे प्रगट उल्लास लिये उत्साह बढ़े हैं। जैसे द्वितीयाके चन्द्रमाकी कला बढ़ती जाती है, तैसे ही ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप मूल चन्द्रमाकी कलाओंका कर्त्तव्याकर्त्तव्य भेदोंसे उन जीवोंके बढवारी होती है। फिर उन जीवोंके क्रमक्रमसे मोहरूप महामल्लका मूल सत्तासे विनाश होता है। फिर भी एक कालमें अज्ञानताके आवेशसे प्रमादकी आधीनतासे उन्हीं जीवोंके आत्मधर्मकी शिथिलता है, फिर आत्माको न्याय मार्गमें चलाने के लिये आपको प्रचण्ड दण्ड देते हैं। शास्त्र न्यायसे फिर ये ही जिनमार्गी वारंवार जैसा कुछ रत्नत्रय में दोष लगा होय उसप्रकार प्रायश्चित करते हैं। फिर निरंतर उद्यमी रहकर अपनी आत्माको जो आत्म स्वरूपसे भिन्न स्वरूप श्रद्धान, ज्ञान, चारित्ररूप व्यवहार रत्नत्रयसे शुद्धता करते हैं। जैसे मलिन वस्त्रको धोबी भिन्न साध्य साधन भाव कर शिलाके ऊपर साबुन आदि सामग्रियोंसे उज्ज्वल करता है तैसेही व्यवहार नयका अवलम्बन पाय भिन्न साध्य साधन भावके द्वारा गुणस्थान चढने की परिपाटी के क्रमसे विशुद्धताको प्राप्त होता है। फिर उन्हीं मोक्षमार्ग

साधक जीवोंके निश्चनयकी मुख्यतासे भेद स्वरूप पर अवलंबी व्यवहारमयी भिन्न साध्य साधन भावका अभाव है। इस कारण अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप विषे सावधान होकर, अन्तरंगगुप्त अवस्था को धारण करते हैं। और जो समस्त बहिरङ्ग योगोंसे उत्पन्न है, क्रियाकाण्डका आडम्बर, तिनसे रहित, निरंतर संकल्प विकल्पों से रहित, परम चैतन्य भावोंके द्वारा सुन्दर, परिपूर्ण, आनन्दवंत, भगवान परम ब्रह्म आत्मामें स्थिरता को धरे हैं, ऐसे जे पुरुष हैं वेही निश्चयावलम्बी मोक्षमार्गी जीव हैं। व्यवहार नयसे अविरोधी क्रमसे परम समरसी भावके भोक्ता होते हैं तत्पश्चात् परम वीतराग पदको प्राप्त होकर साक्षात् मोक्षावस्था के अनुभवी होते हैं।

व्यवहाराभासीका स्वरूप

जो जीव केवल मात्र व्यवहार नयका ही अवलम्बन करते हैं, उन जीवों के परद्रव्य रूप भिन्न साधन साध्य भाव की दृष्टि है, अर्थात् पुण्य भाव से ही मोक्ष मानते हैं। स्वद्रव्य रूप अभेद साध्य साधन भावकी दृष्टि नहीं है, अकेले व्यवहार से खेद खिन्न हैं। अनेक प्रकार यतिका द्रव्यलिंग, जिन बहिरंग व्रत, तपस्यादि कर्मकाण्डों के द्वारा होता है उनका ही अवलम्बनकर स्वरूपसे भ्रष्ट हुआ है। मिथ्यात्व भावके कारण व्यवहार धर्मरागके अंशकर

किसी काल में पुण्य क्रिया में रुचि करता है, किसी कालमें दयावन्त होता है, किसी काल में अनेक विकल्पों को उपजाता है, किसी काल में कुछ आचरण करता है, किसी काल में दर्शन के आचरण में समता भाव धरता है। वहुत प्रकार विनय में प्रवर्तें है। शास्त्रकी भक्तिके निमित्त वहुत आरंभ भी करता है। भले प्रकार शास्त्रका मान करता है। चारित्र के धारण करने के लिये हिंसा, असत्य, चोरी, स्त्री सेवन और परिग्रह इन पांच अधर्मों का जो सर्वथा त्याग रूप पांच महाव्रत हैं तिनमें थिर वृत्ति को करता है। मन, वचन और कायका निरोध है जिनमें, ऐसी तीन गुप्तियों कर निरंतर योगावलम्बन करता है। ईर्या, भाषा, एषणा आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग जो पांच समिति हैं, उनमें सर्वथा प्रयत्न करता है। तपाचार के निमित्त अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान रस परित्याग, विविक्तशय्यासन. कायक्लेश इन छह प्रकार वाह्य तपमें निरंतर उत्साह करे है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान इन छह प्रकार के अतरंग तप के लिये चित्तको वश करे है। वीर्याचार के निमित्त कर्मकाण्ड में अपनी शक्तिसे प्रवर्तें है। कर्म चेतना की प्रधानता से सर्वथा निवारी है अशुभ कर्मकी प्रवृत्ति जिन्होंने वे ही शुभ कर्मकी प्रवृत्ति को

अंगीकार करते हैं। समस्त क्रिया काण्डके आडम्बरसे गर्भित ऐसे जे जीव हैं, ते ज्ञान दर्शन चारित्र गर्भित ज्ञान चेतनाको किसी कालमें भी नहीं पाते हैं। बहुत पुण्याचार के भार से गर्भित चित वृतिको धरते हैं, ऐसे जे केवल व्यवहारावलम्बी मिथ्यादृष्टि जीव स्वर्गलोकादिक क्लेशोंकी प्राप्तिकी परम्परा को अनुभव करते हुए परम ज्ञान कलाके अभाव से बहुत काल पर्यन्त संसार में परिभ्रमण करेंगे। कहा भी है कि—

'चरण करणप्पहाणा सुसमय परमत्थ मुक्कवावाराः।
चरण करणस्स सारं णिच्चय सुद्धं ण जाणंति ॥

निश्चयाभासी का स्वरूप

जो जीव केवल निश्चयनय के ही अवलंबी हैं, वे व्यवहारूप स्वसमयमयी क्रिया काण्डको आडंबर जान व्रतादिकमें विरागी होय रहे हैं। अर्द्ध उन्मीलित लोचन से उर्ध्वमुखी होकर स्वच्छंद वृत्ति को धारण करते हैं। कोई २ अपनी बुद्धि से ऐसा मानते हैं कि हम स्वरूपको अनुभवते हैं ऐसी समझसे सुखरूप प्रवर्तें हैं। भिन्न साध्य साधन रूप पुण्य भाव को अर्थात् व्यवहार को तो मानते नहीं, निश्चयरूप अभिन्न साध्य साधनको अर्थात् वीतराग भावको अपने में मानते हुए योंही बक रहे हैं। यथार्थ वस्तुको नहीं पाते हैं। न निश्चयको पाते हैं, न

व्यवहार पदको पाते हैं।"इतो भ्रष्टतो भ्रष्ट" होकर बीच में ही प्रमाद् रूपी मदिरा के प्रभावसे चित्तमें मतवाले हुये मूर्छितसे हो रहे हैं। जैसे कोई वहुत घी, मिश्री, दूध इत्यादि गरिष्ठ वस्तु के भोजन पान से स्थिर आलसी हो रहे हैं। अर्थात् अपनी उत्कृष्ट देहके वलसे जड होरहे हैं। महा भयानक भावसे जानोंकि मनकी भ्रष्टतासे मोहित विक्षिप्त हो गये हैं। चैतन्य भावसे रहित जानों कि वन-स्पति ही हैं, अर्थात् निगोद जैसे हैं। मुनि पदवी करने हारी कर्मचेतनाको पुण्य वन्धके भयसे अवलम्बन नहीं करते और परम निःकर्मदशारूप ज्ञान चेतनाको अंगीकार नहीं करते हैं।इसी कारण अतिशय पापरूप चंचल भावोंके धारी हैं। प्रगट अप्रगटरूप जो प्रमाद् हैं उनके आधीन हो रहे हैं। महा अशुद्धोपयोगसे आगामी कालमें कर्म फल चेतनासे प्रधान होते हुए वनस्पतिके समान जड़ हैं। केवल पाप ही के मात्र वांधनेवाले हैं। सो कहा भी है कि—

णिच्चयमालंवंता णिच्चयदो णिच्चयं अयाणंता।
णासंति चरणकरणं वाहरि चरणालसा केई ॥

उपसंहार—जो कोई पुरुष मोक्षके निमित्त सदाकाल उद्यमी हो रहे हैं वे महा भाग्यवान हैं। निश्चय, व्यवहार इन दोनों नयोमें किसी "एकका" पक्ष नहीं करते, सर्वथा माध्यस्थ भाव रखते हैं। शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्म तत्त्वमें

स्थिरता करने के लिये सावधान रहते हैं। जब प्रमाद भाव की प्रवृत्ति होती है तब उसको दूर करनेके लिये शास्त्राज्ञा-नुसार क्रियाकाण्ड परणतिरूप प्रायश्चित्त करके अत्यन्त उदासीन भाव धारण करते हैं। फिर यथाशक्ति आपको आपके द्वारा आपमें ही वेदे हैं। सदा निजस्वरूपके उप-योगी होते हैं, जो ऐसे अनेकान्तवादी साधक अवस्थाके धारण हारे जीव हैं वे अपने तत्त्वकी स्थिरता अनुकूल क्रम क्रमसे कर्मोंका नाश करते हैं। अत्यन्त ही प्रमादसे रहित होते अडोल अवस्थाको धरते हैं। ऐसा जानों कि वनमें वनस्पति है। दूर किया है कर्मफल चेतनाका अनुभव जिन्होंने तथा कर्मचेतना की अनुभूतिमें उत्साह रहित हैं, केवल मात्र 'ज्ञानचेतना' अनुभूति से आत्मिक सुखसे भरपूर हैं। शीघ्र ही संसार समुद्रसे पार होकर समस्त सिद्धान्तों के मूल शास्वत पदके भोक्ता होते हैं।